जनवरी-मार्च 2017
अंक 4   100 रुपये

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध और विमर्श का मंच

अक्टूबर क्रान्ति के शतवार्षिकी वर्ष के आरम्भ के अवसर पर

"जब क्रान्ति फूट पड़ी हो और चढ़ाव पर हो, जब सभी लोग क्रान्ति में शामिल हो रहे हों सिर्फ़ इसलिए कि वे उसमें बह गये हैं, क्योंकि यह चलन में है, और कभी-कभी करियरवादी मंशाओं से भी, उस समय क्रान्तिकारी होना मुश्किल नहीं होता। जब प्रत्यक्ष, खुले, वास्तव में व्यापक और वास्तव में क्रान्तिकारी संघर्ष की स्थितियाँ अभी अस्तित्व में न आयी हों, उस समय क्रान्तिकारी होना कहीं ज़्यादा मुश्किल – और कहीं ज़्यादा मूल्यवान – होता है।"

– लेनिन

("वामपन्थी" कम्युनिज़्म : एक बचकाना मर्ज़)

दिशा सन्धान

मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच

4

जनवरी-मार्च 2017

दिशा सन्धान
मार्क्सवादी सैद्धान्तिक शोध एवं विमर्श का मंच
जनवरी-मार्च 2017

सम्पादक
कात्यायनी/सत्यम

कला : **रामबाबू**

सम्पादकीय सम्पर्क :
69 ए-1, बाबा का पुरवा
पेपर मिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006
फ़ोन : 9936650658/8853093555

ईमेल : dishasandhaan@gmail.com

कम्पोज़िंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

प्रति अंक : 100 रुपये
वार्षिक सदस्यता : 400 रुपये (डाकख़र्च 160 रुपये)
आजीवन सदस्यता : 5000 रुपये

आवर्तिता : त्रैमासिक

कृपया अपना शुल्क **'दिशा सन्धान'** (Disha Sandhan) के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ़्ट/चेक से भिजवायें। बाहरी चेक में कृपया 50 रुपये बैंक शुल्क अतिरिक्त जोड़कर भेजें। मनीऑर्डर के साथ अपना पूरा पता लिखना न भूलें। आप नीचे दिये गये बैंक खाते में भी राशि जमा कर सकते हैं। राशि जमा करने के बाद हमें उसका ब्योरा और अपना पूरा पता ज़रूर बता दें।
चालू खाता सं. 076200219003644
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ,
आईएफ़एससी कोड : PUNB0076200

●

सम्पादन-संचालन पूर्णत: अवैतनिक और अव्यावसायिक

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ से प्रकाशित तथा क्रिएटिव प्रिंटर्स, 628/5-28, शक्तिनगर, लखनऊ द्वारा मुद्रित

इस अंक में

सम्पादकीय की एवज़ में

'रुग्ण लक्षणों' का यह समय और हमारे कार्यभार 5

आपकी बात **11**

विशेष लेख

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव : इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ **(चौथी किस्त)** — *अभिनव सिन्हा* 13

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन **(तीसरी किस्त)** — *दीपायन बोस* 101

समकालीन

माकपा के भीतर फ़ासीवाद पर बहस चुनावी जोड़-जुगाड़ के लिए सामाजिक जनवाद की बेशर्म क़वायद — *आनन्द सिंह* **115**

मोदी सरकार द्वारा नोटबन्दी का राजनीतिक अर्थशास्त्र — *शिशिर* **121**

मराठा मूक मोर्चों के पीछे मौजूद सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिकी : एक मूल्यांकन — *शिवार्थ* **131**

अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव - डोनाल्ड ट्रम्प की जीत
के निहितार्थ — *आनन्द सिंह* **143**

फ़िलीपींस में दुतेर्ते परिघटना और उसके निहितार्थ
— *तुहिन दास* **151**

'रुग्ण लक्षणों' का यह समय और हमारे कार्यभार

2017 की शुरुआत में हम 'दिशा सन्धान' के चौथे अंक के साथ आपके बीच उपस्थित हैं। पिछले तीन अंकों को देश भर में पाठकों से उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया मिली है। लेकिन समय पर पत्रिका उपलब्ध कराने की प्रतिबद्धता पर अभी तक हम अमल नहीं कर पाये हैं और बार-बार इसके लिए क्षमा माँगने की बजाय हम यह प्रतिबद्धता फिर से दोहरायेंगे कि पाँचवाँ अंक आपके पास वक़्त पर पहुँचा सकें। जिस समय हम आपके बीच चौथे अंक को लेकर आये हैं, उसके बारे में अन्तोनियो ग्राम्शी का यह कथन कमोबेश लागू किया जा सकता है, "संकट ठीक इस बात में अन्तर्निहित है कि जो पुराना है वह मर रहा है लेकिन नया जन्म नहीं ले पा रहा है; इस अन्तर्काल में तमाम किस्म के रुग्ण लक्षण जन्म लेते हैं।" कई मायनों में आज के समय के बारे में यह कथन सही बैठता है। विश्व पूँजीवाद अभूतपूर्व संकट में घिरा हुआ है जो कि पिछले लगभग एक दशक से जाने का नाम नहीं ले रहा है। यह दोहराने की आवश्यकता नहीं है आज का संकट कई मामलों में पुराने संकटों से भिन्न है। यह कहीं ज़्यादा गहरा संकट है और इस संकट के बाद किसी वास्तविक आर्थिक तेज़ी का दौर नहीं आने वाला है, जैसा कि पिछली सदी के पूर्वार्द्ध के आर्थिक संकटों के बाद हुआ था। यह अन्तकारी संरचनात्मक संकट है। इस संकट के राजनीतिक नतीजे पिछले कुछ वर्षों में ज़्यादा अभिव्यक्त रूप में सामने आने लगे हैं।

विश्व पैमाने पर ब्रेक्ज़िट, अमेरिका में ट्रम्प का चुनाव, यूरोप के तमाम देशों में धुर-दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया और अर्द्ध-फ़ासीवादी

राजनीति का उभार, सामाजिक-जनवाद और सुधारवाद की असफलता और उसका बेनक़ाब होना (मसलन, सिरिज़ा), फ़िलिप्पींस में दुतेर्ते का सत्ता में आना, मध्य-पूर्व में, विशेषकर सीरिया में उस बर्बरता की झलकें मिलना, जिसकी बात रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने की थी जब उन्होंने कहा था कि मानवता के पास दो ही रास्ते हैं, समाजवाद या बर्बरता, यह दिखला रहा है कि विश्व पूँजीवादी व्यवस्था आज किस स्थिति में है। वहीं भारत में फ़ासीवादी मोदी सरकार द्वारा जनता के जीने के हक़ों और नागरिक और जनवादी अधिकारों पर लगातार किये जा रहे हमले, लगातार मज़दूरों के अधिकारों को योजनाबद्ध तरीक़े से छीना जाना, स्वतन्त्र चिन्तन करने वाले रैडिकल व जनपक्षधर बुद्धिजीवियों पर हमले और उनके लिए एक सतत् आतंक का माहौल क़ायम करना, देश में अन्धराष्ट्रवाद का माहौल तैयार करना और हर प्रकार के राजनीतिक विरोध को राजकीय या ग़ैर-राजकीय तानाशाही द्वारा कुचला जाना वास्तव में व्यवस्था के राजनीतिक व आर्थिक संकट को ही दिखला रहा है। किसी भी सूरत में यह कहा जा सकता है कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने आर्थिक और राजनीतिक संकट में बुरी तरह घिरी हुई है और जनता के अधिकारों पर अपने हमलों को हताशा में बढ़ाती जा रही है।

अभूतपूर्व ढाँचागत आर्थिक संकट के कारण साम्राज्यवादी समीकरणों में परिवर्तन आ रहे हैं। एक ओर सीरिया में अलेप्पो में हार अमेरिकी साम्राज्यवादियों और उनके द्वारा पाले गये आईएस, अलनुसरा जैसी इस्लामिक कट्टरपन्थी ताक़तों की निर्णायक हार है। अगर द्वितीय इराक़ युद्ध से मध्य-पूर्व में अमेरिकी वर्चस्व की स्थिति को देखें तो दावे से कहा जा सकता है कि यह बहुत अच्छी स्थिति नहीं है। अमेरिका के विकल्प मध्य-पूर्व में लगातार घट रहे हैं। सऊदी अरब और क़तर को छोड़ दें तो अमेरिका के पास इस समय मध्य-पूर्व में ज़्यादा विकल्प नहीं हैं। यह सच है कि तुर्की उसे बीच-बीच में मध्य-पूर्व में मदद पहुँचाता रहा है, लेकिन उसके साथ भी अमेरिका के रिश्ते एर्दोआन के तख्तापलट के प्रयास के बाद से तनावपूर्ण हैं और तुर्की ने विदेश नीति में कहीं ज़्यादा स्वतन्त्र और स्वायत्त बर्ताव करना शुरू कर दिया है। द्वितीय इराक़ युद्ध में अमेरिका का मक़सद ही यही था कि सद्दाम हुसैन का तख्तापलट कर कोई ऐसा शासन लाया जाये जो कि मध्य-पूर्व में सऊदी अरब और क़तर जैसी राजशाहियों पर अमेरिकी निर्भरता को कम कर दे। लेकिन इराक़ युद्ध के अन्त में अमेरिका एक तो बहुत बेआबरू होकर वहाँ से रुख़सत हुआ और वह भी एक ऐसे शासन के सत्ता में आने के साथ जो कि अमेरिकी साम्राज्यवादी हितों की बजाय ईरान, सीरिया और हिज़बुल्ला से क़रीबी रखता था। नतीजतन, अमेरिका ने दूसरा प्रयास सीरिया में किया कि असद की सत्ता को गिराया जा सके। वह प्रयास भी रूस, ईरान और हिज़बुल्ला के साथ आने और साथ ही चीन द्वारा इस युद्ध में रूसी धुरी का पक्ष लिये जाने के कारण बेकार हो चुका है। यह सच है कि असद की सत्ता एक दमनकारी सत्ता थी, लेकिन फिर भी वह कई पुरानी बाथिस्ट नीतियों को लागू करता था जिसमें कि कई कल्याणकारी नीतियाँ थीं। इसके कारण जब अमेरिकी साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और अलनुसरा व आईएस जैसी ताक़तों ने सीरिया में युद्ध की शुरुआत की तो जनता का बड़ा हिस्सा असद शासन के साथ खड़ा हुआ। रूसी हस्तक्षेप के पीछे

निश्चित तौर पर रूसी साम्राज्यवाद के अपने हित हैं। लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं है कि रूस के प्रभावी हस्तक्षेप के समक्ष अमेरिका ज़्यादा कुछ नहीं कर पाया। सीरिया में 'नो फ़्लाई ज़ोन' बनाने, जिसका अर्थ होता रूस से सीधे युद्ध मोल लेना, के तमाम शोर के बावजूद अन्त में अमेरिकी साम्राज्यवाद को सीरिया में मुँह की खानी पड़ी और क़दम पीछे हटाने पड़े।

यह वस्तुगत और ऐतिहासिक तौर पर एक सकारात्मक है। आर्थिक और राजनीतिक संकट के कारण जब विश्व पूँजीवाद के साम्राज्यवादी समीकरणों में कोई बदलाव आता है, उसी समय क्रान्तिकारी हस्तक्षेप की सम्भावनाएँ भी जन्म लेती हैं। इस रूप में अमेरिकी साम्राज्यवाद की मध्यपूर्व में कमज़ोर होती पकड़ और रूसी-चीनी धुरी का मध्य-पूर्व में ज़्यादा 'एसर्टिव' होना और सीरिया, ईरान और हिज़बुल्ला से मिलकर अमेरिकी सऊदी-क़तर गठजोड़ के समक्ष एक चुनौती खड़ा करना आने वाले समय में तमाम सम्भावनाएँ पैदा कर सकता है, जिसके बारे में अभी दावे से कुछ कहा नहीं जा सकता, सिवाय इसके कि यह परिवर्तन वस्तुगत तौर पर सकारात्मक होगा। इसका क़तई यह अर्थ नहीं कि एक साम्राज्यवाद की जगह दूसरे साम्राज्यवाद को चुना जाये। इसका केवल एक अर्थ है कि बढ़ती साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा आने वाले समय में किसी क्रान्तिकारी 'इवेण्ट' की सुषुप्त सम्भावना-सम्पन्नताओं को जन्म दे सकता है। यह इतिहास में प्रगतिशील हस्तक्षेप के लिए एक 'स्पेस' तैयार कर सकता है। ठीक यही बात एक दूसरे सन्दर्भ में ट्रम्प के चुनाव के बारे में कही जा सकती है। सभी जानते हैं कि हिलेरी क्लिण्टन अमेरिकी कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद की आम सहमति से चुनी हुई प्रतिनिधि थी। यह भी सभी ने देखा कि पूरा का पूरा कॉरपोरेट मीडिया किस तरह से हिलेरी क्लिण्टन के पक्ष में जनता की राय का निर्माण करने का काम कर रहा था। लेकिन इसके बावजूद क्लिण्टन चुनाव हार गयी। इसको देखकर एक मायने में ख़ुशी ही हुई क्योंकि हिलेरी क्लिण्टन जितनी बेशर्मी, रुग्णता और नग्नता के साथ साम्राज्यवादी हमलों और क़त्ले-आम को सही ठहराती थी, जिस बेशर्मी से झूठ बोलती थी और जिस ढिठाई के साथ अपने इन कुकर्मों के बेनकाब होने के बाद भी अपने 'नियोकॉन' एजेण्डे पर काम जारी रखती थी, उसे देखकर किसी भी व्यक्ति को घृणा होगी। यह महान अमेरिकी पूँजीवादी जनवाद का चमत्कार ही कहा जायेगा कि हिलेरी क्लिण्टन के विकल्प के तौर पर उसने जनता के सामने एक धुर दक्षिणपन्थी, पैथोलॉजिकल तौर पर स्त्री विरोधी, प्रवासी विरोधी और अश्वेत विरोधी, श्वेत श्रेष्ठतावादी अर्द्धजोकर को रखा था, यानी डोनाल्ड ट्रम्प। इसमें कौन ज़्यादा बुरा है, यह बताना वाक़ई मुश्किल होगा। लेकिन इतना ज़रूर है कि अमेरिकी बड़े पूँजीपति वर्ग द्वारा चुना गया उम्मीदवार कॉरपोरेट मीडिया द्वारा उसके पक्ष में सतत् प्रचार के बावजूद हार गया। इसका कारण यह है कि संकट के दौर में पूँजीवादी व्यवस्था की वर्चस्व की मशीनरी और प्रणालियाँ सही तरीक़े से काम नहीं करतीं। ट्रम्प की जीत भी एक ऐसा 'इवेण्ट' है, जो कि प्रगतिशील ताक़तों के लिए अमेरिका में कुछ सुषुप्त सम्भावना-सम्पन्नताएँ पैदा करता है। निश्चित तौर पर, ट्रम्प की जीत के बाद अमेरिकी समाज में नस्लवादी शक्तियों की आक्रामकता स्वत:स्फूर्त रूप से बढ़ी है। वे आत्मविश्वास में हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि उनका उम्मीदवार जीत

गया है। लेकिन ट्रम्प की जीत के पीछे मात्र नस्लवाद और पुरुष श्रेष्ठतावाद नहीं खड़ा था, बल्कि उस श्वेत मज़दूर वर्ग का असन्तोष भी खड़ा था जो कि संकट के दौर में उस संरक्षणात्मक आवरण से वंचित होता जा रहा है, जो कि शीर्ष साम्राज्यवादी देश में रहने के कारण उसे मिला हुआ था। आर्थिक संकट के दौर में बुश व विशेषकर ओबामा प्रशासन के दौरान शिक्षा, चिकित्सा और सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में जो कल्याणकारी नीतियाँ अमेरिकी मज़दूर वर्ग के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को मिली हुई थीं, वे सब एक-एक करके छीनी जा रही थीं। एक युवा श्वेत अमेरिकी मज़दूर के लिए यह अभूतपूर्व था और उसे लगता था कि ऐसा कभी नहीं होगा। लेकिन यह सपना अब टूट रहा था। ऐसे में, एक असन्तुष्ट और मोहभंग का शिकार अमेरिकी मज़दूर वर्ग और निम्न मध्य वर्ग प्रकट हो चुका था जो कि डेमोक्रैट्स के बुर्जुआ उदारवादी जुमलों से ऊब चुका था। अमेरिकी वामपन्थी आन्दोलन इस असन्तोष और मोहभंग को प्रगतिशील दिशा देने की स्थिति में ही नहीं था। अमेरिकी वाम का बड़ा हिस्सा वैसे भी डेमोक्रैटिक पार्टी के "लेफ़्ट विंग" की भूमिका अदा करने से ज़्यादा औकात नहीं रखता है। क्रान्तिकारी वाम अपनी अलग कमज़ोरियों के कारण इस वर्ग में आधार बना पाने की स्थिति में नहीं था। ऐसे में, संकट द्वारा पैदा की गयी इस सम्भावना को एक रोगात्मक (पैथोलॉजिकल) तौर पर धुर दक्षिणपन्थी रिपब्लिकन नेता ने सहयोजित कर लिया, यानी डोनाल्ड ट्रम्प ने। डोनाल्ड ट्रम्प के लिए बहुत से लोग 'फ़ासीवादी' शब्द का इस्तेमाल करते हैं, जो कि उसी पुरानी बचकानी प्रवृत्ति का परिचायक है जो कि हर धुर दक्षिणपन्थी बुर्जुआ प्रतिक्रिया को फ़ासीवाद की संज्ञा देता है। ट्रम्प के पीछे कोई प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन, कोई सुनियोजित व सुगठित फ़ासीवादी विचारधारा या कोई फ़ासीवादी काडर आधारित संगठन नहीं है। ट्रम्प एक धुर दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी है जिसने आर्थिक संकट के दौर में पैदा हुए मोहभंग की लहर पर सवारी करते हुए चुनाव में जीत हासिल की है। आगे ट्रम्प को अमेरिकी बुर्जुआ वर्ग के हितों के अनुसार एक हद तक अनुशासित भी होना पड़ेगा, जिसके चिन्ह और लक्षण अभी से ही दिखने लगे हैं। साथ ही, ट्रम्प अपनी घरेलू नीति में ज़्यादा ग़ैर-जनवादी और रूढ़िवादी हो सकता है। लेकिन विदेश नीति में ट्रम्प कुछ मायनों में हिलेरी क्लिण्टन से अलग साबित हो सकता है, जिसके संकेत इस बात से मिलने लगे हैं कि वह रूस से कोई सीधा टकराव नहीं मोल लेना चाहता है। लेकिन साथ ही, हिलेरी क्लिण्टन के विपरीत, ट्रम्प ने इराक़ में दोबारा हस्तक्षेप करने की मंशा जताई है। आगे ट्रम्प क्या करेगा यह सही-सही बता पाना मुश्किल है क्योंकि अमेरिका बुर्जुआजी के लिए भी वह एक हद तक अज्ञात चर राशि है। लेकिन कुल मिलाकर यह ज़रूर कहा जा सकता है कि ट्रम्प के सत्ता में आने के साथ साम्राज्यवादी समीकरणों में बदलाव सुनिश्चित है। यह सम्भावित परिवर्तन एक बार फिर इतिहास के मौजूदा दौर में एक सम्भावना, एक 'स्पेस' को पैदा करेगा और इस रूप में सकारात्मक है कि यह पुरानी निरन्तरता और यथास्थिति के टूटने का एक लक्षण होगा।

हमारे देश में भी हालात तरल हैं और आने वाले समय की सम्भावनाओं की ओर इशारा कर रहे हैं। क्रान्तिकारी जमातों में हताशा के दौर में यह प्रवृत्ति होती है कि वे शासक वर्ग की ग़लतियों

के पीछे भी कोई गहरी युक्तिपूर्ण चाल और 'ग्रैण्ड ईविल डिज़ाइन' खोजने की कोशिश करते हैं। मोदी द्वारा नोटबन्दी के मामले में भी यह बात लागू होती है। यह स्पष्ट है कि नोटबन्दी का क़दम मूलत: एक आर्थिक नहीं बल्कि राजनीतिक क़दम था जिसमें कि मोदी को यह उम्मीद थी कि इस प्रकार के अचम्भित कर देने वाले और चौंका देने वाले क़दम से वह जनता का ध्यान अपनी नाकामियों से हटाकर अपनी एक मज़बूत नेता की छवि पर ले आयेगा जो साहसिक क़दम उठाने से घबराता नहीं है। 8 नवम्बर के तत्काल बाद मोदी का गुणगान करने वाले कॉरपोरेट मीडिया के अथक प्रयासों से कुछ समय के लिए ऐसा लग रहा था कि मोदी इसमें कामयाब हो सकता है। लेकिन यह पूरा क़दम इतनी मूर्खतापूर्ण तरीक़े से और बिना तैयारी के उठाया गया था कि एक माह बीतते-बीतते मोदी सरकार के प्रति असन्तोष बढ़ने लगा। यह सम्पादकीय टिप्पणी लिखे जाने के समय तक मोदी और भाजपा की प्रतिक्रियाओं में भी एक बदहवासी नज़र आने लगी है, जो कि उनके 'अनसेटल' होने को दिखला रही है। व्यापक जनता में यह स्पष्ट हो रहा है कि मोदी का क़दम जनविरोधी और विशेष तौर पर ग़रीब-विरोधी और मज़दूर-विरोधी है। इस स्थिति ने भारत में फ़ासीवाद-विरोधी मुहिम को सशक्त बनाने और मोदी सरकार और कॉरपोरेट पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध जनसमुदायों को जागृत, गोलबन्द और संगठित करने की एक सम्भावना पैदा की है।

अन्य देशों में भी दक्षिणपन्थी सत्ताओं के उभार और सामाजिक-जनवाद और सुधारवाद की असफलता और ग़द्दारी के सामने आने के साथ ऐसी सम्भावनाएँ पैदा हो रही हैं। लेकिन हमारे देश में और अन्य देशों में भी ये सम्भावना-सम्पन्नताएँ सुषुप्त रूप में मौजूद हैं और इनके किसी प्रगतिशील दिशा में वास्तवीकरण के लिए क्रान्तिकारी 'सब्जेक्टिविटी' के हस्तक्षेप की आवश्यकता है। क्रान्ति की मनोगत शक्तियों की स्थिति ज़्यादातर स्थानों पर संकटग्रस्त है। इस संकट के कारणों पर हम पहले के अंकों में चर्चा कर चुके हैं लेकिन यहाँ उनका हम संक्षेप में ज़िक्र करेंगे। इन कारणों में से प्रमुख हैं मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद के क्रान्तिकारी उसूलों की अनुपयुक्त समझदारी, क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट व मज़दूर आन्दोलन में अराजकतावादी-संघाधिपत्यवाद और विभिन्न प्रकार के ग़ैर-पार्टी क्रान्तिवाद का असर, रैडिकल व जनपक्षधर बौद्धिक हलक़ों के बीच उत्तर-मार्क्सवादी विचार-सरणियों का प्रभाव और क्रान्ति के कार्यक्रम के प्रश्न पर 'सेमी-फ़्यूडल सेमी-कलोनियल ऑर्थोडॉक्सी' (अर्द्धसामन्ती अर्द्धऔपनिवेशिक सैद्धान्तिकीकरण की कट्टरता और परम्परानिष्ठता) का असर और लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों पर समझौता करने की प्रवृत्ति। जहाँ तक हमें जानकारी है, अलग-अलग रूपों में ये सभी या इनमें से कुछ विजातीय प्रवृत्तियाँ लगभग उन सभी देशों के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन में मौजूद हैं जिन्हें आज के दौर में साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की 'कमज़ोर कड़ी' या 'हॉट स्पॉट्स टर्निंग इण्टू फ़्लैश पॉइण्ट्स' कहा जा सकता है। कुछ देशों में इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने वाली क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट धाराएँ हैं, मगर उनका प्रभाव और विस्तार अभी बेहद सीमित है।

ऐसी स्थिति में इस बात की भी गुंजाइश है कि मौजूदा आर्थिक और राजनीतिक संकट के कारण पैदा हुई सम्भावना-सम्पन्नताओं को प्रगतिशील रूप से वास्तवीकृत कर पाने में ये ताक़तें सफल

न हों या वक़्त रहते इसमें सक्षम न बन पायें। उस सूरत में, जैसा कि लेनिन ने कहा था, 'इतिहास कभी स्थिर नहीं खड़ा रहता', इस दौर में भी इतिहास स्थिर नहीं खड़ा रहेगा। ये सम्भावनाएँ बेकार जा सकती हैं और उस सूरत में इनका वास्तवीकरण प्रतिक्रियावादी और प्रतिक्रान्तिकारी तौर पर होगा। ऐसे में हम किसी और ज़्यादा प्रतिक्रियावादी दौर के साक्षी बनेंगे, जिसमें मज़दूर आन्दोलन पर और भी ज़्यादा बर्बर हमले कर उसका ध्वंस किया जायेगा, जनवादी और नागरिक अधिकारों का नग्नता से हनन किया जायेगा, साम्राज्यवादी युद्ध बर्बरता के नये रूपों को जन्म देगा और पूँजीवाद दुनिया को और समूची मानव सभ्यता को बर्बादी की कगार पर ले जायेगा। हम निश्चित तौर पर इस क्रान्तिकारी आशावाद के हामी हैं कि ऐसी स्थिति के पैदा होने से पहले दुनिया के उन तमाम देशों में क्रान्ति का ज्वार उठेगा जो साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के शोषण, उत्पीड़न, लूट और दमन का सबसे बुरी तरह से शिकार हैं। ग्राम्शी ने जब कहा था कि 'मैं बुद्धि से निराशावादी हूँ और इच्छाशक्ति से आशावादी" तो उनका अर्थ था कि दुनिया के विश्लेषण को करते समय हमें पूर्ण रूप से वस्तुपरक, मनोगतता से मुक्त, आवेगहीन होना चाहिए लेकिन इस विश्लेषण के तौर पर निकलने वाले नतीजों के आधार पर हमें मुश्किल और जटिल (असम्भव दिखने वाले) कार्यभारों को साहसिकता से हाथ में लेना चाहिए। आज भी इसकी ज़रूरत है, अन्यथा हम बुद्धि और तर्क के मामले में आशावादी और आज के दौर के मुश्किल और जटिल कार्यभारों का निर्वाह करने के मामले में निराशावादी सिद्ध होंगे।

आपकी बात

सोवियत इतिहास पर जारी लेख की तीसरी किश्त अभी पढ़कर ख़त्म की। पिछले 4 दिनों से इसी में लगा था। पिछले अंक में चार्ल्स बेतेलहाइम पर लिखने का ज़िक्र करके आपने मेरी उत्सुकता और बढ़ा दी थी। हिन्दी में तो बेतेलहाइम पर गम्भीर आलोचनात्मक सामग्री मेरी नज़र में नहीं के बराबर है, अंग्रेज़ी में भी मैंने उनके विचारों का ऐसा विस्तृत और सारगर्भित विवेचन कहीं नहीं देखा है। मेरे लिए बहुत सी बातें आँखें खोलने वाली हैं, या सटीक ढंग से कहूँ तो चीज़ों को देखने की एक नयी दृष्टि देने वाली हैं। आपने बिल्कुल ठीक लिखा है कि बेतेलहाइम की रचनाओं का दुनिया के माओवादी आन्दोलन में व्यापक प्रभाव है। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में मार्क्सवाद के गम्भीर अध्ययन के प्रति एक प्रकार का शत्रु भाव बना रहा है, और जो पढ़ते हैं उनमें से ज़्याादातर पल्लवग्राहिता से आगे नहीं जाते। कुछ लोग हो सकता है वाकई में गम्भीरता से पढ़ते हों लेकिन उनकी स्वान्त:सुखाय पढ़ाई से आन्दोलन या हम जैसे जिज्ञासुओं को तो कोई लाभ नहीं मिलता। अगले अध्यायों की आतुरता से प्रतीक्षा है। कहने की ज़रूरत नहीं कि सोवियत इतिहास की इस व्यापक और गहरी जाँच-पड़ताल से भावी समाजवादी क्रान्तियों के लिए बहुत ज़रूरी सबक़ निकलेंगे जिन पर गहरे सोच-विचार की ज़रूरत है। मुझे लगता है कि कम्युनिस्ट आन्दोलन की आज की समस्याओं को समझने के लिए भी इतिहास की इन समस्याओं पर गहन चिन्तन-मनन की ज़रूरत है। सम्पादकों से एक अनुरोध यह है कि इस प्रकार के लेखों के साथ यदि स्रोत सामग्री के सन्दर्भ भी उपलब्ध कराये जायें तो बहुत उपयोगी होगा।

— शरदेन्दु चौधरी, नई दिल्ली

'दिशा सन्धान' का तीसरा अंक मेरे हाथ कुछ दिन पहले लगा। इसके बाद मैंने आपकी वेबसाइट से पिछले अंकों के भी कई लेख पढ़े। बिला शक, ऐसी सीरियस और मौलिक मार्क्सवादी पत्रिका

की आज बहुत ज़रूरत है। 'वामपन्थी आन्दोलन के सामने कुछ विचारणीय प्रश्न' लेख में मैंने शायद पहली बार प्रो. रणधीर सिंह के विचारों की एक मार्क्सवादी आलोचना पढ़ी। बेशक उनके व्यक्तित्व और उनके काम का हम सब गहरा सम्मान करते हैं, लेकिन उनके बहुत से विचारों, ख़ासकर समाजवादी समाज की समस्याओं के उनके विश्लेषण में भारी समस्याएँ रही हैं। उनके विचारों का काफ़ी प्रभाव भी रहा है, नेपाल में माओवादी पार्टी के नेतृत्व के कुछ लोग तो उनसे बहुत ही ज़्यादा प्रभावित थे। मगर उनके विचारों के साथ कोई पॉलिमिक्स नहीं चली है। सोवियत समाजवाद पर लम्बी लेखमाला और तैयारी के साथ अध्ययन की माँग करती है। मगर तीनों कड़ियों के विषयों को देखकर मुझे यह कहने में कोई गुरेज़ नहीं कि इसे भारत में वाम बौद्धिक सर्किलों में ज़रूर पढ़ा जाना चाहिए और इस पर बहस होनी चाहिए। हालाँकि ऐसा होने के प्रति मैं बहुत आशावान नहीं हूँ।

— सन्त प्रकाश, मुम्बई

आपकी पत्रिका में नक्सलबाड़ी के इतिहास पर दोनों किश्तें मैं पढ़ चुका हूँ। इस अंक में मोदी की जीत पर रवि सिन्हा के लेख के बहाने फासीवाद विरोधी आन्दोलन पर की गयी विस्तृत चर्चा के अधिकांश बिन्दुओं से मैं सहमत हूँ। सही वैज्ञानिक समझ के बग़ैर फासीवाद से की गयी तमाम लड़ाइयों का हश्र हम पहले देख चुके हैं। आईएस व पश्चिम एशिया के संकट और कश्मीर पर शामिल आलेख भी बहुत तथ्यपूर्ण और विचारोत्तेजक हैं। यूनान में सीरिज़ा का विश्लेषण भी बिल्कुल कन्विंसिंग है, हालाँकि मेरे कई वाम मित्र उसके प्रशंसक हैं।

— ज़ेड. बर्नी, मुंगेर

सम्पादक द्वय से मेरा बस इतना निवेदन है कि इतनी महत्वपूर्ण पत्रिका में भाषा और शब्दों के मानकीकरण पर अगर ध्यान दे सकें तो बहुत अच्छा होगा। जैसे, चे ग्वेरा, एलेन बेज्यू, त्रात्स्की आदि नाम अलग-अलग ढंग से लिखे मिलते हैं। हिन्दी में विदेशी नामों, उच्चारणों को लेकर बहुत ढीला-ढाला रवैया रहा है। मार्क्सवादी शब्दावली के प्रति भी ऐसा ही रुख़ रहा है। अगर इधर भी आप लोग ध्यान दे सकें तो अच्छा होगा। आप लोगों से उम्मीद है, इसलिए यह अनुरोध कर रहा हूँ।

— केशव सेन

सोवियत संघ में समाजवादी प्रयोगों के अनुभव : इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएँ

● अभिनव सिन्हा

(चौथी किस्त)

अध्याय V.

दो क्रान्तियों के बीच

फ़रवरी क्रान्ति के बाद का दौर बेहद उथल-पुथल का दौर था। कहा जा सकता है कि इस दौर में कई वर्षों के परिवर्तन कुछ महीनों में हो गये, जैसा कि क्रान्तिकारी दौरों में हुआ करता है। पिछले अध्याय में हमने चर्चा की थी कि किस तरह सर्वहारा वर्ग ने राजनीतिक चेतना, संगठन और पहलक़दमी की कमी के चलते ज़ार का तख्ता पलटने के बाद सत्ता अपने हाथों में लेने की बजाय स्वेच्छा से उसे दूमा के हाथों सौंप दिया। लेनिन ने इस विषय में लिखा है कि लाखों की तादाद में मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश जनसमुदाय ज़ारशाही, साम्राज्यवादी युद्ध और आर्थिक विघटन के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था और वह राजनीतिक कार्रवाई में हिस्सा लेने लगा था। लेकिन रूस में आम मेहनतकश जनसमुदायों का बड़ा हिस्सा

टटपुँजिया आबादी का था। 40 प्रतिशत मज़दूर मोर्चे पर भेज दिये गये थे और सैन्य भर्ती से बचने के लिए कई छोटे मालिक, दुकानदार और दस्तकार कारख़ानों में काम करने लगे थे और मज़दूर आबादी में शामिल हो गये थे। सर्वहारा चेतना इनके लिए एक परायी चीज़ थी। यही कारण था कि सर्वहारा वर्ग का संगठन और चेतना फ़रवरी क्रान्ति के वक़्त इस स्थिति में नहीं थे कि सत्ता अपने हाथों में ले सकें। उन पर निम्न-पूँजीवादी विचारों का वर्चस्व बना हुआ था। लेनिन लिखते हैं :

''एक विराट निम्न पूँजीवादी लहर हर चीज़ पर छा गयी है। और उसने न सिर्फ़ तादाद से बल्कि विचारधारा से भी वर्ग-चेतन सर्वहारा को मोह लिया है। उसने मज़दूरों के बहुत बड़े हिस्से को निम्न-पूँजीवादी राजनीतिक दृष्टिकोण की छूत लगा दी है और उसके मन में यह दृष्टिकोण बिठा दिया है।'' (लेनिन, 2003, **'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास'** में उद्धृत, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ, पृ. 182)

इस वस्तुगत कारक के अलावा, इसके लिए काफ़ी हद तक सोवियतों में मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों का हावी होना भी ज़िम्मेदार था। बोल्शेविक उस समय तक सोवियतों में बहुमत में नहीं थे। फ़रवरी क्रान्ति में बुर्जुआ दूमा, मुख्यत: उस समय तक उदार, बुर्जुआ कैडेट पार्टी के हाथों में सत्ता जाने के बावजूद, फ़रवरी क्रान्ति ने एक ऐसी प्रक्रिया की शुरुआत कर दी थी, जिसे बुर्जुआ वर्ग भी अपने मनचाहे नियन्त्रण में नहीं रख सकता था। फ़रवरी क्रान्ति के दौरान जो सोवियतें अस्तित्व में आयीं, वे सोवियतें बुर्जुआ आरज़ी सरकार के गठन के बाद भंग नहीं हुईं बल्कि क़ायम रहीं। पेत्रोग्राद सोवियत की मान्यता मज़दूरों और सैनिकों में फ़रवरी क्रान्ति के बाद बनी बुर्जुआ आरज़ी सरकार से ज़्यादा थी और वे उसके फ़ैसलों को ज़्यादा मानते थे। नतीजतन, एक 'दोहरी सत्ता' अस्तित्व में आ चुकी थी। इस 'दोहरी सत्ता' के दबाव में बुर्जुआ आरज़ी सरकार को तमाम राजनीतिक कैदियों को छोड़ना पड़ा, जिसमें अधिकांश बोल्शेविक थे और साथ ही कुछ अन्य जनवादी व नागरिक अधिकारों को भी लागू करना पड़ा। आरज़ी सरकार द्वारा राजतन्त्र से समझौते के सारे प्रयास सोवियतों की आंशिक सत्ता के कारण ही असफल हो गये। साथ ही, आरज़ी सरकार विद्रोही सैनिकों व मज़दूरों से शस्त्र भी नहीं रखवा सकी, जो कि उन्होंने फ़रवरी क्रान्ति के दौरान पुलिस व अन्य सशस्त्र बलों से हथिया लिये थे।

इस 'दोहरी सत्ता' की विशिष्ट स्थिति को लेनिन ने समझा और उसके अनुसार बोल्शेविक पार्टी की कार्यदिशा प्रस्तावित की। ऐसा नहीं था कि लेनिन के साहसिक प्रस्तावों को पार्टी ने सहजता से स्वीकार कर लिया। मार्च में 'सुदूर से पत्र' और फिर अप्रैल में लेनिन द्वारा प्रस्तावित 'अप्रैल थीसीज़' वे प्रमुख लेखन हैं जिनमें हम लेनिन द्वारा हर दिन बदलती परिस्थितियों के द्वन्द्वात्मक मूल्यांकन को देख सकते हैं। ये वे प्रमुख रचनाएँ हैं जिनमें लेनिन फ़रवरी क्रान्ति के बाद हुए परिवर्तनों के अनुसार रूस की विशिष्ट परिस्थितियों में सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल को प्रतिपादित करते हैं।

इन रचनाओं ने पार्टी दायरों में तीखी बहसों की शुरुआत की। लेकिन हम फ़रवरी क्रान्ति से लेकर अक्टूबर क्रान्ति के पहले तक पार्टी के भीतर जारी विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष की चर्चा से पहले इस दौर में रूस में हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों का एक ब्यौरा पेश करना ज़रूरी समझते हैं ताकि उन विचारधारात्मक व राजनीतिक कार्यदिशाओं के संघर्ष के सन्दर्भ को समझा जा सके।

1. फ़रवरी से अक्टूबर तक की विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियाँ : अन्तरविरोधों का एक सन्धि-बिन्दु जिसने सर्वहारा वर्ग को इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में ला खड़ा किया

रूस में युद्ध के कारण जो आर्थिक विघटन पैदा हुआ था वह ज़ारशाही के दौर से ही जारी था। **मॉरिस डॉब** ने अपनी पुस्तक 'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917' में इस आर्थिक विघटन का विस्तृत चित्र उपस्थित करते हुए यह दिखलाया कि बुर्जुआ आरज़ी सरकार बनने के बाद इस आर्थिक विघटन पर क़ाबू पाने के लिए ऐसे कई क़दम उठाये गये, जो कि अन्य युद्धरत पूँजीवादी देशों में उठाये जा रहे थे। इन क़दमों को राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद के क़दम कहा जा सकता है। मिसाल के तौर पर, एक राजकीय बैंक की स्थापना, फ़सलों में व्यापार की इज़ारेदारी सरकार को देना, आदि। लेकिन बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामी वर्ग इन क़दमों को कामयाब नहीं होने दे रहा था और आरज़ी सरकार का जो वर्ग चरित्र था वह किसी भी सूरत में इन वर्गों के सीधे विपरीत नहीं जा सकती थी। नतीजतन, आरज़ी सरकार के बनने के बाद युद्ध में भागीदारी जारी रही और साथ ही आर्थिक विघटन की प्रक्रिया भी थमने की बजाय और ज़्यादा बढ़ी।

कई अनुभववादी व संशोधनवादी (सामाजिक-जनवादी के अर्थ में नहीं बल्कि संशोधनवादी इतिहास-लेखन के अर्थ में) इतिहासकारों ने ज़ार निकोलस द्वितीय की शासन के दौरान आर्थिक विघटन को रोकने के लिए उठाये गये क़दमों की विफलता के लिए कुछ अक्षम व्यक्तियों को ज़िम्मेदार ठहराया है, जो कि उस समय प्रमुख पदों पर थे। यह उस समय रूसी बुर्जुआ वर्ग की एक वर्ग के तौर पर ऐतिहासिक असफलता को समझने की बजाय एक व्यक्तिवादी (individualist) मूल्यांकन पेश करता है। ऐसे मूल्यांकन विशेष तौर पर रूसी क्रान्ति के अमेरिकी इतिहासकारों की रचनाओं में देखे जा सकते हैं। इनमें अग्रणी हैं **अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच**, जिनकी तीन रचनाएँ ('प्रिल्यूड टू दि रिवोल्यूशन', 'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर' और 'दि बोल्शेविक्स इन पावर') अपने विस्तृत दस्तावेज़ीय विश्लेषण के लिए पढ़ने योग्य हैं, हालाँकि उनकी रचनाओं में कई गम्भीर तथ्यात्मक ग़लतियाँ हैं। लेकिन उनके विश्लेषण की विचारधारा-अन्धता के बारे में जितना कम कहा जाये उतना अच्छा है। आइये उनके लेखन से ज़ारकालीन आर्थिक विघटन और राजनीतिक अराजकता के विश्लेषण का एक नमूना देखते हैं : **''वेर्दुन में और सोमने नदी पर हुए व्यर्थ रक्तपात से ब्रिटिश और फ़्रांसीसी सेनाओं का मनोबल भी उतना ही टूटा हुआ**

था। रूसी स्थिति को जिस चीज़ ने ज़्यादा त्रासद बना दिया था वह यह था कि मोर्चे पर गिरते मनोबल के साथ देश के भीतर राजनीतिक पक्षाघात और आर्थिक विघटन का पहलू मिश्रित हो गया था। रूस में कोई लॉयड जॉर्ज या क्लेमेंशो नहीं पैदा हुए जो कि पराजयवाद की बढ़ती भावना का गला घोंट पाते और जनता को एक निर्णायक राष्ट्रीय प्रयास के लिए तैयार कर पाते। याद किया जा सकता है कि 1914 में युद्ध की शुरुआत के समय रूसी जन भावना के बड़े हिस्से ने राजनीतिक विरोध का निषेध किया था और सरकार का वफ़ादारी से समर्थन किया था...अगर ऐसा ही था तो यह एक अवसर था जिसकी शुरू से उपेक्षा की गयी। हर जन पहलक़दमी की अभिव्यक्ति को विद्रोह के रूप में देखने की प्रवृत्ति के साथ निर्बल और अत्यधिक सठियाये हुए आई. एल. गोरेमाइकिन के तहत रूसी सरकार ने कई बेशक़ीमती प्रयासों को कुचलने में कोई कसर नहीं छोड़ी जैसे कि अखिल रूसी जेम्स्त्वो यूनियन और अखिल रूसी नगर यूनियन जिनका लक्ष्य था उद्योगों, शरणार्थी राहत कार्य, और चिकित्सीय सेवाओं के पुनर्संगठन के ज़रिये युद्ध प्रयास को आगे बढ़ाना।'' (अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच, 1991, **'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन : दि पेत्रोग्राद बोल्शेविक्स एण्ड दि जुलाई 1917 अपराइज़िंग'**, इण्डियाना यूनिवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन एण्ड इण्डियाना पोलिस, पृ. 20-21) हमने रैबिनोविच का यह लम्बा उद्धरण इसलिए प्रस्तुत किया ताकि इतिहास-लेखन की इस प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से चिन्हित किया जा सके, जिस पर बुर्जुआ प्रत्यक्षवाद, अनुभववाद और व्यक्तिवादी विश्लेषण का गहरा असर है। रैबिनोविच ढाँचागत कारकों को पकड़ने की बजाय 1916-17 के दौर को रूसी बुर्जुआ वर्ग के लिए एक 'गँवा दिये गये' मौक़े के तौर पर देखते हैं, विशेषकर युद्ध के मामले में। रैबिनोविच के अनुसार यदि कोई लॉयड जॉर्ज या क्लेमेंशो जैसा बुर्जुआजी का सक्षम प्रतिनिधि रूस में भी मौजूद होता तो शायद युद्ध का अच्छी तरह संचालन हो पाता, आर्थिक विघटन और राजनीतिक-सामाजिक अराजकता रोकी जा सकती और शायद क्रान्ति को भी रोका या कम-से-कम टाला जा सकता। लेकिन रूस के उदार बुर्जुआ वर्ग ने ऐसा कोई नायक ही नहीं पैदा किया! इस बारे में यही कहा जा सकता है कि रैबिनोविच नहीं समझते कि हर देश को वैसा ही बुर्जुआ वर्ग मिलता है, जिसका वह अधिकारी होता है! बहरहाल, हम रैबिनोविच के इतिहास-लेखन की एक विस्तृत आलोचना इस अध्याय के परिशिष्ट के रूप में देंगे। (देखें इस अध्याय का परिशिष्ट **'अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच का इतिहास-लेखन : अन्तर्दृष्टि की दृष्टिहीनता'** जो कि अगले अंक में प्रकाशित होगा) इसका कारण यह है कि रैबिनोविच के संशोधनवादी, प्रत्यक्षवादी, अनुभववादी और व्यक्तिवादी विश्लेषण को न सिर्फ़ बुर्जुआ अकादमिक दायरों में सराहा गया है, बल्कि कई त्रात्स्कीपन्थी भी रैबिनोविच के दीवाने हो गये हैं। इसका एक कारण यह है कि रैबिनोविच का इतिहास-लेखन त्रात्स्की को लेकर हमदर्दी से भरा हुआ है। लेकिन इसका दूसरा कारण स्वयं त्रात्स्कीपन्थ का टटपुँजिया वामपन्थी और अवसरवादी चरित्र है। बहरहाल, हम फ़िलहाल अपने ब्यौरे पर वापस लौटते हैं।

इस आर्थिक विघटन के कारण जनता पर जो असर पड़ रहा था, वह भयंकर था। खाद्य संकट

पैदा हो चुका था और कई इलाक़ों में अकाल जैसी स्थिति थी। 1917 की गर्मियाँ आते-आते रोटी की क़ीमत युद्धपूर्व स्तर से तीन गुना ज़्यादा हो चुकी थी। दुग्ध उत्पादों की क़ीमतें पाँच गुना और मांसाहारी खाद्य पदार्थों की क़ीमतें सात गुना बढ़ चुकी थीं। औद्योगिक उत्पादों और ईंधन की क़ीमत में तो और भी ज़्यादा बढ़ोत्तरी हुई थी। मौद्रिक मज़दूरी में हुई बढ़ोत्तरी केवल रोटी की क़ीमतों में बढ़ोत्तरी का मुक़ाबला कर सकती थी, लेकिन अन्य सभी उत्पादों की क़ीमतें मौद्रिक मज़दूरी से कहीं तेज़ रफ़्तार से बढ़ रही थीं। आरज़ी सरकार ने इस स्थिति से निपटने के लिए खाद्यान्न की क़ीमतों को नियन्त्रित करने का प्रयास किया। लेकिन इसके जवाब में किसानों ने एक प्रकार की बिक्री हड़ताल शुरू कर दी क्योंकि युद्ध प्रयासों के कारण औद्योगिक उत्पादन भयंकर विघटन का शिकार था और गाँव और शहर के बीच का विनिमय बुरी तरह से प्रभावित हुआ था। इसका नतीजा यह हुआ कि खाद्यान्न की राजकीय प्राप्ति में भारी गिरावट आयी। खाद्यान्न के राजकीय वितरण में विशेष तौर पर पेत्रोग्राद में लगभग 50 फ़ीसदी की गिरावट आयी। ये सारे कारक मज़दूरों, सैनिकों और किसानों के जनसमुदायों में असन्तोष को बढ़ाते जा रहे थे।

अक्टूबर के ठीक पहले तक रूस में परिवहन व्यवस्था पूरी तरह ढह गयी थी। नतीजतन, गाँवों और शहरों के बीच जो थोड़ा बहुत विनिमय हो रहा था वह भी समाप्त होने लगा और साथ ही मोर्चे पर रसद, गोला-बारूद और बन्दूक़ों आदि की आपूर्ति पर भी भयंकर असर पड़ा। मित्र देशों से जो हथियार मिल रहे थे उनका गोदियों पर ढेर लगता जा रहा था क्योंकि उनको मोर्चों तक पहुँचाने के लिए परिवहन के साधन ही नहीं थे। कोयला, लोहा जैसे बुनियादी औद्योगिक सामानों का उत्पादन 1917 में पिछले वर्ष के मुक़ाबले तेज़ी से घटा था। इनके आँकड़ों के लिए देखें **मॉरिस डॉब** की ऊपर उल्लिखित पुस्तक (मॉरिस डॉब, 1972, **'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917'**, रूटलेज एण्ड कीगनपॉल, लन्दन, पृ 73-74) सूती मिलें कच्चे माल के तुर्केस्तान से न आ पाने के कारण बन्द होने लगीं। उराल क्षेत्र में आधे कारख़ाने बन्द हो चुके थे। अक्टूबर आते-आते अपने मज़दूरों की माँगों के जवाब में उद्योगपति मॉस्को और पेत्रोग्राद में तालाबन्दी कर रहे थे। नतीजतन, मोर्चे पर आपूर्ति के लिए उत्पादन भी ज़रूरत की तुलना में मात्र 20 प्रतिशत रह गया था। इन स्थितियों में सैनिकों में भी असन्तोष बढ़ता जा रहा था क्योंकि उन्हें मोर्चे पर सारे साज़ो-सामान से लैस जर्मन सेना का मुक़ाबला बिना जूतों, बन्दूक़ों, तोपों और रसद के करना पड़ रहा था। स्पष्ट है, यह एक प्रकार से रूसी सैनिकों की साम्राज्यवादी युद्ध में बलि देने के समान था। उपरोक्त सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों ने वह सन्दर्भ पैदा किया था जिसमें बुर्जुआ आरज़ी सरकार के ख़िलाफ़ मज़दूरों और किसानों के जनसमुदायों में असन्तोष बढ़ते हुए सितम्बर तक इस मुक़ाम पर पहुँच गया था कि एक आम बग़ावत की स्थितियाँ और शर्तें तैयार हो गयी थीं। फ़रवरी से अक्टूबर के बीच आर्थिक विघटन को समझने के लिए हमारे विचार में अब भी मॉरिस डॉब की उपरोक्त उद्धृत रचना सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से एक है। इसके अलावा, ई.एच. कार का विवरण भी देखने योग्य है। अब हम इसी दौर में हो रहे कुछ राजनीतिक परिवर्तनों पर निगाह डालते हैं।

•

फ़रवरी क्रान्ति के बाद रूस में जो परिस्थिति पैदा हुई, उसे लेनिन ने 'दोहरी सत्ता' का नाम दिया। एक ओर मार्च के पहले सप्ताह में ज़ारकालीन दूमा के विरोध पक्ष ने आरज़ी सरकार का गठन किया, वहीं दूसरी ओर पेत्रोग्राद में कारख़ाना मज़दूरों व सैनिकों के प्रतिनिधियों ने पेत्रोग्राद सोवियत को संगठित किया। **अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच** ने इसका जीवन्त चित्रण पेश किया है। 26 फरवरी को दूमा की प्रमुख पार्टियों, विशेषकर कैडेट पार्टी, ने एक आरज़ी कमेटी का गठन किया जिसने ज़ार द्वारा दूमा को भंग किये जाने और विसर्जित होने के निर्देश को स्वीकार नहीं किया। इस अवहेलना का मुख्य कारण यह था कि मज़दूरों की बग़ावत और सैनिकों द्वारा उसके समर्थन ने पहले ही ज़ार की सत्ता को एक नाममात्र की सत्ता में तब्दील कर दिया था। 27 फरवरी को जेल से रिहा हुए समाजवादी मज़दूर नेताओं और दूमा में समाजवादी प्रतिनिधियों के नेतृत्व में तौरीद प्रासाद में पेत्रोग्राद सोवियत का गठन हुआ। (देखें, अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच, 1991, पृ. 27) पेत्रोग्राद सोवियत के गठन के बाद पहले बड़े शहरों में मज़दूरों ने अपनी सोवियतों का गठन किया और फिर छोटे शहरों और गाँवों में सोवियतों का गठन हुआ। इन सोवियतों ने मार्च 1917 में अपनी पहली अखिल रूसी सोवियत कॉन्फ्रेंस की, जिसमें कि मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी बहुमत में थे। यहाँ सोवियतों के उभार के आन्दोलन के बारे मे कुछ शब्द कहना ज़रूरी है।

चार्ल्स बेतेलहाइम ने सोवियत आन्दोलन के बारे में कुछ सन्तुलित प्रेक्षण रखे हैं। बेतेलहाइम का मानना है कि पेत्रोग्राद सोवियत में बोल्शेविकों का असर अप्रैल के बाद से ही बढ़ता जा रहा था। वास्तव में, समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेंशेविकों ने मार्च में अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन और फिर जून में अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस इसलिए की थी ताकि पेत्रोग्राद सोवियत के बढ़ते प्राधिकार को प्रतिसन्तुलित किया जा सके, हालाँकि वे ऐसा कर नहीं सके। बहरहाल, अक्टूबर क्रान्ति के ठीक एक दिन बाद शुरू हुई द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में भी बोल्शेविकों ने बहुमत हासिल कर लिया। पेत्रोग्राद और मॉस्को की सोवियतों में तो वे अगस्त के अन्त और सितम्बर के प्रारम्भ में ही बहुमत में आ चुके थे। कारख़ाना समितियों में वे शुरू से ही बहुमत में थे। बेतेलहाइम का किसान सोवियतों के बारे में मूल्यांकन भी सटीक है, हालाँकि किसान प्रश्न पर उनकी पूरी समझदारी से यह मूल्यांकन पूरी तरह मेल नहीं खाता है। बेतेलहाइम लिखते हैं कि किसान सोवियतों में राजनीतिक चेतना का स्तर बहुत निम्न था। इसका एक कारण इन सोवियतों का समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्व और गाँवों में किसानों की राजनीतिक चेतना को *मीर* (ग्राम समुदाय) की संरचना द्वारा कुन्द किया जाना था जो कि वास्तव में धनी किसानों का और कुलकों का एक उपकरण बन चुका था। **लेकिन एक दूसरा बुनियादी कारण किसान वर्ग चरित्र भी था।** यही कारण था कि मज़दूर सोवियतों ने न सिर्फ़ आर्थिक माँगों को पूरा करने का प्रश्न उठाया बल्कि उन्होंने सत्ता का राजनीतिक प्रश्न भी उठा दिया लेकिन किसान सोवियतें अन्त तक सत्ता के प्रश्न को नहीं उठा सकीं। वे भूमि के प्रश्न पर ही सीमित रहीं और उससे आगे

कभी नहीं सोच सकीं। इसमें किसान वर्ग चरित्र के पहलू की भूमिका हमारे विचार में समाजवादी-क्रान्तिकारी विचारधारात्मक व राजनीतिक नेतृत्व के पहलू से भी ज़्यादा अहम है क्योंकि अप्रैल के बाद से किसान सोवियतें व भूमि समितियाँ समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के संविधान सभा का इन्तज़ार करने के निर्देशों को भी नहीं मान रही थीं और भूमि क़ब्ज़ा आन्दोलन को आगे बढ़ा रही थीं। लिहाज़ा, किसान सोवियतों का बर्ताव केवल इस बात से तय नहीं हो रहा था कि उनके नेतृत्व में कौन सी राजनीतिक शक्ति है, बल्कि किसानों के वर्ग चरित्र से भी तय हो रहा था। **बेतेलहाइम का यह प्रेक्षण भी बिल्कुल सटीक है कि यदि सर्वहारा आन्दोलन ने किसानों के आन्दोलन को अपने साथ जोड़ा न होता तो किसानों का आन्दोलन कभी सफल नहीं होता और आरज़ी सरकार उसे कुचलने में कामयाब हो जाती।** यह बोल्शेविकों की गाँवों में कमज़ोर राजनीतिक स्थिति और प्रभाव था जिसकी वजह से बोल्शेविक समाजवादी क्रान्ति भूमि के प्रश्न पर रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम से आगे नहीं जा पायी। वस्तुगत तौर पर, किसानों के भूमि क़ब्ज़ा आन्दोलन ने बोल्शेविक क्रान्ति के लिए एक अनुकूल सन्दर्भ तैयार किया। इस रूप में, बेतेलहाइम आंशिक तौर पर सही हैं और वे किसान सोवियतों के टटपुँजिया वर्ग चरित्र की सही पहचान करते हैं, हालाँकि जब वे अक्टूबर क्रान्ति के बाद किसान प्रश्न और बोल्शेविक पार्टी द्वारा इस प्रश्न के समाधान के प्रयासों की बात करते हैं कि तो वे ही मँझोली व खाती-पीती किसान आबादी के नैसर्गिक टटपुँजिया वर्ग चरित्र की बात भूल जाते हैं और क्रान्तिकारी जनदिशा के नाम पर 'किसानवादी' अवस्थिति से बोल्शेविक पार्टी की आलोचना पेश करते हैं, जिसकी आलोचना हम बेतेलहाइम और उनके रचना कर्म का मूल्यांकन करते समय कर चुके हैं। (देखें, अध्याय 4 का परिशिष्ट 'चार्ल्स बेतेलहाइम का मार्क्सवाद : माओ से ज़्यादा "माओवादी" बनने के प्रयास में मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद को तिलांजलि', **दिशा सन्धान**, अक्टूबर-दिसम्बर, 2015, अंक 3, पृ. 13-202)

बेतेलहाइम के मूल्यांकन में यहाँ एक त्रात्स्कीपन्थी प्रभाव को भी आंशिक तौर पर देखा जा सकता है। वह कहते हैं कि किसान आन्दोलन रूस में रैडिकल बुर्जुआ वर्ग की अनुपस्थिति या कमज़ोरी के कारण सर्वहारा वर्ग का *अचेतन समर्थक* बन गया। त्रात्स्की का लेनिन से इसी बात पर मतभेद था कि लेनिन का मानना था कि सर्वहारा आन्दोलन को किसानों के समर्थन को और मुख्यत: ग़रीब किसानों के समर्थन को सचेतन तौर पर जीतना होगा, जबकि त्रात्स्की का मानना था किसान आन्दोलन एक अज्ञात चर राशि है जो राजनीतिक अचेतनता के साथ क्रान्ति या प्रतिक्रान्ति के साथ जा सकता है। इतिहास ने दिखलाया कि किसान आन्दोलन राजनीतिक अचेतनता के साथ बोल्शेविकों के साथ नहीं आया बल्कि इस राजनीतिक चेतना से लैस होने के चलते ही बोल्शेविकों के साथ आया कि भूमि के प्रश्न को रैडिकल तरीक़े से बोल्शेविक ही हल करेंगे, हालाँकि वह भूमि कार्यक्रम समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी का था जिसे वह स्वयं रैडिकल तरीक़े से अमल में लाने को तैयार नहीं थी।

बहरहाल, मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में पेत्रोग्राद सोवियत ने स्वेच्छा

से राजनीतिक सत्ता दूमा के विपक्ष को हस्तान्तरित कर दी। पहली आरज़ी सरकार में कैडेट पार्टी (संवैधानिक जनवादी पार्टी, जो कि 1905 की क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आयी थी और मुख्यत: रूस के उदार बुर्जुआ वर्ग की प्रमुख पार्टी थी, हालाँकि 60 प्रतिशत कैडेट कुलीन घरानों से आते थे और क्रान्तिकारी जनज्वार के समक्ष यह पार्टी अधिक से अधिक प्रतिक्रियावादी बनती गयी) का प्रभुत्व था और पाँच प्रमुख मन्त्रालय उनके हाथों में थे। वहीं पेत्रोग्राद सोवियत में अभी प्रमुख नेतृत्वकारी शक्ति मेंशेविक थे। इसीलिए पेत्रोग्राद सोवियत के पहले अध्यक्ष के तौर पर मेंशेविक नेता चखीद्ज़े को चुना गया था। मेंशेविक व गौण रूप से समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्व के कारण ही पेत्रोग्राद सोवियत ने, लेनिन के शब्दों में, "स्वेच्छा से राजनीतिक सत्ता को बुर्जुआ आरज़ी सरकार को सौंप दिया।" दूमा के बुर्जुआ नेतृत्व ने मूलत: ज़ार निकोलस द्वितीय को हटाकर उसके भाई माईकेल रोमानोव को सत्ता में बिठाने की योजना बनायी थी जो कि रूसी बुर्जुआ वर्ग से ज़्यादा नज़दीकी रखता था। लेकिन फ़रवरी के जनविद्रोह ने स्पष्ट कर दिया था कि उदार बुर्जुआ वर्ग का यह प्रयास सफल होना मुश्किल है।

अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच इसे कैडेट पार्टी द्वारा निरन्तरता के तत्व को बनाये रखने का प्रयास बताते हैं, जो कि कैडेट पार्टी के रूढ़िवाद को बेहतर रोशनी में पेश करने का प्रयास करता है। लेकिन वस्तुगत तौर पर वह एक सही प्रेक्षण पेश करते हैं, "शुरुआत में कुछ दूमा के उदारवादी, जिसमें कि कैडेट नेता पॉल मिल्यूकोव शामिल थे, ने उम्मीद की कि अतीत से कुछ निरन्तरता बनाये रखी जाये और एक लोकप्रिय रूप से चुनी सरकार के साथ एक संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना की जाये, लेकिन क्रान्ति पहले ही इस मंज़िल से आगे जा चुकी थी।" (रैबिनोविच,1991, **'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन'**, पृ. 28)

युद्ध में लगातार पराजयों ने यह स्पष्ट कर दिया था कि ज़ारशाही रूसी बुर्जुआ वर्ग के हितों के मुताबिक़ युद्ध का संचालन नहीं कर सकती है। यही कारण था कि बुर्जुआ वर्ग भी ज़ार के ख़िलाफ़ हो गया था। बुर्जुआ वर्ग रैडिकल तरीक़े से राजतन्त्र को ख़त्म करने की बजाय दूमा की शक्तियों को बढ़ाने और माईकेल रोमानोव को गद्दी पर बिठाना चाहता था। लेकिन बुर्जुआ वर्ग की योजनाएँ अमल में आ पातीं, इससे पहले ही एक जनविद्रोह ने ज़ार की सत्ता पलट दी और राजतन्त्र से किसी भी प्रकार के समझौते की सम्भावना को समाप्त कर दिया। लेकिन फ़रवरी क्रान्ति के दौरान अस्तित्व में आयी मज़दूरों व सैनिकों के प्रतिनिधियों की पेत्रोग्राद सोवियत ने मेंशेविक नेतृत्व के कारण सत्ता स्वयं अपने हाथों में नहीं ली बल्कि उसे बुर्जुआ आरज़ी सरकार के हाथों में सौंप दिया। रैबिनोविच का मूल्यांकन सही है कि मेंशेविक नेतृत्व में सोवियत ने क्रान्ति का नेतृत्व अपने हाथ में लेने की बजाय क्रान्ति का रखवाला बनने की भूमिका चुनी। इसका कारण जनवादी क्रान्ति के स्वरूप को लेकर मेंशेविकों और "क़ानूनी मार्क्सवादियों" की पूरी समझदारी थी।

जैसा कि हमने पिछले अध्याय में रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में जारी राजनीतिक संघर्ष पर चर्चा करते समय बताया था, जनवादी क्रान्ति के स्वरूप को लेकर मेंशेविकों और बोल्शेविकों में बुनियादी फ़र्क़ यह था कि मेंशेविकों का मानना था कि जनवादी क्रान्ति का

नेतृत्व बुर्जुआ वर्ग के हाथों में रहेगा और सर्वहारा वर्ग की भूमिका एक ऐसे विपक्ष की होगी जो कि बुर्जुआ वर्ग पर जनवादी क्रान्ति के कार्यभार पूरे करने के लिए दबाव बनायेगा। सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति के कार्यभार को अपने नेतृत्व में सम्पन्न नहीं कर सकता और ऐसा करना जनवादी क्रान्ति के चरण को लाँघने के समान होगा। बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में सम्पन्न जनवादी क्रान्ति के बाद सर्वहारा वर्ग को दीर्घकाल तक पूँजीवादी व्यवस्था के तहत शिक्षित-प्रशिक्षित होना होगा और उसके बाद ही वह समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न करने के बारे में सोच सकता है क्योंकि तभी उसका आकार और उसकी चेतना इस लायक हो सकेगी।

चार्ल्स बेतेलहाइम ने अपनी पुस्तक 'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर' के पहले खण्ड में लिखा है कि मेंशेविक मानते थे कि सोवियतें सत्ता का निकाय नहीं बन सकतीं क्योंकि उसमें किसानों और बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा शामिल नहीं था और उन्हें "क्रान्तिकारी संघर्ष" और प्रचार के मंच की भूमिका निभानी चाहिए (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फ़र्स्ट पीरियड : 1917-23'**, दि हार्वेस्टर प्रेस लि., ससेक्स, पृ. 73)। लेकिन यह बात पूरी तरह सही नहीं है। मेंशेविकों द्वारा सोवियतों को राज्यसत्ता का निकाय बनाने का मुख्य विरोध जनवादी क्रान्ति को लेकर उनकी समझदारी से पैदा होता था, जिसके अनुसार जनवादी क्रान्ति और फिर पूँजीवाद के दीर्घकालिक विकास की मंज़िल में सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसान आबादी नेतृत्व की भूमिका में नहीं रह सकती और नेतृत्व बुर्जुआ वर्ग के हाथ में ही रहेगा। यही कारण था कि पेत्रोग्राद सोवियत और दूमा के विपक्ष के बीच समझौते के फलस्वरूप बुर्जुआ आरज़ी सरकार का गठन हुआ था और सोवियतों को क्रान्तिकारी विरोध की भूमिका तक सीमित कर दिया गया था, हालाँकि व्यवहारत: ऐसा हुआ नहीं और सोवियतें राज्यसत्ता के निकाय के रूप में उभरने लगीं।

फ़रवरी क्रान्ति के पहले लेनिन का भी मानना था कि रूस अभी जनवादी क्रान्ति की मंज़िल में है लेकिन उनका मानना था कि रूसी बुर्जुआ वर्ग जनवादी क्रान्ति को रैडिकल तरीक़े से मुक़ाम पर नहीं पहुँचा सकता है। **फ़रवरी क्रान्ति के साथ और बुर्जुआ आरज़ी सरकार के अस्तित्व में आने के साथ जनवादी क्रान्ति का कार्यभार मूल रूप से पूरा हो गया है क्योंकि राज्यसत्ता का प्रश्न मुख्यत: और मूलत: हल हो गया है, हालाँकि आरज़ी बुर्जुआ सरकार जनवादी क्रान्ति के समस्त कार्यभारों को, विशेष तौर पर भूमि सुधार के कार्यभारों को और साथ ही मज़दूर वर्ग के जनवादी अधिकारों को पूरा करने के कार्यभारों को रैडिकल तौर पर सम्पन्न नहीं कर सकती है; युद्ध और सोवियत सत्ता के रूप में मज़दूरों और किसानों की क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही के *सम्भावना-सम्पन्न रूप में* अस्तित्व में आने की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण बुर्जुआ वर्ग और उसकी आरज़ी सरकार भयाक्रान्त होकर प्रतिक्रियावादी वर्गों की शरण लेगी और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का भी गला घोंट देगी। इसलिए लेनिन का मानना था कि फ़रवरी क्रान्ति में मज़दूर वर्ग को नेतृत्व अपने हाथों में लेना चाहिए था और पूरे किसान वर्ग को साथ लेकर बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति**

के कार्यभारों को क्रान्तिकारी और रैडिकल तरीक़े से पूरा करना चाहिए था और उसके बाद, बिना रुके, गाँवों के मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसान आबादी यानी कि अर्द्धसर्वहारा वर्ग को साथ लेकर समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ना चाहिए था। पहले 'सुदूर से पत्र' और 'अप्रैल थीसीज़' और उसके बाद अप्रैल से लेकर सितम्बर तक के लेनिन के लेखन में इन विचारों को मूर्त रूप ग्रहण करते हुए देखा जा सकता है। जनवादी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसानों की नेतृत्वकारी भूमिका के बारे में वे बारह वर्ष पहले ही लिख चुके थे।

बहरहाल, ऐसा नहीं हो सका और सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्ति में नेतृत्व में नहीं आ पाया, जिसके कई कारण थे। पहला कारण तो यह था कि पेत्रोग्राद सोवियत में बोल्शेविक पार्टी बहुमत में नहीं थी। पेत्रोग्राद सोवियत जो कि *लगभग* स्वत:स्फूर्त रूप से जनता की क्रान्तिकारी पहलक़दमी से अस्तित्व में आयी थी, मेंशेविकों के नियन्त्रण में थी, हालाँकि शहरी कारख़ाना मज़दूरों का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा बोल्शेविकों के पक्ष में भी था। साथ ही समाजवादी-क्रान्तिकारियों को भी सोवियतों में अच्छा-ख़ासा प्रतिनिधित्व मिला हुआ था। किसान सोवियतों में तो वे बहुमत में थे। लुब्बेलुबाब यह कि सोवियत सत्ता जो कि आरज़ी सरकार के समानान्तर सत्ता के तौर पर अस्तित्व में आयी थी, वह बोल्शेविकों के नेतृत्व में नहीं थी। **दूसरे शब्दों में, सर्वहारा राजनीति और विचारधारा सोवियतों में अभी वर्चस्वकारी स्थिति में नहीं थे।** यही कारण था कि पेत्रोग्राद सोवियत ने मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के टटपुँजिया नेतृत्व में फ़रवरी क्रान्ति में सत्ता अपने हाथों में लेने की बजाय, स्वेच्छा से उसे कैडेट पार्टी-नीत बुर्जुआ आरज़ी सरकार के हाथों में सौंप दिया, जो कि मूलत: एक पूँजीपति वर्ग और कुलक व युंकर भूस्वामी वर्ग की नुमाइन्दगी करती थी।

पेत्रोग्राद सोवियत द्वारा राजनीतिक सत्ता को बुर्जुआ आरज़ी सरकार के हाथों सौंपे जाने के बावजूद मज़दूरों और सैनिकों के बीच पेत्रोग्राद सोवियत मान्य और वास्तविक सत्ता बनने लगी थी। **रैबिनोविच** इस विषय में लिखते हैं, **"हालाँकि 2 मार्च को स्थापित की गयी आरज़ी सरकार को सोवियत का औपचारिक समर्थन प्राप्त था, लेकिन वस्तुत: पेत्रोग्राद की ज़्यादा रैडिकल रुझान रखने वाली कार्यकारी समिति अपने संघटक तत्वों से सतत दबाव में आरज़ी सरकार के मसलों पर एक रखवाली करने वाले निकाय की भूमिका निभाती थी। यह व्यवस्था अस्थायी थी क्योंकि ल्वोव कैबीनेट को केवल औपचारिक सरकार के तौर पर मान्यता प्राप्त थी, जबकि सोवियत, हालाँकि वह स्वयं अपने हाथों में शक्ति लेने में झिझक रही थी, उस भरोसे के कारण कहीं ज़्यादा अन्तर से एक अधिक शक्तिशाली ताक़त थी जो कि उसमें औद्योगिक मज़दूरों और सशस्त्र बलों के राजनीतिक रूप में से सचेत हिस्सों ने जताया था।"** (रैबिनोविच, 1991, पृ. 31) अधिक से अधिक मज़दूर और मोर्चे से लौटने वाले सैनिक आरज़ी सरकार के प्रति असन्तोष और गुस्से से भरते जा रहे थे और पेत्रोग्राद सोवियत को ही वे अपनी राजनीतिक सत्ता मान रहे थे। इसका कारण यह था कि कुछ शुरुआती जनवादी सुधार करने (जैसे कि सभी राजनीतिक बन्दियों को छोड़ना, मृत्युदण्ड का

उन्मूलन करना, प्रेस व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को औपचारिक तौर पर लागू करना, आदि) के अतिरिक्त बुर्जुआ आरज़ी सरकार ने मज़दूरों और किसानों की बुनियादी और सबसे अहम माँगों पर टाल-मटोल करने का रुख़ अपनाया था। ये माँगें थीं शान्ति, रोटी और ज़मीन की माँग। साथ ही, जो जनवादी सुधार उसे तत्काल करने पड़े उसका भी असली कारण मज़दूर और सैनिकों की सोवियतों का दबाव था। फ़रवरी क्रान्ति के बाद मज़दूरों और सैनिकों को आरज़ी सरकार निरस्त्र नहीं कर सकी थी और जनसमुदाय अभी भी हथियारबन्द थे। इसके कारण पेत्रोग्राद सोवियत की समानान्तर सत्ता केवल औपचारिक नहीं थी, बल्कि वास्तविक थी। उसके द्वारा डाले गये दबाव के कारण ही आरज़ी सरकार को कुछ जनवादी व नागरिक अधिकारों को पूरा करना पड़ा। लेकिन जनता की मूल माँग थी - युद्ध का ख़ात्मा और शान्ति, रोटी और ज़मीन। आरज़ी सरकार ने सत्ता में आने के बाद साम्राज्यवादी युद्ध से रूस की भागीदारी समाप्त नहीं की और कुछ हफ़्तों बाद ही मित्र शक्तियों से किये गये वायदों को पूरा करने की बात करने लगी। उसने जनता के बीच भी "राष्ट्रीय रक्षा" की कार्यदिशा को हावी कराने का प्रयास किया। फ़रवरी क्रान्ति के ठीक बाद के दौर में कुछ समय तक किसानों, मध्य वर्ग और मज़दूरों के भी एक हिस्से में इसी "राष्ट्रीय रक्षा" की सोच का असर भी था।

भूमि के प्रश्न पर आरज़ी सरकार ने यह कहकर टाल-मटोल शुरू किया कि यह एक ऐसा अहम मसला है जिस पर संविधान सभा बुलाये जाने के बाद ही फ़ैसला हो सकता है। तात्कालिक तौर पर, कैडेट पार्टी-नीत सरकार ने गाँवों में **भूमि समितियों** के गठन का निर्णय लिया। लेकिन इन भूमि समितियों के पास करने को कुछ ख़ास नहीं था और उन पर कुलकों का नियन्त्रण ज़्यादा था। वास्तव में मूलत: इनका मुख्य कार्य था कि बढ़ते किसान असन्तोष और छिटपुट विद्रोहों पर क़ाबू पाया जाये। मोर्चे पर मिल रही लगातार हार के कारण साम्राज्यवादी युद्ध को ख़त्म करने की माँग ज़ोर पकड़ती जा रही थी। जो सैनिक मोर्चे से लौट रहे थे, वे वास्तव में किसानों के ही बेटे थे। उनके लौटने के साथ गाँवों में ज़मीन और शान्ति की माँग विकराल रूप में भड़कने लगी थी। कैडेट पार्टी-नीत सरकार द्वारा गठित भूमि समितियों पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने क़ब्ज़ा कर लिया। उनकी माँग ज़मीन के राष्ट्रीकरण और बँटवारे की थी। **लेकिन वे केवल भूस्वामियों की ज़मीन की ज़ब्ती की बात कर रहे थे और धनी व खाते-पीते किसानों की ज़मीन की ज़ब्ती और बँटवारे की बात नहीं कर रहे थे। कैडेट पार्टी का भूमि कार्यक्रम और भी प्रतिक्रियावादी था। यह बड़े युंकरों की ज़मीन ज़ब्ती के बदले उन्हें मुआवज़ा देने की बात करता था। किसान इसके ख़िलाफ़ थे। बोल्शेविक बड़ी जागीरों को ज़ब्त करने के साथ-साथ धनी किसानों की ज़मीनों को भी ज़ब्त करने और फिर जनवादी बँटवारे की माँग कर रहे थे।** आगे बोल्शेविकों ने समाजवादी-क्रान्तिकारियों के भूमि कार्यक्रम को क्रान्ति के ठीक पहले ज्यों का त्यों अपना लिया। इसके कई कारण थे।

एक कारण तो यह था कि किसान आबादी में पूँजीवादी विकास के तौर पर आर्थिक तौर पर वर्ग विभाजन काफ़ी आगे बढ़ चुका था लेकिन राजनीतिक तौर पर अभी गाँवों में ग़रीब, निम्न

मँझोले, मँझोले और धनी किसानों के बीच विभाजन नहीं हुआ था। दूसरा कारण जो कि पहले कारण से जुड़ा हुआ है वह यह था कि गाँवों में बोल्शेविक पार्टी का राजनीतिक आधार केवल नाममात्र का ही था। गाँवों में समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी का आधार सबसे ज़्यादा था और यही कारण था कि किसान आबादी में आर्थिक विभाजन के काफ़ी आगे बढ़ने के बावजूद राजनीतिक विभाजन अभी बेहद आदिम और पिछड़ा हुआ था। किसान आबादी के आर्थिक विभेदीकरण और राजनीतिक विभेदीकरण के फ़र्क़ पर हम पिछले अध्याय के परिशिष्ट में थोड़ी चर्चा कर चुके हैं, जब हम चार्ल्स बेतेलहाइम की आलोचना रख रहे थे।

गाँवों में इन राजनीतिक स्थितियों के मद्देनज़र बोल्शेविक पार्टी ने फ़रवरी क्रान्ति के बाद किसानों के बीच अपने आधार को विस्तारित करने पर सबसे ज्यादा ज़ोर दिया। बोल्शेविकों ने निरन्तरता के साथ किसानों की भूमि समितियों द्वारा ज़मीन पर क़ब्ज़े के आन्दोलन का समर्थन किया। जैसा कि हमने ज़िक्र किया है, ये भूमि समितियाँ वास्तव में पहली आरज़ी सरकार के कैडेट कृषि मन्त्री द्वारा ही बनायी गयीं थीं ताकि बढ़ते किसान असन्तोष पर क़ाबू पाया जा सके। लेकिन इन किसान समितियों पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने क़ब्ज़ा कर लिया था, जो कि भूमि के राष्ट्रीकरण का समर्थन तो करते थे, मगर भूमि समितियों द्वारा स्वत:स्फूर्त रूप से ज़मीन क़ब्ज़े के आन्दोलन का समर्थन नहीं करते थे। वे किसानों से कह रहे थे कि संविधान सभा तक इन्तज़ार किया जाना चाहिए। बोल्शेविक भी भूमि के राष्ट्रीकरण और बँटवारे की बात कर रहे थे, मगर वे भूमि समितियों द्वारा ज़मीन क़ब्ज़े की मुहिम का खुलकर समर्थन कर रहे थे। लेनिन का मानना था कि ज़मीन क़ब्ज़े की मुहिम के साथ रूसी जनवादी क्रान्ति अपने अगले चरण में प्रवेश कर गयी है। **उनका कहना था कि एक मार्क्सवादी के लिए कार्रवाई** (action) **उसकी वैधिकता** (legality) **के पैदा होने से पहले आती है।** बोल्शेविकों ने कहा कि हम संविधान सभा के इन्तज़ार के तर्क को ग़लत मानते हैं और किसानों द्वारा ज़मीन क़ब्ज़े की कार्रवाई का समर्थन करते हैं। लेनिन स्पष्टत: इस बात को समझ रहे थे कि समाजवादी-क्रान्तिकारी और मेंशेविक बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को रैडिकल तरीक़े से मुक़ाम तक पहुँचाने की बजाय क्रान्ति को बुर्जुआ वैधिकता के दायरे में रखना चाहते हैं। इस रूप में जनवादी क्रान्ति कभी पूर्णता तक नहीं पहुँच सकती है। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी ने किसानों के भूमि पर क़ब्ज़े के आन्दोलन को लगातार पूर्ण समर्थन देना जारी रखा।

मॉरिस डॉब बताते हैं कि अप्रैल में ही किसानों ने ज़मीन पर क़ब्ज़े की मुहिम को शुरू कर दिया था। अभी ये कार्य कई जगहों पर स्थानीय सोवियतें कर रही थीं। जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, 3 मई को आरज़ी सरकार की एक आज्ञप्ति द्वारा भूमि समितियाँ स्थापित की गयीं जिनका कार्य था संविधान सभा के बैठने तक भूमि सुधारों के लिए "तैयारी" करना और इसके लिए "कुछ आरज़ी क़दम उठाने का मसौदा" तैयार करना। ज़ाहिर है, ये भूमि समितियाँ सरकार ने केवल दिखावे के लिए बनायी थीं ताकि किसानों के बढ़ते असन्तोष पर कुछ पानी के छींटे डाले जा सकें और उन्हें तुष्ट किया जा सके। लेकिन 15 दिनों के भीतर ही इन भूमि समितियों पर

समाजवादी-क्रान्तिकारियों का क़ब्ज़ा हो गया। इसके बाद समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के भी निर्देशों की अवहेलना करते हुए और सरकार से स्वायत्त तौर पर इन समितियों ने भूमि क़ब्ज़े के आन्दोलन को व्यवस्थित तौर पर आगे बढ़ाया। मई में 175 ज़िलों में भूमि क़ब्ज़े की रपटें आयीं। जून में क़रीब 300 ज़िलों से भूमि क़ब्ज़े की ख़बरें आयीं। जैसा कि मॉरिस डॉब बताते हैं, कैडेट पार्टी के अधिक से अधिक प्रतिक्रान्ति और प्रतिक्रिया के पक्ष में जाने के अलावा, जुलाई में प्रिंस ल्वोव के इस्तीफ़े का एक प्रमुख कारण यह भी था कि उनका समाजवादी-क्रान्तिकारी कृषि मन्त्री इन भूमि क़ब्ज़ों को वैध बता रहा था और इसके कारण संविधान सभा की प्रासंगिकता समाप्त होती जा रही थी।

अक्टूबर की शुरुआत आते-आते ज़मीनों पर क़ब्ज़े की घटनाएँ अप्रैल के स्तर से क़रीब 20 गुना बढ़ चुकी थी और केरेंस्की सरकार मोर्चे से कई सैन्य दस्तों को किसानों को कुचलने के लिए बुलाने पर विचार कर रही थी। मॉरिस डॉब बताते हैं कि इन आन्दोलन में एक पैटर्न को देखा जा सकता था। शुरुआती दौर में ये जागीरों को आग लगा देने और उन्हें लूट लेने जैसी अराजक घटनाओं से शुरू हुआ और आगे चलकर इसने व्यवस्थित और संगठित तौर पर ज़मीनों पर क़ब्ज़े का स्वरूप धारण कर लिया। दूसरी ग़ौर करने वाली बात यह थी कि इस आन्दोलन में अपवादस्वरूप कुछ जगहों पर ज़मींदारों के कारिन्दों को मारा गया, अन्यथा, यह आन्दोलन ज़्यादातर शान्तिपूर्ण तरीक़े से क़ब्ज़े के रूप में विकसित हुआ। मॉरिस डॉब ने भूमि समितियों के आन्दोलनों का समाहार करते हुए लिखा है, **"भूदास प्रथा के दिनों में किसानों के बीच एक कहावत प्रचलित थी : "हम ज़मींदारों के हैं, लेकिन जिस ज़मीन पर हम काम करते हैं, वह हमारी है।" अब किसानों ने इसे नये दौर के मिजाज़ के मुताबिक़ बदल लिया था : "ज़मींदार हमारा ज़मींदार है : हम उसके लिए काम करते थे और उसकी सम्पत्ति हमारी है।" "** (मॉरिस डॉब,1972, **'सोवियत इकोनॉमिक डेवेलपमेण्ट सिंस 1917'**, पृ. 76)

इसी बीच एक ऐसा परिवर्तन भी हुआ था जिसके कारण भूमि प्रश्न पर किसानों का समर्थन जीतने का सुनहरा अवसर बोल्शेविकों को मिल गया था। अप्रैल 1917 में पहली आरज़ी सरकार के विदेश मन्त्री मिल्युकोव ने मित्र शक्तियों को प्रथम विश्व युद्ध में "गौरवपूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति" तक रूस का पूर्ण सैन्य सहयोग देने की घोषणा की। इसके कारण, आरज़ी सरकार के विरुद्ध ज़बरदस्त माहौल तैयार हुआ और उसके ख़िलाफ़ प्रदर्शनों का दौर शुरू हो गया। आरज़ी सरकार के भीतर, जिसके मुखिया इस समय कैडेट पार्टी के ज्यॉर्जी ल्वोव थे, एक संकट की शुरुआत हो गयी। इस संकट का नतीजा यह हुआ कि विदेश मन्त्री मिल्युकोव और युद्ध व नौसेना मन्त्री गुचकोव को इस्तीफ़ा देना पड़ा। इस इस्तीफ़े के बाद, सरकार में सोवियतों में प्रभावी प्रमुख पार्टियों को शामिल करके नयी संयुक्त सरकार का गठन किया गया। इस नयी सरकार में बोल्शेविक पार्टी को छोड़कर सभी समाजवादी पार्टियों ने हिस्सेदारी की। मेंशेविकों और समाजवादी-पार्टी के आरज़ी सरकार में शामिल होने के साथ, उनके बेनक़ाब होने की ज़मीन तैयार हो गयी। मेंशेविक अब तक यह दावा करते रहे थे कि वे आरज़ी सरकार में शामिल नहीं होंगे और "विपक्ष" की पार्टी बने रहेंगे। इस नयी

स्थिति को बोल्शेविक पूरी तरह समझ रहे थे और उन्होंने इस अवसर का पूरा लाभ उठाया। कृषि मन्त्रालय अब एक समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के मन्त्री के हाथों में था और भूमि सुधारों को तत्काल लागू करने की ज़िम्मेदारी अब सीधे उसके सिर थी। समाजवादी-क्रान्तिकारी अभी भी किसानों की भूमि समितियों को संविधान सभा का इन्तज़ार करने की नसीहतें दे रहे थे और ज़मीन क़ब्ज़ा करने की मुहिम को रोकने के लिए कह रहे थे। युद्ध के कारण जो आर्थिक संकट पैदा हुआ था उसने शहरों में आम ग़रीब आबादी और साथ ही गाँवों में किसानों के लिए भयंकर स्थिति पैदा कर दी थी। शहरों में खाद्य सामग्री की कमी वस्तुत: अकाल जैसी स्थिति पैदा कर रही थी। आरज़ी सरकार द्वारा युद्ध में हिस्सेदारी को ख़त्म न करने के फ़ैसले के कारण उत्पादक आबादी के एक अच्छे-ख़ासे हिस्से को मोर्चे पर भेज दिया गया था। कारख़ाने बन्द हो रहे थे और गाँवों और शहरों के बीच विनिमय टूट चुका था। किसान आबादी युद्ध के विरुद्ध और ज़मीन के लिए एक प्रकार का असहयोग छेड़ चुकी थी। इनकी चर्चा हम ऊपर सामाजिक-आर्थिक विघटन का विवरण पेश करते समय कर चुके हैं। मोर्चे से सैनिकों के गाँवों में लौटने से भूमि के लिए हो रहे आन्दोलन ने और भी ज़्यादा आक्रामक रुख़ अख्तियार कर लिया था। ऐसी स्थिति में, समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के समझौतापरस्त रुख़ के कारण उसका किसानों के बीच दबदबा धीरे-धीरे घटने लगा।

अप्रैल से ही सभी सोवियत कांग्रेसों में समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी की स्थिति ख़राब होनी शुरू हो गयी थी। उनका नारा तो भूमि के राष्ट्रीकरण और भूमि समितियों द्वारा भूमि के पुनर्वितरण का ही था, मगर उनके अनुसार इस सारे कार्य को संविधान सभा के फ़ैसले तक रोके रखा जाना चाहिए। दूसरी ओर बोल्शेविकों ने किसान सोवियतों में भी अपनी अवस्थिति को निरन्तरतापूर्ण तरीक़े से रखा और सितम्बर आते-आते क्रमिक प्रक्रिया में भूमि क़ब्ज़े के प्रश्न पर अपने कार्यक्रम पर किसानों के समर्थन को जीता।

अगस्त 1917 में अखिल रूसी किसान सोवियत कांग्रेस हुई। कांग्रेस पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों का वर्चस्व स्पष्ट रूप से देखा जा सकता था। इस कांग्रेस में समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने एक "आदर्श आज्ञप्ति" पारित की जिसमें भूमि के राष्ट्रीकरण और भूमि समितियों द्वारा पुनर्वितरण के एजेण्डे को दुहराया गया लेकिन इसके लिए संविधान सभा का इन्तज़ार करने का प्रावधान किया गया। **लेनिन ने इस आज्ञप्ति के कार्यक्रम का समर्थन किया लेकिन साथ ही यह कहा कि यह कार्य *अब* बिना समाजवादी क्रान्ति के सम्भव नहीं है।** इसका एक कारण तो यह है कि आरज़ी सरकार संविधान सभा के नाम पर इस कार्यभार को टालती रहेगी और युद्ध में रूसी भागीदारी को समाप्त नहीं करेगी, लेकिन इसका दूसरा और **सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि अधिकांश बड़े भूस्वामियों ने अपनी जागीरों को बैंकों को गिरवी रख दिया है और अब भूमि के राष्ट्रीकरण का प्रश्न बैंकों के राष्ट्रीकरण के साथ जुड़ गया है।** यह कार्य अब केवल मज़दूर क्रान्ति द्वारा ही पूरा हो सकता है और उसके बाद ही ज़मीन का राष्ट्रीकरण और पुनर्वितरण किया जा सकता है। यहाँ लेनिन स्पष्ट रूप से यह सम्प्रेषित कर रहे थे कि अब बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की जारी प्रक्रिया को बुर्जुआ वर्ग की आरज़ी सरकार मुक़ाम पर नहीं पहुँचायेगी

और वह ज़्यादा से ज़्यादा प्रतिक्रियावादी होती जायेगी। लेनिन इस बात को भी समझ रहे थे कि इस सूरत में समाजवादी मज़दूर क्रान्ति बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करते हुए समाजवाद की ओर 'कुछ आरम्भिक क़दम' बढ़ायेगी। निश्चित तौर पर, यह समाजवादी क्रान्ति तुरन्त 'समाजवाद की शुरुआत' (immediate introduction of socialism) कर दे यह सम्भव नहीं होगा और इसके एजेण्डे पर तात्कालिक तौर पर यह प्रश्न होगा कि यह बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के अधूरे कार्यभारों को सर्वाधिक क्रान्तिकारी तरीक़े से पूर्ण करे और समाजवादी व्यवस्था की ओर कुछ पहले क़दम बढ़ाये।

लेनिन पर समाजवादी-क्रान्तिकारियों और साथ ही कुछ बोल्शेविकों ने भी यह आरोप लगाया कि उन्होंने समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के भूमि कार्यक्रम को शब्दश: अपना लिया। लेनिन ने इस आलोचना का जवाब देते हुए कहा कि रणकौशलात्मक तौर पर यह ज़रूरी था क्योंकि यह व्यापक किसान आबादी की इच्छा का प्रतिनिधित्व करता था। चूँकि किसान आर्थिक तौर पर विभाजित होने के बावजूद राजनीतिक तौर पर बोल्शेविक पार्टी के मूल भूमि कार्यक्रम पर सहमत नहीं थे, चूँकि समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी अपने रैडिकल जनवादी भूमि कार्यक्रम पर अमल नहीं कर रही थी और चूँकि युद्ध और सोवियत सत्ता के तौर पर समानान्तर सत्ता के उभार ने एक विशिष्ट स्थिति पैदा कर दी थी, ***इसलिए*** बोल्शेविक पार्टी को समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के रैडिकल भूमि कार्यक्रम को अपनाना चाहिए और उसे क्रान्तिकारी तरीक़े से मुक़ाम तक पहुँचाना चाहिए, जिसके लिए कोई भी बुर्जुआ या टटपुँजिया पार्टी तैयार नहीं थी। लेनिन ने स्पष्ट किया कि समाजवादी भूमि कार्यक्रम को लागू करते हुए भी मज़दूर सत्ता उजरती श्रम का शोषण न करने वाले मँझोले व ग़रीब किसानों की ज़मीनों को ज़बरन नहीं छीनती बल्कि उन्हें लम्बी प्रक्रिया में समझाने-बुझाने और मॉडल व सामूहिक फ़ार्मों की मिसाल पेश करने के रास्ते सामूहिकीकरण के कार्यक्रम पर राजी करती। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना होता कि समाजवादी भूमि कार्यक्रम लागू करते हुए बड़ी जागीरों और बड़े किसानों की ज़मीनों को तत्काल राजकीय व सामूहिक फ़ार्मों में तब्दील किया जाता। लेकिन रूस की विशिष्ट परिस्थितियों में समाजवादी सत्ता तत्काल यह काम नहीं कर सकती है। लेनिन ने बड़ी जागीरों को तत्काल मॉडल समाजवादी फ़ार्मों में तब्दील करने के प्रस्ताव को भी छोड़ा नहीं था, लेकिन फ़िलहाल वे उस पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दे रहे थे। लेनिन का मानना था कि समाजवादी क्रान्ति के बाद व्यापक किसान आबादी को उनके अनुभवों से यह समझने का अवसर दिया जाना चाहिए कि छोटे पैमाने की खेती उन्हें ग़रीबी और भुखमरी से निजात नहीं दिला सकती है। समाजवादी क्रान्ति के बाद बोल्शेविक पार्टी को सचेतन और निरन्तर राजनीतिक कार्य से भी यह चेतना उन किसानों के बीच पैदा करनी होगी जो उजरती श्रम का शोषण नहीं करते हैं। बहरहाल, अक्टूबर क्रान्ति की विशिष्टता के बारे में लेनिन के विचारों पर आगे हम विस्तार से चर्चा करेंगे।

अन्तत: लेनिन किसानों का समाजवादी क्रान्ति पर समर्थन जीतने में सफल रहे क्योंकि किसान आबादी को समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी की समझौतापरस्ती दिख रही थी और उन्हें पता था

कि लेनिन जिस मज़दूर क्रान्ति की बात कर रहे हैं, केवल वही उन्हें भूस्वामियों के जुए से मुक्ति दिला सकती है और ज़मीन की उनकी माँग को पूरा कर सकती है और साथ ही उन्हें साम्राज्यवादी युद्ध से भी मुक्ति दिला सकती है। चार्ल्स बेतेलहाइम का यह प्रेक्षण सही है कि बोल्शेविकों ने क्रान्ति से पहले किसान आबादी में अपने राजनीतिक नेतृत्व को स्थापित किया था और इसे विचारधारात्मक नेतृत्व के साथ गड्डमड्ड नहीं किया जाना चाहिए। किसानों का समर्थन भूमि के प्रश्न पर बोल्शेविकों के साथ था। लेकिन इससे आगे के सभी प्रश्नों पर अभी भी वे समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी की अवस्थिति पर ही खड़े थे। यही कारण था कि जिस पार्टी का सर्वाधिक प्रभाव अक्टूबर क्रान्ति के बाद भी कुछ वर्षों तक किसान सोवियतों में बना हुआ था वह समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी ही थी। लेकिन क्रान्ति से पूर्व बोल्शेविकों द्वारा किसानों के विद्रोह के निरन्तरता के साथ समर्थन के फलस्वरूप अक्टूबर क्रान्ति से ठीक पहले किसानों और किसान सोवियतों का समर्थन बोल्शेविकों के पक्ष में आ चुका था। इस पहलू ने सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के लेनिन के निर्णय में प्रमुख भूमिका निभायी।

●

जिस प्रकार से कृषि क्षेत्र में किसानों का स्वत:स्फूर्त विद्रोह जारी था, उसी के समानान्तर उद्योग के क्षेत्र में मज़दूरों का भी एक विद्रोह जारी था। मज़दूरों की कारख़ाना समितियों ने श्रम अधिकारों को लागू न करने पर कारख़ानों पर क़ब्ज़ा शुरू कर दिया था। मॉरिस डॉब कारख़ाना समितियों के इस आन्दोलन का एक जीवन्त चित्रण पेश करते हैं। डॉब बताते हैं कि पेत्रोग्राद और मॉस्को में कई बार सोवियत के प्राधिकार के नाम पर कार्रवाई करते हुए कई कारख़ानों के मज़दूरों ने उन कारख़ानों पर क़ब्ज़ा कर लिया, या उनके प्रबन्धकों, मालिकों व फोरमैनों को निकाल दिया जिन्होंने 8 घण्टे के कार्यदिवस व अन्य श्रम अधिकारों को लागू करने के पेत्रोग्राद सोवियत के साथ हुए समझौते को लागू करने से इंकार कर दिया। 1 जून को सोवियतों की कार्यकारी समिति ने सभी कारख़ानों के मज़दूरों को कारख़ानों में कारख़ाना समिति या परिषद् बनाने का निर्देश दिया था। इसके बाद इन कारख़ाना समितियों ने तमाम औद्योगिक केन्द्रों व शहरों में कारख़ानों पर क़ब्ज़ा किया और उनके अकाउंटों को अपने नियन्त्रण में ले लिया। पेत्रोग्राद और मॉस्को की मज़दूर सोवियतों ने इन क़दमों का समर्थन किया लेकिन उनकी इसमें कोई प्रत्यक्ष व सीधी भूमिका नहीं थी। यह मूलत: कारख़ाना समितियों ने अपनी पहलक़दमी पर किया। अक्टूबर आते-आते तमाम खानों-खदानों को भी मज़दूरों की समितियों ने अपने नियन्त्रण में ले लिया था। मॉरिस डॉब ने आगे चलकर प्रतिक्रान्ति के एक प्रमुख नेता बनने वाले जनरल कालेदिन का एक उद्धरण दिया है जो स्थिति को स्पष्ट करता है, "फ़िलहाल, समस्त सत्ता विभिन्न स्वयंभू संगठनों द्वारा हथिया ली गयी है जो कि अपने अलावा और किसी के प्राधिकार को नहीं मानती हैं।" (डॉब, 1972, **'सोवियत इकोनॉमिक डेवेलपमेण्ट सिंस 1917'**, पृ. 78)

ई. एच. कार का मानना है कि इस मामले में बोल्शेविकों को थोड़ी शर्मिन्दगी का सामना

करना पड़ा क्योंकि उनका मानना था कि क्रान्ति के तुरन्त बाद समाजवादी राज्यसत्ता तुरन्त ही पूँजीवादी सिण्डिकेटों व उद्योगों पर सीधा नियन्त्रण क़ायम कर लेगी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं और जिस प्रकार ज़मीनों पर किसानों ने स्वत:स्फूर्त तरीक़े से क़ब्ज़ा करना शुरू कर दिया था, उसी प्रकार मज़दूरों ने उनके जनवादी अधिकारों को न लागू किये जाने के विरोध में कारख़ानों से मालिकों व प्रबन्धकों को निकाल कर उस पर ज़बरन क़ब्ज़े की मुहिम की शुरुआत कर दी थी। इस प्रक्रिया में कार ज़मीन पर किसानों द्वारा स्वत:स्फूर्त रूप से क़ब्ज़े को बोल्शेविकों के आकलन के विपरीत जाने वाली घटना बताते हैं। **इन दोनों ही मुद्दों पर कार की अवस्थिति एक बार फिर से प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी है।** इसमें कोई दो राय नहीं थी कि कारख़ाना क़ब्ज़ा की मुहिम में कारख़ाना समितियों की भूमिका प्रमुख थी और ये मुहिम मूलत: और मुख्यत: स्वत:स्फूर्त थी। लेकिन बोल्शेविकों ने शुरू से ही क्रान्ति की एक तात्विक शक्ति (elemental force) के रूप में इनका समर्थन किया था और इसे मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी पहलक़दमी के रूप में देखा था। उस समय अधिकांश ट्रेड यूनियनें मेंशेविकों के क़ब्ज़े में थीं और वे इस आन्दोलन का विरोध कर रहीं थीं क्योंकि उनका मानना था कि यह समूची उत्पादन व्यवस्था को अराजकता में डाल देगी। उत्पादन की कार्रवाई को सुगम रूप से चलाने के लिए उद्योगों पर एक केन्द्रीकृत नियन्त्रण की आवश्यकता होती है और अलग-अलग कारख़ानों पर उनके मज़दूरों के क़ब्ज़े का अर्थ होगा ऐसे नियन्त्रण का भंग होना। लेनिन इस बात को समझते थे कि कम्युनिस्ट समूचे उद्योग पर समूचे मज़दूर वर्ग के नियन्त्रण के हामी हैं न कि अलग-अलग कारख़ानों पर उनके मज़दूरों के नियन्त्रण के। लेकिन यह व्यवस्था समाजवादी सत्ता के अन्तर्गत हो सकती है। एक बुर्जुआ सरकार के विरोध में यदि क्रान्तिकारी परिस्थिति में मज़दूर कारख़ानों पर क़ब्ज़ा करते हैं, तो कम्युनिस्टों को उसका स्वागत और समर्थन करना चाहिए। मेंशेविक इस पूरी प्रक्रिया में अपने अर्थवाद को उजागर कर रहे थे और इस प्रक्रिया में तत्कालीन राज्यसत्ता के चरित्र की अवहेलना कर रहे थे। **इस तौर पर, लेनिन और बोल्शेविकों ने किसी बाध्यता के कारण कारख़ाना क़ब्ज़ा की मुहिम का और ज़मीन क़ब्ज़ा की मुहिम का समर्थन नहीं किया, जैसा कि कार कहते हैं। उन्होंने एक प्रतिक्रियावादी आरज़ी बुर्जुआ सरकार के विरुद्ध क्रान्ति की तात्विक शक्तियों के रूप में इन आन्दोलनों का स्वागत और समर्थन किया।** ठीक इसी तर्क से क्रान्ति के बाद बोल्शेविकों ने कारख़ाना समिति के आन्दोलन में निहित अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करते हुए उन्हें ट्रेड यूनियन कांग्रेस के मातहत लाया और साथ ही ट्रेड यूनियनों और सर्वहारा राज्यसत्ता के बीच एक निश्चित सम्बन्ध स्थापित किया। (इस बिन्दु की विस्तार से व्याख्या के लिए तीसरा अध्याय देखें जिसमें 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' के अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादियों की आलोचना रखी गयी है।)

ई. एच. कार का यह मूल्यांकन भी ग़लत है कि कारख़ाना क़ब्ज़ा आन्दोलन ने त्रात्स्की की उस भविष्यवाणी को सही साबित किया जो कि उन्होंने 1905 की क्रान्ति के दौरान की थी कि मज़दूर बुर्जुआ क्रान्ति पर रुकेंगे नहीं और सीधे समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ेंगे और इसलिए

दो चरणों में क्रान्ति का लेनिन का सिद्धान्त ग़लत है। त्रात्स्की और साथ ही उनका अनुसरण करने वाले यह बताने में असफल रहते हैं कि फ़रवरी क्रान्ति में क्या हुआ था? लेनिन स्पष्ट करते हैं कि फ़रवरी क्रान्ति के साथ बुर्जुआ आरज़ी सरकार और सोवियत सत्ता के तौर पर जो 'दोहरी सत्ता' अस्तित्व में आयी, उसने राज्य के प्रश्न को हल किया और इस तौर पर जनवादी क्रान्ति का चरण पूर्ण हो गया, हालाँकि कई जनवादी कार्यभार अभी पूरे करने बाक़ी थे। रूसी बुर्जुआ वर्ग के बारे में लेनिन का शुरू से यह मूल्यांकन था कि वह जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को क्रान्तिकारी रूप में पूरा नहीं कर सकता है। यह कार्य मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही द्वारा ही पूरा हो सकता है। सोवियत सत्ता के रूप में मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही सम्भावना-सम्पन्न रूप में अस्तित्व में तो आयी, मगर सही राजनीतिक नेतृत्व व संगठन न होने के कारण उसने राजनीतिक सत्ता अपने हाथों से बुर्जुआ वर्ग के हाथों में सौंप दी, हालाँकि मज़दूरों और किसानों की आबादी में सोवियत की सत्ता के रूप में स्वीकार्यता बढ़ती गयी। अन्तरविरोधों के इस विशिष्ट सन्धि-बिन्दु के कारण ही 'दोहरी सत्ता' अस्तित्व में आयी। फ़रवरी क्रान्ति के बाद युद्ध, आर्थिक विघटन और मज़दूरों व किसानों के आन्दोलनों ने वह स्थिति पैदा कर दी जिसने सर्वहारा वर्ग और उसकी पार्टी को तत्कालीन रूस में इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में रख दिया। इसके बाद यदि सर्वहारा वर्ग बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में लेकर अपनी भूमिका का निर्वाह नहीं करता तो न सिर्फ़ जनवादी क्रान्ति की असमय मृत्यु हो जाती बल्कि समाजवादी क्रान्ति भी लम्बे समय के लिए प्रतिक्रिया के लम्बे दौर द्वारा नेपथ्य में धकेल दी जाती। लेकिन त्रात्स्की, त्रात्स्कीपन्थी और त्रात्स्की से प्रभावित बुद्धिजीवी कई बार यह जताने का प्रयास करते हैं या इस भ्रम में फँस जाते हैं कि अप्रैल थीसीज़ के बाद लेनिन स्वयं त्रात्स्की की अवस्थिति पर आ गये थे। इस पूरे तर्क के विस्तार से खण्डन के लिए पिछले अध्याय को सन्दर्भित करें, जिसमें त्रात्स्की और त्रात्स्कीपन्थ की लेनिनवादी आलोचना पर चर्चा की गयी है। इसके अलावा, मज़दूरों द्वारा कारख़ानों पर नियन्त्रण भी लेनिन के अनुसार रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम से आगे नहीं जाता था। यह केवल उत्पादन और वितरण पर नियन्त्रण रखने के समान होता। इससे सम्पत्ति सम्बन्धों में कोई बुनियादी अन्तर नहीं आता। इसलिए कारख़ाना क़ब्ज़ा आन्दोलन अपने आप में समाजवादी क्रान्ति की विशिष्ट चारित्रिक आभिलाक्षणिकता नहीं मानी जा सकती है। इस रूप में भी कार का तर्क सही नहीं ठहरता।

बेतेलहाइम ऐसा नतीजा तो नहीं निकालते कि लेनिन अक्टूबर में त्रात्स्की की अवस्थिति पर आ गये थे, लेकिन वे स्वयं जो नतीजा निकालते हैं उस पर स्पष्ट त्रात्स्कीपन्थी प्रभाव है। इसमें वे बुर्जुआ जनवादी व समाजवादी क्रान्तियों के अन्तर्गुंथन और गाँवों में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति और शहरों में समाजवादी क्रान्ति की बात करते हैं। यह मूल्यांकन बेहद विशिष्ट परिस्थितियों में रूस में समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ पैदा होने के कारक को नहीं समझता है और गाँवों में समाजवादी क्रान्ति के रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम से आगे न जाने को गाँवों में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का नाम दे देता है। बोल्शेविक क्रान्ति की "द्वैतता" का सिद्धान्त वास्तव में स्वयं त्रात्स्कीपन्थी सिद्धान्त नहीं

तो त्रात्स्कीपन्थ को सांस लेने के लिए काफ़ी जगह मुहैया ज़रूर करा देता है। हम पहले ही किसानों के आर्थिक विभेदीकरण और राजनीतिक विभेदीकरण के बीच अन्तर की बात कर चुके हैं। रूस में समाजवादी क्रान्ति युद्ध और सोवियत सत्ता के रूप में 'दोहरी सत्ता' के पैदा होने की विशिष्टता के कारण अक्टूबर में आसन्न हो गयी। जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया, अगर उस समय सर्वहारा वर्ग आगे आकर सत्ता स्थापित नहीं करता तो "उसे इतिहास के रंगमंच से काफ़ी समय के लिए बाहर फेंक दिया जाता"। हमने बेतेलहाइम के बोल्शेविक क्रान्ति की द्वैतता/दो क्रान्तियों के अन्तर्गुंथन के सिद्धान्त का पिछले अध्याय के परिशिष्ट में विस्तार से आलोचनात्मक विवेचन किया है जिसे पाठक सन्दर्भित कर सकते हैं। अभी हम इतना ही कहेंगे कि यह एक समाजवादी क्रान्ति थी जो अपवादस्वरूप स्थितियों में हुई और उसे जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को रैडिकल तरीक़े से पूरा करना पड़ा, अन्यथा रूसी जनवादी क्रान्ति भी प्रतिक्रिया और दक्षिणपन्थी प्रतिक्रान्ति के गड्ढे में जा गिरती। इसी वजह से वह किसान प्रश्न पर मूलत: रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम से आगे नहीं गयी।

ई. एच. कार के इतिहास-लेखन में एक और जगह एक त्रुटि दिखती है। वह यह नहीं बताते कि कारख़ाना समितियों का आन्दोलन पूर्णत: स्वत:स्फूर्त नहीं था और उसमें बोल्शेविकों की एक अहम भूमिका थी। वह बस इतना कहते हैं कि कारख़ाना समितियों के क़ब्ज़ा आन्दोलन को बढ़ावा देने के लिए बोल्शेविकों ने हर सम्भव प्रयास किया क्योंकि बढ़ती अराजकता उनके लक्ष्यों के लिए बेहतर थी। यहाँ बता दें कि यह बात कार किसी नकारात्मक रूप में नहीं कह रहे हैं और इस बात के ज़रिये वे बोल्शेविकों की परिस्थिति की समझ और बेहतर रणकौशल की सराहना ही करना चाहते हैं। **लेकिन एक वफ़ादार प्रत्यक्षवादी और अनुभववादी के तौर पर वे विचारधारात्मक और राजनीतिक तौर पर बोल्शेविक रणनीति व आम रणकौशल को नहीं देखते, बल्कि आनुभविक और तथ्यवादी तौर पर देखते हैं।** इसीलिए वह नतीजा निकालते हैं कि परिस्थितियों ने एक प्रकार से बोल्शेविकों को बाध्य किया कि कारख़ाना समितियों के संघाधिपत्यवाद और अराजकतावाद का समर्थन करें। एक बार फिर से कार यह नहीं समझ पा रहे हैं कि समाजवादी क्रान्ति के पहले मज़दूरों द्वारा कारख़ाना क़ब्ज़ा के आन्दोलन और क्रान्ति के बाद कारख़ाना समितियों द्वारा किसी भी व्यापक और केन्द्रीय सर्वहारा विनियमन के अन्तर्गत आने से बचने के संघाधिपत्यवाद और अराजकतावाद में फ़र्क़ करने की आवश्यकता है। ज़ाहिर है, किसी भी अनुभववादी व प्रत्यक्षवादी के लिए इस बात को समझना मुश्किल है और वह इसे इस रूप में व्याख्यायित करता है कि पहले तो बोल्शेविक ही इस कारख़ाना क़ब्ज़ा के कारख़ाना समितियों के आन्दोलन का समर्थन कर रहे थे क्योंकि वह उनके हितों को पूरा कर रहा था और बाद में (यानी क्रान्ति के बाद) वे ही अलग-अलग कारख़ानों पर प्रत्यक्ष उत्पादक के प्रत्यक्ष नियन्त्रण का विरोध करने लगे! दूसरी बात यह है कि कारख़ाना समितियाँ सचेतन और विचारधारात्मक तौर पर पार्टी नेतृत्व का विरोध नहीं कर रही थीं, न ही वे आमतौर पर सचेतन विचारधारात्मक तौर पर किसी केन्द्रीय विनियमन का विरोध कर रही थीं; वे एक बुर्जुआ सत्ता द्वारा और पूँजीपति वर्ग द्वारा उनके जनवादी अधिकारों के हनन और उन्हें लागू न किये जाने के विरोध में कारख़ानों

पर क़ब्ज़ा कर रही थीं। निश्चित तौर पर, इनमें सुषुप्त व सम्भावना-सम्पन्न तौर पर अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी मोड़ लेने की गुंजाइश मौजूद थी। लेकिन क्रान्ति से पहले कारख़ाना समितियों के आन्दोलन को अराजकतावादी व संघाधिपत्यवादी क़रार देना कार के विश्लेषण की विचारधारा-अन्धता है। कार का यह कहना सही है कि लेनिन समेत सभी कम्युनिस्टों ने "मज़दूर नियन्त्रण" और "राजकीय नियन्त्रण" में हमेशा फ़र्क़ किया था। लेनिन के लिए समाजवाद की शुरुआती मंज़िल का अर्थ था सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के अन्तर्गत समूची अर्थव्यवस्था पर राजकीय नियन्त्रण जिसे लेनिन ने "सर्वहारा अधिनायकत्व के तहत राजकीय पूँजीवाद" की संज्ञा भी दी थी। आरज़ी सरकार ने भी प्रमुख व कुंजीभूत उद्योगों के राष्ट्रीकरण का प्रयास किया था ताकि युद्ध की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए आर्थिक विसंगठन से निपटा जाये। लेनिन ने कारख़ाना समितियों के आन्दोलन का समर्थन किया क्योंकि कार के अनुसार लेनिन सोवियतों और कारख़ाना समितियों के आन्दोलन के प्रति अपने उत्साह में अपने इस समर्थन के सारे निहितार्थों को समझ नहीं पाये। **हम देख सकते हैं कि कार यह नहीं समझ पाते कि लेनिन किसी भी ''राजकीय नियन्त्रण'' का बिना शर्त समर्थन नहीं कर रहे थे और न ही कम्युनिस्टों ने कभी ऐसा किया था। वे सर्वहारा राज्य द्वारा उद्योगों के राजकीय नियन्त्रण की बात कर रहे थे।** एक बुर्जुआ राज्य द्वारा उद्योगों के राजकीय नियन्त्रण का बिना शर्त समर्थन लेनिन क्यों करते? लेनिन अर्थव्यवस्था के राजकीय नियन्त्रण की ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील भूमिका को मानते थे क्योंकि यह टटपुँजिया उत्पादन को कम कर देता है। लेकिन वह इसका बिना शर्त राजनीतिक समर्थन नहीं करते थे। लार्स टी. ली का यह दृष्टिकोण मोटा-मोटी सही है, **''लेनिन बुर्जुआ राज्य उपकरण को चकनाचूर करना चाहते थे, लेकिन बुर्जुआ आर्थिक उपकरण के बारे में उनकी काफ़ी अलग सोच थी। युद्धकालीन राज्य द्वारा इस उपकरण को पूर्ण किया गया था और इसे अपरिमित शक्तियाँ दी गयी थीं और इसे सावधानी से बचाया जाना चाहिए और क्रान्तिकारी वर्ग द्वारा इसे पहले से मौजूद एक उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया जाना चाहिए। जर्मनी का** Waffen-und Munitionsbeschaffungsamt (Weapons and Ammunitions Supply Department-WUMBA in German) **साम्राज्यवादी आर्थिक उपकरण का उत्कृष्ट प्रतीक था। समाजवादी क्रान्ति के लेनिन के दृष्टिकोण को इस रूप में पेश किया जा सकता है '**WUMBA **जनता के लिए'...''** (लार्स टी. ली, 2011, **'लेनिन'**, रीएक्शन बुक्स लि., लन्दन)

स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है कि कार के पूरे विश्लेषण में सत्ता के वर्ग चरित्र का मूल्यांकन अनुपस्थित रहता है, जो कि अनुभववाद और प्रत्यक्षवाद की विशेषता है। इसे अनुभववादी प्रत्यक्षवादी अन्तर्दृष्टि की दृष्टिहीनता ही कहा जा सकता है, जो एक मायने में अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच के इतिहास-लेखन पर भी लागू होती है। साथ ही कार मज़दूर समितियों द्वारा कारख़ाना क़ब्ज़ा बनाम "राजकीय नियन्त्रण" और किसानों के बीच भूमि के पुनर्वितरण बनाम राजकीय फ़ार्मों के प्रश्न को एक दूसरे के सामने खड़ा कर देते हैं। वे समझ नहीं पाते कि इन दोनों प्रश्नों की

तुलना सम्भव ही नहीं है। यह मार्क्सवाद बनाम अराजकतावाद और मार्क्सवाद बनाम नरोदवाद के बहस की अनैतिहासिक तुलना के समान होगा। बहरहाल, अन्त में कार स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि लेनिन ने एक ओर कारख़ाना समितियों के रूप में मज़दूरों की क्रान्तिकारी पहलक़दमी का स्वागत किया वहीं पेत्रोग्राद क्षेत्र की कारख़ाना समितियों के पहले सम्मेलन में उन्होंने जो मसौदा प्रस्ताव तैयार किया उसमें उन्होंने समूचे उद्योग के "मज़दूर नियन्त्रण" के अपने अर्थ को भी स्पष्ट किया। कार स्वयं लेनिन को उद्धृत करते हैं :

"इस विपदा से बचने का रास्ता है वस्तुओं के उत्पादन और वितरण पर वास्तविक मज़दूर नियन्त्रण स्थापित करना। ऐसे नियन्त्रण को स्थापित करने के लिए यह ज़रूरी है कि पहले यह निश्चित किया जाये कि सभी बुनियादी संस्थाओं में मज़दूरों की बहुसंख्या है, यानी कुल वोटों के तीन-चौथाई से कम नहीं, और यह भी कि सभी मालिक जो अपने व्यवसाय को छोड़कर भागे नहीं हैं उन्हें और साथ ही वैज्ञानिक और तकनीकी रूप से प्रशिक्षित कर्मचारियों को भागीदारी करने के लिए बाध्य किया जाये; दूसरी ज़रूरी चीज़ है कि सभी कार्यशाला व कारख़ाना समितियों, मज़दूरों, सैनिकों व किसानों के प्रतिनिधियों की केन्द्रीय व स्थानीय सोवियतों और साथ ही ट्रेड यूनियनों को ऐसे नियन्त्रण में हिस्सेदारी करने का अधिकार मिले, और यह कि सभी वाणिज्यिक व बैंक खातों को उनके द्वारा जाँच के लिए खोल दिया जाये, और यह कि प्रबन्धन को सभी आँकड़ों को देने के लिए बाध्य किया जाये; तीसरी अहम चीज़ यह कि सभी ज़्यादा अहम जनवादी व समाजवादी पार्टियों के प्रतिनिधियों को भी ये सारे अधिकार दिये जायें।

"मज़दूर नियन्त्रण, जिसे कि विवाद के मसले उपस्थिति होने पर कई पूँजीपतियों ने भी मान्यता दी है, को तत्काल सावधानी से सुविचारित और क्रमिक लेकिन तात्कालिक तौर पर अमल में लाये जाने वाले क़दमों की श्रृंखला के ज़रिये वस्तुओं के उत्पादन व वितरण पर मज़दूरों के पूर्ण नियन्त्रण के रूप में विकसित किया जाये।" (ई.एच. कार, 1980, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन', खण्ड-2**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कम्पनी, लन्दन, पृ. 60-61 पर उद्धृत)

कारख़ाना समितियों के क़रीब 400 प्रतिनिधियों का यह सम्मेलन 30 मई 1917 को हुआ और इसमें लेनिन के इस मसौदा प्रस्ताव को ज़िनोवियेव ने पेश किया। यह प्रस्ताव 21 के मुक़ाबले 297 वोटों से विजयी हुआ जबकि 44 प्रतिनिधियों ने वोट नहीं दिया। कारख़ाना समितियों का सम्मेलन उन शुरुआती सम्मेलनों में से था, जिसमें बोल्शेविक बहुमत के रूप में उभरे। स्पष्ट है कि कारख़ाना समितियों के आन्दोलन में बोल्शेविक एक वर्चस्वकारी शक्ति बनकर उभर चुके थे। क्रान्तिकारी परिस्थिति में कारख़ाना समितियों का आन्दोलन आम मज़दूरों की व्यापक बहुसंख्या की नुमाइन्दगी करता था, जबकि ट्रेड यूनियनों ने क्रान्तिकारी परिस्थिति में कोई विशेष भूमिका नहीं निभायी थी और उनका नेतृत्व एक हद तक आम मज़दूरों की व्यापक आबादी से कटा हुआ था।

जून 1917 में पहली अखिल रूसी ट्रेड यूनियन कांग्रेस हुई। इस कांग्रेस में मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी बहुमत में थे। कार का यह प्रेक्षण सही है कि ट्रेड यूनियन कांग्रेस में बोल्शेविकों का अल्पमत में होना और कारख़ाना समितियों के सम्मेलन में उनका बहुमत में होना यह दिखलाता था कि मज़दूर वर्ग के ऊपरी और अपेक्षाकृत बेहतर वेतन पाने वाले "कुलीन" तबक़ों में मेंशेविकों व समाजवादी-क्रान्तिकारियों का बहुमत था जबकि आम व्यापक मज़दूर आबादी में बोल्शेविकों का प्रभाव ज़्यादा था। यही कारण था कि ट्रेड यूनियनों ने अक्टूबर क्रान्ति में कोई विशेष भूमिका नहीं निभायी और कई ट्रेड यूनियनों ने तो उसका विरोध भी किया था। इसका कारण यही था कि उनमें मेंशेविक बहुमत में थे और उनकी राजनीति का चरित्र इसी से निर्धारित हो रहा था। इस ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने एक अखिल रूसी ट्रेड यूनियन काउंसिल का चुनाव किया जिसमें आनुपातिक रूप से विभिन्न पार्टियों को प्रतिनिधित्व मिला। इस काउंसिल में बोल्शेविक प्रतिनिधि थे रियाज़ानोव व श्ल्याप्निकोव। इसके अध्यक्ष के तौर पर **मेज़राओन्त्सी ग्रुप** के लोज़ोव्स्की को चुना गया। त्रात्स्की भी शुरुआत में इसी ग्रुप के सदस्य थे। इस ग्रुप का कुछ हफ़्तों बाद बोल्शेविकों में विलय हो गया था। ट्रेड यूनियन कारख़ाना समितियों को मान्यता तो दे रहे थे, मगर उनके द्वारा कारख़ाना क़ब्ज़ा की मुहिम और उनके द्वारा मज़दूर नियन्त्रण का विरोध कर रहे थे। उनके अनुसार मज़दूर नियन्त्रण का कार्य कोई केन्द्रीय संगठन ही कर सकता था। लेकिन उनके अनुसार यह केन्द्रीय संगठन राज्यसत्ता की भूमिका अदा करने वाले निकाय, यानी कि सोवियत, नहीं हो सकते थे। और न ही यह कार्य कारख़ाना समितियाँ कर सकती थीं। इस अवस्थिति में हम भावी ट्रेड यूनियन विरोध के बीज देख सकते हैं। वास्तव में, संघाधिपत्यवादी भटकाव का सबसे ज़्यादा शिकार उस समय ट्रेड यूनियनवादी ही थे। वे समूची अर्थव्यवस्था के विनियमन के कार्य को राज्यसत्ता से स्वतन्त्र और स्वायत्त रूप में ट्रेड यूनियनों को देने की वकालत कर रहे थे। समाजवादी-क्रान्तिकारी और अराजकतावादी कारख़ाना समितियों द्वारा उत्पादन व वितरण के स्वायत्त नियन्त्रण की वकालत कर रहे थे। लेनिन की अवस्थिति इनसे अलग थी। उनका मानना था कि कारख़ाना समितियों के आन्दोलन का पुरज़ोर समर्थन किया जाना चाहिए क्योंकि ये आरज़ी सरकार के विरुद्ध विद्रोह की तात्विक शक्तियों में से एक है। साथ ही, वे कारख़ाना समितियों द्वारा मज़दूर नियन्त्रण को अलग-अलग कारख़ानों के अलग-अलग कारख़ाना समितियों द्वारा नियन्त्रण के रूप में नहीं देख रहे थे, बल्कि कारख़ाना समितियों के एक अखिल रूसी केन्द्रीय संगठन, ट्रेड यूनियनों और सोवियतों द्वारा समन्वित नियन्त्रण के रूप में देख रहे थे। साथ ही, उनका मानना था कि यह समन्वित नियन्त्रण मज़दूर राज्यसत्ता के नेतृत्व में होगा। कारख़ाना समितियों ने अक्टूबर क्रान्ति के पहले कहीं ज़्यादा सक्रिय भूमिका निभायी और अक्टूबर तक चार सम्मेलन किये। अपने आख़िरी सम्मेलन को उन्होंने **अखिल रूसी कारख़ाना समिति** कांग्रेस के रूप में मान्यता दी। इस कांग्रेस ने कई प्रस्ताव पारित किये जिसमें उत्पादन के मज़दूर नियन्त्रण को राष्ट्रीय पैमाने पर संगठित करने का समर्थन किया गया और कारख़ाना समितियों के एक केन्द्रीय प्रातिनिधिक संगठन को खड़ा करने का संकल्प लिया गया।

कारख़ाना समितियों और ट्रेड यूनियन के बीच के अन्तरविरोधों का विशेष तौर पर अगस्त के बाद के दौर में कोई विशेष अर्थ नहीं रह गया था। मज़दूरों की कारख़ाना समितियाँ कारख़ानों पर क़ब्ज़ा कर रही थीं और दूसरी ओर भूमि समितियाँ ज़मीनों पर तेज़ी से क़ब्ज़ा कर रही थीं। सेना का ज़्यादा से ज़्यादा हिस्सा लगातार पेत्रोग्राद सोवियत के पक्ष में आता जा रहा था। अगस्त के आख़िरी सप्ताह से लेकर सितम्बर के पहले सप्ताह के बीच बोल्शेविक पार्टी पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में पहली बार बहुमत में आ चुकी थी। मज़दूरों और सैनिकों की मॉस्को व पेत्रोग्राद सोवियतों में बोल्शेविक पार्टी अब वर्चस्वकारी स्थिति में थी। सितम्बर मध्य में लेनिन ने अपनी रचना **'बोल्शेविकों को सत्ता हासिल करनी ही होगी'** में लिखा कि अब सत्ता पर क़ब्ज़ा करने का समय आ गया है। केन्द्रीय कमेटी कुछ समय तक लेनिन के सन्देश पर कोई निर्णय नहीं ले पा रही थी। इसके बाद लेनिन ने कई पत्रों और सन्देशों को पार्टी की केन्द्रीय कमेटी को भेजा। अन्ततः लेनिन के स्वयं केन्द्रीय कमेटी की एक बैठक में आने के साथ यह असमंजस की स्थिति टूटी और अन्ततः सशस्त्र विद्रोह के ज़रिये सत्ता हाथ में लेने का निर्णय लिया गया। इस पूरे प्रकरण पर हम अगले शीर्षक में आयेंगे।

इस दौर में लेनिन के विचारों के विकास को हम उनकी दो रचनाओं में देख सकते हैं। पहली रचना सितम्बर 1917 में लिखी गयी थी - **'आसन्न आपदा और उससे निपटने के रास्ते'**। दूसरी रचना थी **'क्या बोल्शेविक राज्यसत्ता पर काबिज़ रह पायेंगे'** जो कि अक्टूबर में लिखी गयी थी। पहली रचना में लेनिन ने पहली बार बुर्जुआ क्रान्ति के दायरे में अपने आर्थिक कार्यक्रम की रूपरेखा स्पष्ट की। इस रचना का मुख्य उद्देश्य वास्तव में यह था कि छह माह में पहले कैडेट-नीत बुर्जुआ आरज़ी सरकार और फिर समाजवादी पार्टियों के नेतृत्व में बनी बुर्जुआ आरज़ी सरकार की समझौतापरस्ती, बुर्जुआ क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने में इसकी अक्षमता और इसके प्रतिक्रिया की ओर खिसकते जाने की हरकत को बेनक़ाब किया जा सके। इसमें लेनिन ने उन क़दमों के बारे में बताया जो कि मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही को उठाने चाहिए थे और चूँकि फ़रवरी क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आयी आरज़ी सरकार ने ये क़दम नहीं उठाये इसलिए उसे और उस पर काबिज़ पार्टियों यानी समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी और मेंशेविक पार्टी को क्रान्तिकारी जनवादी तानाशाही का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता; बल्कि फ़रवरी से सितम्बर के सात महीने ये दिखला रहे हैं कि वे बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामी वर्ग के सामने आत्मसमर्पण करने वाली टटपुँजिया पार्टियाँ बन चुकी हैं और धुर प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ पार्टी की भूमिका अब कैडेट पार्टी निभा रही है, जो कि पहले उदार बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही थी। इस लेख में लेनिन ने बताया कि शुद्ध रूप से समाजवादी कार्यक्रम को लागू किये बिना, एक क्रान्तिकारी जनवादी सरकार बैंकों का राष्ट्रीकरण, उद्योगों का सिण्डिकेटीकरण, उपभोग का विनियमन, सभी छोटे उद्योगों व व्यवसायों का बलात सिण्डिकेटीकरण, समूचे उत्पादन व वितरण का मज़दूर सत्ता द्वारा राजकीय नियन्त्रण व निरीक्षण, और नियोक्ताओं व प्रबन्धकीय कर्मचारियों को इस व्यवस्था के तहत कार्य करने के लिए बाध्य करना जैसे क़दमों को लागू कर सकती है। यह

सम्पत्ति सम्बन्धों में कोई परिवर्तन नहीं लाता लेकिन समूची अर्थव्यवस्था को ज़्यादा वैज्ञानिक तौर पर संगठित करता और उसे राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद की ओर ले जाता। एक मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही के मातहत ऐसी व्यवस्था न केवल बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों को रैडिकल तरीक़े से पूर्ण करती बल्कि वह 'समाजवाद की ओर कुछ प्रारम्भिक क़दम' भी होती। लेनिन का इस रचना में मुख्य उद्देश्य यह प्रदर्शित करना था कि बुर्जुआ आरज़ी सरकार ये कार्य पूरे करने में अक्षम है और इस तौर पर वह इतिहास की प्रतिक्रियावादी शक्ति बन चुकी है। यह अब बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति का भी गला घोंट देगी और अब जनवादी क्रान्ति को पूर्ण करने के लिए समाजवाद की ओर कुछ प्रारम्भिक क़दम उठाना ऐतिहासिक अनिवार्यता बन गया है। लेनिन लिखते हैं :

''आमतौर पर इतिहास में स्थिर रहना असम्भव होता है, और युद्धकाल में तो विशेष तौर पर। बीसवीं सदी के रूस में, जिसने एक क्रान्तिकारी तरीक़े से गणतन्त्र और जनवाद हासिल किया है, समाजवाद की ओर *आगे बढ़े* बग़ैर, बिना इसकी ओर क़दम बढ़ाये, आगे बढ़ पाना *असम्भव* है (जो क़दम तकनोलॉजी व संस्कृति के स्तर से निर्धारित होंगे: किसान खेती में बड़े पैमाने का मशीन उत्पादन ''लाया'' नहीं जा सकता और न ही इसे चीनी उद्योग में हटाया जा सकता है)

''लेकिन आगे बढ़ने से डरने का अर्थ होगा पीछे हटना - जो कि केरेंस्की जैसे तमाम लोग त्सेरेत्लियों और चेर्नोवों की मूर्खतापूर्ण मदद से कर रहे हैं, और जिस पर मिल्युकोव व प्लेखानोव जैसे तमाम लोग तालियाँ पीट रहे हैं।

''इतिहास का द्वन्द्व ऐसा है कि इज़ारेदार पूँजीवाद के राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद में रूपान्तरण की गति को बढ़ाकर इसने ठीक इसी के ज़रिये मानव जाति को असाधारण रूप में समाजवाद की ओर आगे बढ़ा दिया है।

''साम्राज्यवादी युद्ध समाजवादी क्रान्ति की पूर्वसन्ध्या है। और ऐसा केवल इसलिए नहीं है कि युद्ध की भयंकरता ने सर्वहारा विद्रोह को बढ़ावा दे दिया है - कोई भी विद्रोह तब तक समाजवाद नहीं ला सकता है जब तक कि समाजवाद के लिए आर्थिक स्थितियाँ तैयार न हो गयी हों - बल्कि इसलिए कि राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद समाजवाद के लिए *भौतिक* तैयारी की पूर्णता तक पहुँचना है, समाजवाद की *दहलीज़* है। इतिहास की सीढ़ी में समाजवाद के सोपान और राजकीय इज़ारेदार पूँजीवाद के सोपान के बीच और *कोई मध्यवर्ती सोपान नहीं हैं*।'' (वी.आई. लेनिन, 1974, *दि इम्पेण्डिंग कैटास्ट्रॉफी एण्ड हाउ टू कॉम्बैट इट*, **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-25,** चौथा अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 362-363)

सितम्बर के अन्त व अक्टूबर के प्रथम सप्ताहों में लेनिन ने दूसरा अहम लेख **'क्या बोल्शेविक राज्यसत्ता पर क़ाबिज़ रह पायेंगे'** लिखा। इसमें लेनिन ने रूस में मज़दूर समाजवादी क्रान्ति के बाद मज़दूर सत्ता की आरम्भिक आर्थिक नीतियों के बारे में पहली बार स्पष्ट तौर पर लिखा।

क्रान्ति के बाद बैंकों के राष्ट्रीकरण, उद्योगों के सिण्डिकेटीकरण, छोटे उद्यमों के बलात एकीकरण, और मुख्यत: राज्य और अन्य सर्वहारा संस्थाओं के ज़रिये समूची अर्थव्यवस्था के विनियमन व नियन्त्रण को क़ायम किया जायेगा। सभी उद्योगों में मज़दूर नियन्त्रण स्थापित किया जायेगा। लेकिन लेनिन ने संघाधिपत्यवाद के आरोप का खण्डन करते हुए स्पष्ट किया कि यह आरोप तभी सही हो सकता था जब बोल्शेविक बिना सर्वहारा अधिनायकत्व के मज़दूर नियन्त्रण की बात करते। लेनिन इसी लेख में लिखते हैं :

"जब नोवाया जीज्न के लेखक कहते हैं कि "मज़दूर नियन्त्रण" के नारे को बुलन्द करके हम संघाधिपत्यवाद के गड्ढे में गिर रहे हैं तो उनका यह तर्क "मार्क्सवाद" को बिना पढ़े उसे लागू करने, उसे स्त्रूवे के समान रटकर सीखने के मूर्ख स्कूली बच्चे वाली पद्धति का एक उदाहरण मात्र बनकर रह गया। संघाधिपत्यवाद या तो सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को ख़ारिज़ करता है, या फिर इसे पीछे की सीट की ओर धकेल देता है, जिस प्रकार यह आमतौर पर राजनीतिक सत्ता के प्रश्न के साथ करता है। लेकिन हम इस प्रश्न को सबसे आगे रखते हैं। अगर हम केवल *नोवाया जीज्न* के लेखकों के साथ सहमति जताते हुए यह कहें : मज़दूर नियन्त्रण *नहीं बल्कि* राजकीय नियन्त्रण, तो यह केवल एक बुर्जुआ सुधारवादी जुमला बन जायेगा, यह सारत: एक शुद्ध रूप से कैडेट फ़ार्मुला बन जायेगा क्योंकि कैडेटों को "राजकीय" नियन्त्रण में मज़दूरों की भागीदारी पर कोई आपत्ति नहीं है। कोर्निलोवाइट कैडेटों को अच्छी तरह से पता है कि ऐसी भागीदारी बुर्जुआ वर्ग को मज़दूरों को वेवक़ूफ़ बनाने का सर्वश्रेष्ठ तरीक़ा देती है...

"जब हम कहते हैं : "मज़दूर नियन्त्रण", तो हम इस नारे को हमेशा सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के *बरक्स* रखते हैं, हमेशा इसे सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के *ठीक बाद में* रखते हैं, और इसके ज़रिये हम बताते हैं कि हम किस प्रकार के राज्य के बारे में बात कर रहे हैं...अगर यह (राज्य) सर्वहारा वर्ग का है, अगर हम सर्वहारा राज्य की, *यानी*, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की बात कर रहे हैं, तो मज़दूर नियन्त्रण एक देशव्यापी, सर्वसमावेशी, सर्वत्र उपस्थित, वस्तुओं के उत्पादन और वितरण का सबसे सटीक और सबसे सचेतन लेखांकन *बन सकता* है।" (लेनिन, 1977, सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-2, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ 364-65)

इस उद्धरण में लेनिन वे सभी भ्रम दूर कर देते हैं जिनका शिकार एक ओर ई.एच. कार जैसे अनुभववादी अध्येता हो जाते हैं, जो इस बात को बोल्शेविकों की चाणक्य-बुद्धि का प्रतीक मानते हैं कि पहले बोल्शेविक ही कारख़ाना समितियों द्वारा कारख़ानों पर क़ब्ज़े की मुहिम का समर्थन कर रहे थे क्योंकि वह आरज़ी सरकार के विरुद्ध माहौल बनाने में उनकी सहायता कर रहा था और सत्ता में आने के बाद उन्होंने ही कारख़ाना समितियों को ट्रेड यूनियनों के केन्द्रीय और उनके ज़रिये राजकीय नियन्त्रण में ला दिया और इस प्रकार "प्रत्यक्ष मज़दूर नियन्त्रण" को समाप्त कर दिया; और साथ ही, **'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन'** के सुजीत दास जैसे राजनीतिक नौदौलतियों के

अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी विभ्रम को भी साफ़ कर देते हैं कि मज़दूर नियन्त्रण से उनका क्या अर्थ था।

क्रान्ति के पहले ही कई लेखों में लेनिन ने स्पष्ट किया था कि मज़दूर नियन्त्रण से उनका अर्थ है समूचे मज़दूर वर्ग द्वारा समूचे उद्योग व अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण न कि एक-एक कारख़ाने के मज़दूरों द्वारा अपने-अपने कारख़ाने पर नियन्त्रण। यही कारण था कि बोल्शेविकों ने कारख़ाना समितियों के भी एक केन्द्रीकृत संगठन को खड़ा किया और आगे चलकर (जब ट्रेड यूनियनों में बोल्शेविक बहुमत में आ गये) तो उन्हें ट्रेड यूनियनों के केन्द्रीय संगठन के मातहत किया।

इस प्रसंगान्तर के बाद हम घटनाओं के ब्यौरे पर वापस आ सकते हैं। मई के बाद के दो-तीन महीनों के दौरान कई अहम परिवर्तन हुए। जैसा कि हमने पहले बताया, बोल्शेविक पार्टी ने तेज़ी से किसान सोवियतों और भूमि समितियों में संगठित किसानों का समर्थन जीता। वहीं दूसरी ओर मज़दूरों के बीच कारख़ाना समितियों में वे जून तक वर्चस्वकारी राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित हो चुके थे। ट्रेड यूनियन कांग्रेस में अभी भी मेंशेविक बहुमत में थे, लेकिन चूँकि ट्रेड यूनियनों के आम सदस्यों का समर्थन बोल्शेविकों के पक्ष में जा चुका था इसलिए जून से अक्टूबर क्रान्ति तक ट्रेड यूनियन काउंसिल, जो कि जून की ट्रेड यूनियन कांग्रेस में चुनी गयी थी, उसकी कोई विशेष भूमिका नहीं थी। ई.एच. कार भी इस बात का ज़िक्र करते हैं और एक मेंशेविक ट्रेड यूनियन नेता के हवाले से बताते हैं कि इन चार महीनों के दौरान यह काउंसिल निष्क्रिय ही रही और इस निष्क्रियता के एकमात्र अपवाद लोज़ोव्स्की थे, जो कि काउंसिल के अध्यक्ष थे और जिन्होंने कुछ ही हफ़्तों बाद बोल्शेविकों के साथ हाथ मिला लिया था, क्योंकि उनका ग्रुप मेज़राओन्त्सी बोल्शेविक पार्टी में शामिल हो गया था। इस प्रकार मज़दूरों में भी जो आन्दोलन की सक्रिय शक्ति थी वह बोल्शेविकों के हाथों में आ चुकी थी।

जून के बाद से बोल्शेविकों का सितारा तेज़ी से बुलन्द होने लगा। मोर्चे पर लगातार हार, बड़े पैमाने पर रूसी सैनिकों के नरसंहार से सेना में युद्ध के ख़िलाफ़ माहौल बनता जा रहा था। किसान आबादी समाजवादी-क्रान्तिकारियों के संविधान सभा के बुलाये जाने तक इन्तज़ार करने के आश्वासनों से ऊब चुकी थी और भूमि समितियों द्वारा ज़मीनों पर क़ब्ज़े की मुहिम और रफ़्तार पकड़ चुकी थी। मज़दूरों का व्यापक हिस्सा पहले से ही बोल्शेविकों के साथ था। अप्रैल में मिल्युकोव और गुचकोव के इस्तीफ़े के बाद यह साफ़ हो गया था कि आरज़ी सरकार का संकट शुरू हो चुका है। उनके इस्तीफ़े के बाद पहली संयुक्त सरकार बनी जिसमें कैडेट पार्टी के साथ समाजवादी पार्टियों (मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी) के छह मन्त्रियों को शामिल किया गया था। ग़ौर करने की बात है कि ये ही मेंशेविक पहले किसी भी आरज़ी बुर्जुआ सरकार में न शामिल होने की वकालत करते थे और मानते थे कि उनकी पार्टी को आरज़ी बुर्जुआ सरकार पर दबाव डालने वाले "मज़दूर विपक्ष" की भूमिका निभानी चाहिए। लेकिन बुर्जुआ सरकार के संकट का समाधान करने के लिए वे बेशर्मी से आरज़ी सरकार में शामिल हो गये, ताकि आरज़ी सरकार के प्रति लगातार बढ़ रहे असन्तोष और मोहभंग पर क़ाबू पाया जा सके। इसी बीच

अप्रैल की बोल्शेविक पार्टी की सातवीं अखिल रूसी कॉन्फ्रेंस में पार्टी ने लेनिन की **अप्रैल थीसीज़** को मूलत: और मुख्यत: अपना लिया और 'सारी सत्ता सोवियतों को' का नारा अपनाया। पार्टी ने योजनाबद्ध तरीक़े से सोवियतों, ट्रेड यूनियनों और अन्य जनसंगठनों में मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों को बेनकाब करने का काम शुरू किया और जनता के सामने यह स्पष्ट करना शुरू किया कि नयी संयुक्त आरज़ी सरकार भी पूँजीपतियों, साम्राज्यवादियों और भूस्वामियों की नुमाइन्दगी करती है। यह सरकार न तो जनता को रोटी दे सकती है, न किसानों को ज़मीन, न साम्राज्यवादी युद्ध से मुक्ति और न ही मज़दूरों को उनके जायज़ जनवादी अधिकार। वास्तव में, अब यह बुर्जुआ सरकार बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को पूरा करने की बजाय जनवादी क्रान्ति का ही गला घोंटने का काम कर रही है और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को बचाने के लिए अब मज़दूर वर्ग को सत्ता अपने हाथों में लेनी होगी और समाजवादी क्रान्ति को अंजाम देना होगा। हम ऊपर बतला चुके हैं कि बोल्शेविक कारख़ाना समितियों के सम्मेलन में बहुमत में आ चुके थे। जून में हुई ट्रेड यूनियन कांग्रेस में वे अभी भी बहुमत में नहीं थे, लेकिन क्रान्तिकारी प्रक्रियाओं में ट्रेड यूनियनों की भूमिका ही वस्तुत: बेहद कम थी और उनके भी आम सदस्य बोल्शेविकों के पक्ष में आ चुके थे।

जून में सोवियतों की पहली अखिल रूसी कांग्रेस हुई। इसमें बोल्शेविक अभी भी अल्पसंख्या में थे। बोल्शेविक उस दौर में 10 जून को पेत्रोग्राद में एक प्रदर्शन आयोजित करने और सोवियतों की कांग्रेस में अपनी माँगें व्यवस्थित रूप में पेश करने के लिए अभियान चला रहे थे। सोवियतों की कांग्रेस में मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारियों के नेतृत्व को यह डर था कि मज़दूर सोवियतों की इजाज़त के बिना ही प्रदर्शन कर देंगे। इसलिए अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने पहले बोल्शेविक पार्टी को 10 जून के प्रदर्शन को रद्द करने के लिए कहा और फिर उसने ही 18 जून को प्रदर्शन करने का आह्वान कर दिया। लेकिन बेहतर पार्टी संगठन और योजना के बूते और साथ ही साथ सही कार्यदिशा से लैस होने के चलते बोल्शेविक इस प्रदर्शन पर छा गये। अधिकांश बैनरों पर बोल्शेविकों के नारे थे, जो युद्ध समाप्त करने और सारी सत्ता सोवियतों को देने की माँग कर रहे थे और साथ ही आरज़ी सरकार के विरुद्ध असन्तोष जताते बैनरों की भरमार थी। अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने अभी आरज़ी सरकार को समर्थन जारी रखने का ही प्रस्ताव पारित किया था, लेकिन तृणमूल धरातल पर हो रहे परिवर्तन समय की बदलती धारा को दिखला रहे थे।

18 जून को ही आरज़ी सरकार ने इस उम्मीद में विश्व युद्ध में एक बड़े रूसी आक्रमण की शुरुआत का निर्णय लिया और 19 जून को उसकी घोषणा की, कि राष्ट्रवाद और देश की रक्षा की भावना को भड़काकर फिर से अपनी वरीयता स्थापित की जाये। उसे उम्मीद थी कि आक्रमण सफल होने पर सोवियतों का प्राधिकार समाप्त हो जायेगा और पूरी सत्ता वह अपने हाथों में ले लेगी। और अगर हमला असफल होता है तो उसका दोष बोल्शेविकों के सिर मढ़ दिया जायेगा कि उन्होंने अपने नकारात्मक प्रचार से सेना के मनोबल को गिरा दिया था। आक्रमण असफल होना ही था और वह हुआ भी। इसके बाद आरज़ी सरकार की उम्मीदों के विपरीत जनता के बीच

गुस्सा भयंकर तरीक़े से बढ़ा। मज़दूरों और सैनिकों में पेत्रोग्राद सोवियत की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के प्रति भी गुस्सा बढ़ रहा था, क्योंकि यह स्पष्ट तौर पर दिखायी दे रहा था कि मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति मौखिक तौर पर शान्ति और ज़मीन की बात करते हुए बुर्जुआ आरज़ी सरकार के पीछे घिसट रही है। इन सभी कारकों के चलते 3 जुलाई को पेत्रोग्राद में मज़दूरों और सैनिकों का एक जुझारू प्रदर्शन शुरू हुआ जो जल्द ही एक स्वत:स्फूर्त बग़ावत में तब्दील हो गया। बोल्शेविक पार्टी का नेतृत्व इस बात को समझता था कि जब तक सोवियतों, विशेषकर पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत और साथ ही किसान सोवियतों का समर्थन निर्णायक तौर पर साथ नहीं आता, जब तक अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में बोल्शेविकों का बहुमत अर्जित नहीं होता, तब तक आम बग़ावत एक अपरिपक्व क़दम होगा और उसे आरज़ी सरकार कुचल देगी। बोल्शेविकों ने इन उग्र प्रदर्शनों को भरसक सीमा में रखने का और शान्तिपूर्ण बनाये रखने का प्रयास किया और वे उसमें काफ़ी हद तक कामयाब भी हुए। लेकिन इसके बावजूद आरज़ी सरकार ने सबसे प्रतिक्रियावादी और राजनीतिक चेतना से रिक्त सैन्य दस्तों के ज़रिये इन प्रदर्शनों को बर्बरता से कुचलवा दिया। लेकिन फिर भी बुर्जुआ शासक वर्ग बुरी तरह घबरा गया था। नतीजतन, संयुक्त आरज़ी सरकार ने, जिसमें कि समाजवादी-क्रान्तिकारी और मेंशेविक शामिल थे, बोल्शेविक पार्टी के विरुद्ध दमन का एक चक्र चलाया। *प्राव्दा* का दमन सबसे पहले किया गया क्योंकि यह बोल्शेविकों के प्रभावी राजनीतिक प्रचार का ज़बरदस्त माध्यम था। इसके बाद 7 जुलाई को लेनिन की गिरफ़्तारी का वारण्ट जारी हुआ। लेनिन और उनके साथ ज़िनोवियेव भूमिगत हो गये। लेकिन बोल्शेविक पार्टी के कई अन्य प्रमुख नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया, जैसे कि कामेनेव व कोलोन्ताई। त्रात्स्की भी गिरफ्तार हो गये जो अभी-अभी बोल्शेविक पार्टी में अपने समूचे समूह मेज़राओन्त्सी के साथ शामिल हुए थे। जुलाई में कुछ दिनों के लिए एक प्रतिक्रिया का दौर हावी हुआ और बोल्शेविकों के विरुद्ध सरकार द्वारा जर्मन एजेण्ट होने के कुत्साप्रचार का थोड़ा असर भी हुआ। लेकिन यह स्थिति गैलीशिया में रूसी सेना के आक्रमण के बुरी तरह असफल होने के साथ बदलती गयी।

सोवियत सत्ता फ़िलहाल निष्प्रभावी और संयुक्त आरज़ी सरकार की टट्टू बन गयी थी और फ़िलहाली तौर पर 'दोहरी सत्ता' समाप्त हो गयी थी। अब शान्तिपूर्ण तरीक़े से क्रान्तिकारी मज़दूरों, सैनिकों व किसानों की सोवियतों के हाथ में सत्ता आने का दौर बीत चुका था। बोल्शेविक पार्टी भूमिगत हो गयी। छठी पार्टी कांग्रेस में पार्टी के कार्यक्रम में बदलाव किया गया और पूँजीपतियों व भूस्वामियों की आरज़ी सरकार का बलपूर्वक तख्तापलट करने को कार्यक्रम के तौर पर स्वीकार किया गया। छठी कांग्रेस बोल्शेविकों के लिए एक महत्वपूर्ण पार्टी कांग्रेस थी।

पार्टी ने भूमिगत रहते हुए अपनी छठी कांग्रेस की जो कि पाँचवीं लन्दन कांग्रेस के दस वर्ष बाद हुई थी। बोल्शेविकों के प्राग सम्मेलन के भी पाँच वर्ष बाद यह कांग्रेस हो रही थी। इसमें कई अहम निर्णय लिये गये और कई बेहद महत्वपूर्ण बहसें हुईं जिन पर हम आगे चर्चा करेंगे, लेकिन इस कांग्रेस ने समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम को पारित किया और सशस्त्र विद्रोह की तैयारी

करने का निर्णय लिया। 'सारी सत्ता सोवियतों को' के नारे को फ़िलहाल वापस ले लिया गया। जैसा कि **चार्ल्स बेतेलहाइम** ने लिखा है, सोवियतों को सत्ता देने का नारा बोल्शेविकों के लिए कोई अमूर्त विचारधारात्मक नारा नहीं था और इस नारे को अपनाना उनके लिए हमेशा सोवियतों के राजनीतिक वर्ग चरित्र पर निर्भर करता था। सोवियतों की सत्ता को एक 'फ़ेटिश' में तब्दील करने की प्रवृत्ति बाद में सोवियत समाजवाद की आलोचना करने वाले तमाम अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, "वामपन्थी" आलोचकों द्वारा पैदा की गयी। बोल्शेविकों के लिए समानान्तर सत्ता के निकाय के रूप में सोवियतों की मान्यता सोवियतों के विचारधारात्मक व राजनीतिक नेतृत्व पर निर्भर करती थी। बहरहाल, कांग्रेस में तात्कालिक आर्थिक कार्यक्रम के तौर पर बैंकों व उद्योगों का राष्ट्रीकरण, समूचे उत्पादन व वितरण पर मज़दूर वर्ग की राज्यसत्ता के ज़रिये नियन्त्रण स्थापित करने, युद्ध का जनवादी शान्ति के साथ समापन करने और किसानों को ज़मीन देने का निर्णय पारित हुआ।

इस बीच आरज़ी बुर्जुआ सरकार ने 12 अगस्त को एक राज्य परिषद् गठित कर उसकी बैठक बुलायी जिसमें तमाम बुर्जुआ मन्त्रियों के साथ ही साथ सोवियतों के मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी नेता भी शामिल हुए। इस बैठक का मूल उद्देश्य था सोवियतों की बची-खुची सत्ता को पूरी तरह समाप्त कर आरज़ी सरकार के रास्ते के हरेक रोड़े को हटा दिया जाये। सेना के भीतर सत्ता-विरोधी सैनिकों को मौक़े पर सज़ा दी जाने लगी; कई बार तो सैनिकों के पूरे के पूरे समूहों को गोली मार दी गयी। कोर्निलोव ने तो मोर्चे के बाहर आमतौर पर भी मृत्युदण्ड को बहाल करने की वकालत की। बोल्शेविकों पर दमन और तेज़ कर दिया गया। केरेंस्की ने भूमि समितियों द्वारा ज़मींदारों की ज़मीन पर क़ब्ज़े की हर कोशिश को बलपूर्वक दबाने का ऐलान किया। बोल्शेविकों ने मॉस्को में आम हड़ताल का ऐलान किया जिसमें बड़ी तादाद में मज़दूरों ने हिस्सा लिया। कई अन्य शहरों में भी इस आह्वान के जवाब में मज़दूरों ने हड़तालें कीं।

सेना के दक्षिणपन्थी प्रतिक्रान्तिकारी जनरल कोर्निलोव ने इसी बीच सोवियतों और कारख़ाना समितियों व भूमि समितियों को पूरी तरह कुचल देने की माँग की। रूस का बड़ा पूँजीपति वर्ग और युंकर वर्ग क्रान्तिकारी आन्दोलन के बढ़ते ज्वार से भयाक्रान्त था और उसने तुरन्त इस दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया की शरण ली। जुलाई के जनउभार के बाद बुर्जुआ वर्ग का अधिक से अधिक दक्षिणपन्थी रुख़ लेना और ज़्यादा साफ़ तौर पर देखा जा सकता था। इस दक्षिणपन्थी बुर्जुआ वर्ग को एक बोनापार्तवादी शख़्सियत की ज़रूरत थी। यह शख़्सियत उन्हें जनरल कोर्निलोव के रूप में मिली। रैबिनोविच ने अपनी पुस्तक 'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर' में कोर्निलोव के उभार की विस्तृत चर्चा की है। रैबिनोविच बताते हैं कि कोर्निलोव वास्तव में कोई बहुत सक्षम व दूरदर्शी जनरल नहीं था। वह युद्ध में दुश्मनों द्वारा गिरफ़्तार हुआ था और फिर उनकी जेल से भाग निकला था। शुरू से ही कोर्निलोव सेना में तानाशाहाना नियन्त्रण के पक्ष में था और आरज़ी सरकार की उदारता और प्रभावहीनता से घृणा करता था। उसका मानना था कि सोवियतों को और साथ ही बोल्शेविकों को बलपूर्वक कुचल दिया जाना चाहिए। वास्तव में, वह सोवियत सत्ता और बोल्शेविकों में

ज़्यादा फ़र्क़ ही नहीं कर पाता था। कोर्निलोव के दुश्मनों के क़ब्ज़े से भाग निकलने के बाद रूस में दक्षिणपन्थी मीडिया ने उसे नायक बना दिया। इसी बीच कैडेट पार्टी जो जुलाई के पहले सप्ताह में सरकार से बाहर निकल गयी थी, दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया के ज़्यादा से ज़्यादा क़रीब जाने लगी। सेना के अन्दर एक स्पष्ट वर्ग विभाजन था जिसमें अधिकारी वर्ग सेना में फैलती अराजकता के लिए क्रान्ति को ज़िम्मेदार मानता था और पुराने ज़ारकालीन व्यवस्था को फिर से सेना में लागू करना चाहता था। इन जनरलों में देनीकिन भी एक प्रमुख व्यक्ति था, जो कि आगे चलकर प्रतिक्रान्ति के प्रमुख नेताओं में से एक बना। इस प्रतिक्रिया के उभार में कई दक्षिणपन्थी समूहों की भूमिका थी। इसमें एक समूह का नेता था ज़ावॉइको जो कि आगे चलकर कोर्निलोव का मार्गदर्शक और सहयोगी बना। इसके अलावा, कुछ पुराने दक्षिणपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने भी केरेंस्की के शुरुआती दौर में कोर्निलोव के प्रति झुकाव को पैदा करने में विशेष भूमिका निभायी थी। इनमें साविंकोव और मैक्सिमिलियन फिलोनेंको प्रमुख थे। केरेंस्की सेना में मौजूद अराजकता पर क़ाबू पाने में अक्षम था और साथ ही बोल्शेविकों की बढ़ती ताक़त का भय उसे लगातार सता रहा था। नतीजतन, आरज़ी सरकार ने केरेंस्की के नेतृत्व में कोर्निलोव की दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया को प्रश्रय देने और उसे बोल्शेविक क्रान्तिकारी उभार के प्रतिभार के तौर पर इस्तेमाल करने की योजना बनायी। केरेंस्की साविंकोव और फिलोनेंको के सुझावों के प्रभाव में यह मानता था कि वह इस कोर्निलोव कारक को नियन्त्रण में रख पायेगा। लेकिन कोर्निलोव की प्रतिक्रिया जल्द ही केरेंस्की के नियन्त्रण से बाहर निकल गयी। केरेंस्की ने अपने आपको कोर्निलोव से अन्तिम मौक़े पर अलग कर लिया लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी और कोर्निलोव ने राजधानी पर चढ़ाई का ऐलान कर दिया था।

कोर्निलोव ने फ़ौज को जुटाकर पेत्रोग्राद पर चढ़ाई की तैयारी शुरू कर दी। ये तैयारियाँ खुलेआम हो रही थीं। 25 अगस्त को कोर्निलोव की सेना का पेत्रोग्राद की ओर कूच हुआ। बोल्शेविकों के नेतृत्व में मज़दूरों और सैनिकों ने इस प्रतिक्रान्ति का हथियारबन्द जवाब देने की तैयारी शुरू कर दी। पेत्रोग्राद के चारों ओर खन्दकें खोद दी गयीं और बैरीकेड्स खड़े कर दिये गये। कई हज़ार सैनिक क्रोंस्तात से पेत्रोग्राद की रक्षा के लिए आये। कोर्निलोव की आगे बढ़ रही सेना के पास कई प्रतिनिधि भेजे गये, जिन्होंने सैनिकों को कोर्निलोव की प्रतिक्रान्ति की असलियत समझाने का प्रयास किया। नतीजतन, कई प्रमुख दस्ते पहले ही कोर्निलोव के इस प्रयास से अलग हो गये। अन्तत: कोर्निलोव का प्रतिक्रान्तिकारी विद्रोह ठीक से शुरू हो पाने से पहले ही कुचल दिया गया। इस बीच आरज़ी सरकार के मन्त्री और केरेंस्की भयाक्रान्त थे और इस उम्मीद में बैठे हुए थे कि कोर्निलोव को बोल्शेविक हरा दें। इस विद्रोह को कुचलने के लिए तकनीकी और सैन्य धरातल पर बोल्शेविकों ने अन्य समाजवादी ताक़तों के साथ सहयोग और तालमेल किया। कोर्निलोव विद्रोह ने मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के भी एक हिस्से के सामने स्पष्ट कर दिया था कि क्रान्ति एक स्थान पर खड़ी नहीं रहेगी; या तो वह मज़दूर क्रान्ति की ओर आगे बढ़ेगी या फिर दक्षिणपन्थी प्रतिक्रान्ति की ओर।

लेनिन ने इसी उम्मीद में सितम्बर के शुरुआती दिनों में कुछ लेख लिखे जिसमें उन्होंने यह उम्मीद की कि मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के नेतृत्व वाली सोवियत सत्ता को आरज़ी सरकार से छीन पूरी तरह अपने हाथों में ले लेगी और इस तौर पर जनवादी क्रान्ति अपने मुक़ाम तक पहुँचेगी और वहाँ तक क्रान्ति का शान्तिपूर्ण विकास हो पायेगा। इस पूरे प्रकरण को रैबिनोविच ने ग़लत रूप में व्याख्यायित किया है। लेनिन के उन लेखों को जिसमें वे मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों से जनवादी क्रान्ति को मुक़ाम तक पहुँचाने की प्रक्रिया में सहयोग और समझौते की बात कर रहे हैं, उसे रैबिनोविच लेनिन के उन विचारों में बदलाव के रूप में चित्रित करने का प्रयास करते हैं जो कि लेनिन ने कुछ ही समय पहले रखे थे। लेनिन ने कुछ समय पहले यह कहा था कि सत्ता पर क़ब्ज़ा करने का वक़्त क़रीब आ रहा है। कोर्निलोव के विद्रोह के बाद एक विशिष्ट स्थिति पैदा हुई थी जिसमें लेनिन लघुकालिक रणकौशलात्मक समझौतों की बात कर रहे थे। उस समय लेनिन की ऐसी सोच थी कि सोवियतों द्वारा सत्ता अपने हाथों में लिये जाने के साथ ही मज़दूर वर्ग अपने अधिनायकत्व को स्थापित करने की लड़ाई शुरू कर देता। लेकिन जल्द ही जनवादी राज्य सम्मेलन ने दिखला दिया था कि कोर्निलोव के विद्रोह के बावजूद मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों से यह उम्मीद करना व्यर्थ है कि वे जनता की जनवादी क्रान्ति के कार्यभारों को रैडिकल तरीक़े से पूरा करने में कोई भूमिका निभायेंगे और उन्होंने सितम्बर के मध्य में ही इस जनवादी सम्मेलन और उसके द्वारा स्थापित प्रहसन प्री-पार्लियामेण्ट के बहिष्कार और सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के लिए बोल्शेविकों का आह्वान किया। रैबिनोविच यह भी नहीं समझ पाते कि कोर्निलोव के हमले के दौरान पेत्रोग्राद में बोल्शेविकों ने अन्य समाजवादी ताक़तों के साथ जो तकनीकी और सैन्य तालमेल और सहयोग किया वह कोई राजनीतिक समझौता या सहयोग नहीं था।

बहरहाल, कोर्निलोव के विद्रोह के परिणाम ने निर्णायक रूप से दिखला दिया कि बोल्शेविक पार्टी मज़दूरों और सैनिकों में एक ऐसे नेतृत्व के रूप में उभर चुकी है जो प्रश्नों से परे है। इसने दिखला दिया कि क्रान्ति की सामरिक और राजनीतिक शक्ति अब प्रतिक्रान्ति से कहीं ज़्यादा है। मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारियों का चरित्र भी इस प्रक्रिया में जनता के सामने साफ़ हो गया था। कोर्निलोव की हार ने यह भी दिखला दिया कि अब अन्तरविरोधों का वह सन्धि-बिन्दु निर्मित हो चुका है जिसमें रूस या तो मज़दूर क्रान्ति की ओर जायेगा या फिर दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया और प्रतिक्रान्ति की ओर। कोर्निलोव से संघर्ष और फिर कोर्निलोव की हार ने सोवियतों को एक बार फिर से जागृत कर दिया। और ये नयी जागृत सोवियतें स्पष्ट तौर पर बोल्शेविकों के पक्ष में जा खड़ी हुई थीं। यहाँ तक कि किसान सोवियतों में भी बोल्शेविकों का असर काफ़ी तेज़ी से बढ़ा।

31 अगस्त को पेत्रोग्राद सोवियत और 5 सितम्बर को मॉस्को सोवियत बोल्शेविकों के पक्ष में आ गयीं क्योंकि कारख़ानों, मिलों और सैन्य दस्तों ने जो नये प्रतिनिधि चुनकर भेजे थे, वे अधिकांशत: बोल्शेविक थे। **इन दोनों प्रमुख सोवियतों के बोल्शेविकों के बहुमत में आने**

के साथ सशस्त्र विद्रोह की तैयारियों का रास्ता साफ़ हो गया और 'सारी सत्ता सोवियतों को' के नारे को फिर से पुनर्जीवित कर दिया गया।

इसी बीच समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने आसन्न क्रान्ति को टालने या रोकने की मंशा से एक नया प्रयास किया। उन्होंने एक जनवादी सम्मेलन बुलाया और उसे प्रेद पार्लियामेण्ट (प्री-पार्लियामेण्ट) का नाम दिया। बोल्शेविक पार्टी में भी कामेनेव, ज़िनोवियेव और तियोदोरोविच जैसे लोगों ने इसमें हिस्सा लेने की वकालत की क्योंकि वे सशस्त्र विद्रोह के पक्ष में नहीं थे। लेकिन लेनिन ने इसे जनता के बीच भ्रम पैदा करने और आरज़ी सरकार के वर्चस्व को बचाने का उपकरण बताया और इसमें हिस्सेदारी का पुरज़ोर विरोध किया। अन्तत: बोल्शेविकों ने इस तमाशे से अपने आपको अलग कर लिया और अपनी तैयारियों में लगे रहे। लेनिन ने सितम्बर से केन्द्रीय कमेटी और पार्टी को लिखे अपने पत्रों, सन्देशों और लेखों में यह दलील पेश करनी शुरू कर दी कि सशस्त्र विद्रोह का वक़्त आ चुका है, बोल्शेविक सत्ता अपने हाथों में ले सकते हैं क्योंकि दोनों प्रमुख प्रातिनिधिक सोवियतों यानी पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में उनका बहुमत स्थापित हो चुका है। इस मसले में देर करना बुर्जुआ वर्ग को अपनी शक्ति को फिर से जुटाने और संगठित करने का मौक़ा देना होगा और साथ ही साम्राज्यवादियों को भी यह मौक़ा देना होगा कि वे रूसी क्रान्ति को कुचल दें। लेनिन के कई पत्रों और सन्देशों के बावजूद केन्द्रीय कमेटी निर्णय नहीं ले पा रही थी। अन्तत: लेनिन अक्टूबर के पहले सप्ताह के अन्त में गुप्त रूप से फ़िनलैण्ड से वापस पेत्रोग्राद आये और 10 अक्टूबर की केन्द्रीय कमेटी बैठक में हिस्सा लिया। केन्द्रीय कमेटी ने बहुमत से सशस्त्र विद्रोह करने का निर्णय लिया। ज़िनोवियेव और कामेनेव ने इसके ख़िलाफ़ वोट किया और त्रात्स्की अनिर्णय की स्थिति में बने रहे और एक ऐसा प्रस्ताव पेश किया जिसका अर्थ था सशस्त्र विद्रोह को टालना। त्रात्स्की ने कहा कि दूसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के पहले सशस्त्र विद्रोह नहीं करना चाहिए। लेकिन लेनिन के अनुसार तब तक सशस्त्र विद्रोह की घड़ी निकल जाने का ख़तरा है और जब मज़दूरों और सैनिकों के जनसमुदाय बोल्शेविकों के साथ हैं, तो अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस का इन्तज़ार करना एक बुर्जुआ वैधिकता के भ्रम में फँसने के समान है। लेनिन ने तर्कों के साथ दिखलाया कि सशस्त्र विद्रोह के लिए जो सारी शर्तें पूरी होनी चाहिए, वे सभी पूरी हो चुकी हैं और अब इस काम को न करना बोल्शेविकों का ऐतिहासिक अपराध होगा।

पार्टी ने अन्तत: सशस्त्र विद्रोह की सक्रिय तैयारी शुरू कर दी। केन्द्रीय कमेटी के निर्णय के अनुसार पेत्रोग्राद सोवियत ने एक क्रान्तिकारी सैन्य कमेटी बनायी। केरेंस्की भी इसी बीच अपनी तैयारियाँ शुरू करने लगा और प्रतिक्रान्तिकारी फ़ौजी दस्तों को संगठित करने लगा। इसके अलावा, केरेंस्की की यह योजना भी थी कि पेत्रोग्राद को आगे बढ़ती जर्मन सेना को सौंप दिया जायेगा और राजधानी को मॉस्को स्थानान्तरित कर दिया जाये ताकि जर्मन सेना वह काम कर दे जो कि आरज़ी सरकार नहीं कर पा रही थी - बोल्शेविकों का दमन। साथ ही, इस बात के भी संकेत मिल रहे थे कि रूसी क्रान्ति के चढ़ते ज्वार को दबाने के लिए ब्रिटिश और जर्मन साम्राज्यवादियों

में भी एक अनकहा समझौता हो गया था क्योंकि ब्रिटिश फ्लीट ने पेत्रोग्राद की तरफ़ जर्मन सेना के कूच के रास्ते में कोई बाधा नहीं डाली।

16 अक्टूबर को केन्द्रीय कमेटी की एक और बैठक हुई। इसमें विद्रोह का संचालन करने के लिए एक पार्टी सैन्य केन्द्र स्थापित किया गया। ज़िनोवियेव और कामेनेव ने फिर से सशस्त्र विद्रोह के निर्णय का विरोध किया। लेकिन बहुमत ने उनकी आपत्ति को ख़ारिज़ कर दिया। उन्हें भी सशस्त्र विद्रोह की तैयारी में भूमिकाएँ सौंपी गयीं। लेकिन कामेनेव ने 18 अक्टूबर को एक ग़ैर पार्टी अख़बार *नोवाया जीज्न* में इस फ़ैसले को अनावृत्त कर दिया और ज़िनोवियेव और अपनी ओर से एक लेख प्रकाशित किया। यह आपराधिक ग़लती थी जिसका ख़ामियाज़ा समूची पार्टी और मज़दूर वर्ग को ख़ून देकर भुगतना पड़ सकता था। लेकिन चूँकि आरज़ी सरकार स्वयं कोई त्वरित क़दम उठाने की स्थिति में नहीं थी इसलिए ऐसा नहीं हो सका। फिर भी, उन्हें बोल्शेविकों की इस योजना का पता तो चल ही गया था। केरेंस्की सरकार ने बोल्शेविकों के हेडक्वार्टर यानी स्मोल्नी संस्थान पर हमला करने की योजना बनायी जो कि सफल नहीं हो पायी। इसके बाद उसने 24 अक्टूबर को बोल्शेविकों के केन्द्रीय मुखपत्र *राबोची पुत* को कुचलने का प्रयास किया जिसे सैनिकों और मज़दूरों के सशस्त्र जवाबी हमले ने नाकाम कर दिया। 24 अक्टूबर के *राबोची पुत* में सशस्त्र विद्रोह का आह्वान किया गया था। विद्रोह शुरू हो चुका था। 20 अक्टूबर से ही सभी सैन्य दस्तों, कारख़ानों और मिलों में विद्रोह की तैयारी शुरू हो चुकी थी और सभी सैन्य दस्तों व कारख़ानों में पार्टी ने क्रान्तिकारी सैन्य समिति की ओर से कमिसार भेजे थे। नौसेना के दस्तों को भी तैयारियों के निर्देश भेजे जा चुके थे। 24 अक्टूबर की रात लेनिन विद्रोह के संचालन के लिए बोल्शेविक हेडक्वार्टर स्मोल्नी आ गये थे। उसी रात फ़ौज के क्रान्तिकारी दस्ते और रेड गार्डों के दस्ते स्मोल्नी पहुँचने लगे, जिन्हें बाद में राजधानी के केन्द्र की तरफ़ भेज दिया गया ताकि वे शीत प्रासाद पर घेरा डाल सकें। पेत्रोग्राद ग़ैरीसन और पीटर्स एण्ड पॉल क़िले के सैनिकों को विद्रोह के पक्ष में लाने में त्रात्स्की ने अहम भूमिका निभायी।

25 अक्टूबर को रेड गार्ड्स ने रेलवे स्टेशनों, डाकघरों, टेलीग्राफ़ कार्यालयों, सचिवालयों व मन्त्रालयों और अन्य सत्ता प्रतिष्ठानों पर क़ब्ज़ा कर लिया। मेंशेविकों व समाजवादी-क्रान्तिकारियों की नौटंकी - प्रेद पार्लियामेण्ट भंग कर दी गयी। बोल्शेविक पार्टी के निर्देशन में पेत्रोग्राद सोवियत की सैन्य कमेटी के आदेश स्मोल्नी से जारी हो रहे थे और मज़दूरों व सैनिकों ने बड़े अनुशासन के साथ इन आदेशों का पालन किया। क्रोन्स्तात पहले से ही बोल्शेविकों का गढ़ था। नौसेना ने भी इस विद्रोह में महती भूमिका निभायी। अव्रोरा जलपोत ने 25 अक्टूबर को शीत प्रासाद पर गोला दागा और उसके साथ समाजवादी क्रान्ति के नये युग का सूत्रपात हुआ। आरज़ी सरकार गिर गयी। उसके मन्त्रियों को गिरफ़्तार कर लिया गया। पेत्रोग्राद में नाममात्र के प्रतिरोध के बाद आरज़ी सरकार के प्रति वफ़ादार दस्तों ने आत्मसमर्पण कर दिया। बोल्शेविकों ने "रूस के नागरिकों के नाम" नामक एक घोषणापत्र निकाला जिसमें आरज़ी सरकार के पतन और सोवियत सत्ता की स्थापना की घोषणा थी। मॉस्को में सशस्त्र संघर्ष आने वाले कुछ दिनों तक जारी रहा, लेकिन तब

तक समाजवादी क्रान्ति की विजय सुनिश्चित हो चुकी थी।

रात में लगभग ग्यारह बजे दूसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस हुई। इसमें बोल्शेविकों को भारी बहुमत मिला और मेंशेविक, दक्षिणपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारी व अन्य प्रतिक्रान्तिकारी गुट सोवियत से उठकर चले गये। मज़दूरों, किसानों व सैनिकों के प्रतिनिधियों के सोवियतों की कांग्रेस अब एक क्रान्तिकारी स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी। कांग्रेस ने घोषणा की कि पेत्रोग्राद के मज़दूर विद्रोह के समर्थन से सारी सत्ता अब सोवियतों के हाथों में आ चुकी है।

सोवियत समाजवादी क्रान्ति हो चुकी थी और रूस में पहली मज़दूर सत्ता स्थापित हो चुकी थी। क्रान्ति के बाद के पहले आठ माह सोवियत सत्ता के सुदृढ़ीकरण के चुनौतीपूर्ण माह थे, जिन पर हम अगले अध्याय में चर्चा करेंगे। उससे पहले हम थोड़ा पीछे लौटेंगे और फ़रवरी से लेकर अक्टूबर तक रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में और विशेष तौर पर बोल्शेविक पार्टी के भीतर चले प्रमुख विचारधारात्मक व राजनीतिक संघर्षों पर चर्चा करेंगे और साथ ही इस संघर्ष के विषय में प्रमुख इतिहासलेखन का एक आलोचनात्मक विवेचन करेंगे।

2. फ़रवरी क्रान्ति से अक्टूबर क्रान्ति के बीच रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में और बोल्शेविक पार्टी में दो लाइनों का संघर्ष

फ़रवरी से अक्टूबर के बीच रूस के सामाजिक-जनवादियों में सतत् बहसें जारी रहीं, जिसमें कि बोल्शेविक पार्टी ने लेनिन के नेतृत्व में क्रान्ति के स्वरूप के प्रश्न पर, भूमि प्रश्न पर, क्रान्ति के बाद के आर्थिक कार्यक्रम के प्रश्न पर, सांगठनिक कार्यदिशा के प्रश्न पर सामाजिक-जनवादियों (मेंशेविकों व अन्य मध्यमार्गी समूहों), त्रात्स्कीपन्थियों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों से अहम बहसें चलायीं। फ़रवरी से नवम्बर के बीच के घटनाक्रम ने लगातार बोल्शेविकों की विचारधारात्मक, राजनीतिक व कार्यक्रम-सम्बन्धी अवस्थिति को सही ठहराया। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं था कि बोल्शेविक पार्टी इन सही अवस्थितियों पर एकाश्मी रूप से पहुँची थी। **स्वयं बोल्शेविक पार्टी के भीतर दो लाइनों का तीखा संघर्ष लगातार जारी था।** यह संघर्ष न सिर्फ़ अक्टूबर क्रान्ति की पूर्वसन्ध्या तक जारी रहा बल्कि उसके बाद भी जारी रहा। हम यहाँ अक्टूबर तक बोल्शेविक पार्टी व अन्य राजनीतिक धाराओं के बीच बहसों और साथ ही बोल्शेविक पार्टी के भीतर चली बहसों का विवेचन करेंगे और यह भी दिखलाने का प्रयास करेंगे कि इन बहसों का न सिर्फ़ ऐतिहासिक सामान्य महत्व है, बल्कि समकालीन विशिष्ट महत्व है। इन बहसों की रोशनी में हम मौजूदा भारत में सर्वहारा आन्दोलन के भीतर मौजूद विजातीय प्रवृत्तियों पर भी जहाँ सम्भव हो अपनी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करेंगे।

हमने पहले भी इस बात का उल्लेख किया था कि ई.एच. कार का मानना है कि फ़रवरी क्रान्ति के अचानक होने से सभी राजनीतिक दल चौंक गये थे और उनमें बोल्शेविक पार्टी और लेनिन भी शामिल थे। साथ ही, कार समेत कई इतिहासकार यह सिद्ध करने के लिए यह दावा करते हैं कि वास्तव में लेनिन फ़रवरी क्रान्ति के ठीक पहले रूस में क्रान्ति की आसन्नता को लेकर उम्मीद

खो चुके थे। इसका आधार लेनिन की यह उक्ति है : **"हम जो कि पिछली उम्रदराज़ पीढ़ी के हैं, शायद आने वाली क्रान्ति की निर्णायक लड़ाइयों को देखने के लिए जीवित न बचें।"** (22 जनवरी 1917 को स्विस मज़दूरों को 1905 की रूसी क्रान्ति पर दिये गये एक व्याख्यान से)। लेकिन हालिया शोध ने दिखलाया है कि यह सही नहीं है। **लार्स टी. ली** ने अपनी पुस्तक **'लेनिन'** (2011, रीएक्शन बुक्स, लन्दन) में दिखलाया है कि 1916-17 की सर्दियों से ही सुदूर स्विट्ज़रलैण्ड में लेनिन और उनके बोल्शेविक साथियों को रूस में लगातार क़रीब आती क्रान्ति का अहसास था। दिसम्बर 1916 में लेनिन ने लिखा था, **"...बढ़ता जन असन्तोष, बढ़ती हड़तालें और प्रदर्शन रूसी बुर्जुआजी को स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करने को बाध्य कर रहे हैं कि रूसी क्रान्ति आगे बढ़ रही है।"** (लेनिन,1964, *थीसीज़ फ़ॉर ऐन अपील टू दि इण्टरनेशनल सोशलिस्ट कमिटी एण्ड ऑल सोशलिस्ट पार्टीज़*, **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-23**, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को)। 10 फ़रवरी 1917 को इनेस्सा आर्मां को लिखे एक पत्र में लेनिन बताते हैं कि मॉस्को में उनके सूत्र उन्हें बता रहे हैं कि मज़दूरों में क्रान्तिकारी माहौल बना हुआ है और आगे वे लिखते हैं, **"हमारी गली में जल्द ही छुट्टी का दिन आने वाला है।"** (रूसी में एक कहावत जिसका अर्थ है हमारा दिन आने वाला है)। आगे लार्स ली ने यह भी दिखलाया है कि उस समय लेनिन के क़रीबी साथी ज़िनोवियेव ने भी रूस में क्रान्तिकारी स्थिति के परिपक्व होने का ज़िक्र किया था। इसलिए यह कहना कि फ़रवरी क्रान्ति के बारे में लेनिन व बोल्शेविक पार्टी का कोई पूर्वानुमान नहीं था और इसने उन्हें पूरी तरह चौंका दिया, सही नहीं होगा। निश्चित तौर पर, कोई भी क्रान्तिकारी पार्टी फ़रवरी क्रान्ति जैसी घटना के दिन का निर्धारण नहीं कर सकती थी, लेकिन रूस में क्रान्तिकारी परिस्थिति के एक नयी दहलीज़ पर पहुँचने का आकलन लेनिन समेत कई बोल्शेविक क्रान्तिकारियों का था। हाँ, यह ज़रूर है कि फ़रवरी क्रान्ति ने उन ताक़तों को ज़रूर एक हद तक चौंका दिया था जो कि रूस में जनवादी क्रान्ति को पूरी तरह वैधिकता के दायरे में रखना चाहते थे और राजतन्त्र के साथ सहयोग-समझौते की रणनीति अपना रहे थे।

ई. एच. कार ने लिखा है कि फ़रवरी क्रान्ति के बाद मज़दूरों व सैनिकों के प्रतिनिधियों की पेत्रोग्राद सोवियत में मेंशेविकों के हावी होने का एक कारण यह था कि फ़रवरी क्रान्ति के तत्काल बाद की घटनाएँ मेंशेविक *स्कीमा* के अनुसार घटित होती हुई लग रही थीं और यही कारण था कि पेत्रोग्राद सोवियत में वे बहुसंख्या में आ गये और मेंशेविक नेता चखीद्ज़े को उसका पहला अध्यक्ष चुना गया। लेकिन यह दलील पूरी तरह सही नहीं लगती और ऐसा लगता है कि इसमें कारण को कार्य और कार्य को कारण की भूमिका दे दी गयी है। मेंशेविक *स्कीमा* यह था कि जनवादी क्रान्ति में बुर्जुआ वर्ग नेतृत्व करेगा और सर्वहारा वर्ग केवल एक आलोचनात्मक विपक्ष की भूमिका निभायेगा और पूँजीवाद के परिपक्व होने तक सभी *सही* मार्क्सवादी लोग बुर्जुआ वर्ग को एक आलोचनात्मक समर्थन देना जारी रखेंगे। लेकिन फ़रवरी क्रान्ति में मेंशेविक *स्कीमा* तात्कालिक तौर पर इसलिए सफल होता नज़र आया क्योंकि सोवियत ने नेतृत्व को अपने हाथों से बुर्जुआ हाथों में सौंप दिया। सोवियतों ने नेतृत्व को बुर्जुआ वर्ग के हाथों में इसलिए सौंप दिया

क्योंकि सोवियत में मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी नेतृत्व में थी। **यानी कि क्रान्ति का नेतृत्व बुर्जुआ हाथों में आ गया और मेंशेविक *स्कीमा* सही साबित हो गया इसलिए सोवियत में मेंशेविक नेतृत्व में आ गये ऐसा नहीं था, बल्कि सोवियत में मेंशेविक नेतृत्व में आ गये थे *इसीलिए* जनवादी क्रान्ति का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग के हाथों में नहीं आ सका और तात्कालिक तौर पर यह प्रतीतिगत यथार्थ उपस्थित हुआ कि चीज़ें मेंशेविक *स्कीमा* के अनुसार हो रही हैं।**

फ़रवरी क्रान्ति के तुरन्त बाद, जब ज़ार का तख्तापलट हो चुका था लेकिन अभी आरज़ी सरकार का गठन नहीं हुआ था तभी बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी के रूसी ब्यूरो ने अपना काम शुरू कर दिया। हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कि सभी प्रमुख केन्द्रीय कमेटी नेता या तो विदेश में थे या फिर साईबेरिया में निर्वासन में थे। ऐसे में, रूसी ब्यूरो को संगठित करने वाले प्रमुख बोल्शेविकों, यानी श्ल्याप्निकोव, मोलोतोव और ज़ालुत्स्की ने पार्टी की रणनीति को संचालित किया। उन्हें लेनिन, ज़िनोवियेव, कामेनेव या स्तालिन जैसे अधिक अनुभवी केन्द्रीय कमेटी सदस्यों से कोई निर्देश प्राप्त नहीं हो रहा था और उनके पास 1914 में लेनिन द्वारा प्रस्तुत युद्ध के समय सामाजिक-जनवादियों के कार्यभार सम्बन्धी थीसीज़, 1915 में पेश की गयी *थीसीज़* (जिन्हें लार्स टी. ली ने अक्टूबर थीसीज़ कहा है) और युद्ध और क्रान्ति के प्रश्न पर 1914 से 1916 के बीच लेनिन के छिटपुट लेखन के अलावा मार्गदर्शन के लिए और कोई स्रोत या सामग्री नहीं थी। ई. एच. कार का यह कहना बिल्कुल दुरुस्त है कि इन हालात के मद्देनज़र युवा बोल्शेविकों के इस रूसी ब्यूरो ने क़ाबिले-तारीफ़ काम किया। इसने 26 फ़रवरी को *इज़्वेस्तिया* में, जो कि पेत्रोग्राद सोवियत का मुखपत्र था, परिशिष्ट के रूप में बोल्शेविक पार्टी का एक पार्टी घोषणापत्र प्रकाशित किया। इसमें आरज़ी सरकार से सम्बन्ध के प्रश्न में कुछ नहीं कहा गया था क्योंकि तब तक आरज़ी सरकार बनी ही नहीं थी। आरज़ी सरकार का गठन 2 मार्च को हुआ। यह घोषणापत्र सर्वहारा वर्ग और क्रान्तिकारी सेना का आह्वान कर रहा था कि वह एक क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार स्थापित करे जो कि एक गणराज्य की स्थापना करे और जनवादी सुधार लागू करे, जैसे कि 8 घण्टे का कार्यदिवस, सभी जागीरों की ज़ब्ती, सार्वभौमिक मताधिकार और गुप्त वोट के ज़रिये एक संविधान सभा का निर्माण, खाद्यान्न भण्डार की ज़ब्ती और उसका वितरण, और सभी युद्धरत देशों के सर्वहारा वर्ग के साथ वार्ता की शुरुआत करके सभी देशों में दमनकारी सत्ताओं के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष की शुरुआत की जाये और नरसंहार के साम्राज्यवादी युद्ध का समापन किया जाये। घोषणापत्र के अन्त में सभी सैनिकों और मज़दूरों से इस क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार के लिए अपने प्रतिनिधियों को चुनने का आह्वान किया गया था और "क्रान्ति के लाल झण्डे", "जनवादी गणराज्य", "क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग" के नारों के साथ समापन किया गया था। लेनिन ने इस घोषणापत्र के लिए ब्यूरो की प्रशंसा की थी, विशेषकर, सभी युद्धरत देशों के सर्वहारा वर्ग से अन्तरराष्ट्रीयतावादी एकता स्थापित करने के बिन्दु पर। ग़ौरतलब है कि लेनिन ने इस घोषणापत्र के केवल कुछ हिस्से पढ़े थे जो कि जर्मन अख़बारों में छपे थे।

इसी दौरान लेनिन ने अपने प्रसिद्ध 'सुदूर से पत्र' लिखे जिसने रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में एक तीखी बहस की शुरुआत कर दी। **'सुदूर से पत्र'** लिखने की शुरुआत लेनिन ने 7 मार्च को की और उनका आख़िरी और पाँचवाँ पत्र 12 मार्च को लिखा गया। पहले पत्र में उन्होंने स्पष्ट किया कि आरज़ी सरकार भूस्वामी वर्ग और बुर्जुआ वर्ग की सरकार है और यह मेहनतकश वर्गों को धोखा देकर राजतन्त्र से समझौते करने का प्रयास करेगी; यह शान्ति, रोटी और ज़मीन नहीं दे सकती क्योंकि यह युद्ध में भागीदारी के पक्ष में है। लेनिन ने बताया कि उदार बुर्जुआ वर्ग और संशोधनवादी हमें बार-बार याद दिला रहे हैं कि अभी बुर्जुआ क्रान्ति की मंज़िल है इसलिए हमें बुर्जुआ वर्ग के पीछे चलना चाहिए। ऐसे में, कम्युनिस्टों को याद दिलाना चाहिए कि हर बुर्जुआ क्रान्ति में बुर्जुआ वर्ग ने थोथे वायदों से जनता को मूर्ख बनाया है और इस बार भी वह यही करेगा। ऐसे में, हमें मेहनतकश जनता को जनवादी क्रान्ति को मुक़ाम तक पहुँचाने के लिए क्रान्ति का नेतृत्व अपने हाथों में लेने को कहना चाहिए। लेनिन ने पहले पत्र के अन्त में यह भी कहा कि हम जनवादी क्रान्ति की मंज़िल से समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में संक्रमण कर रहे हैं।

दूसरे पत्र में, जो कि लेनिन ने 9 मार्च को लिखा था, लेनिन आरज़ी सरकार के वर्ग चरित्र को और स्पष्ट करते हैं और बताते हैं कि सोवियत सत्ता वास्तविक क्रान्तिकारी जनवादी सत्ता है। इस सत्ता ने आरज़ी सरकार पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए कुछ क़दम उठाये थे। लेनिन ने इन क़दमों का स्वागत किया लेकिन साथ ही यह भी कहा ये क़दम सिर्फ़ एक शुरुआत होने चाहिए। लेनिन ने आगे कहा कि समाजवादी गणराज्य की स्थापना की दिशा का अगला क़दम यह होना चाहिए कि सोवियत सत्ता को मज़दूर मिलिशिया खड़ा करने की ओर क़दम बढ़ाने चाहिए। ऐसी मज़दूर मिलिशिया के बल पर ही मज़दूर सत्ता खड़ी की जा सकती है, जो कि समूचे उत्पादन और वितरण के तन्त्र पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर सके।

तीसरे पत्र में लेनिन ने सर्वहारा के मिलिशिया और साथ ही आमतौर पर क्रान्ति के दूसरे चरण में संक्रमण के दौर में सर्वहारा वर्ग के संगठन की आवश्यकता पर बल दिया। लेनिन का मानना था कि पहले चरण में मिल्युकोव और गुचकोव जैसे कैडेटों और अक्टूबरवादियों ने सत्ता हासिल कर ली, हालाँकि ज़ारशाही का पतन मज़दूरों और सैनिकों के एक स्वत:स्फूर्त उभार के कारण हुआ था; इसका मूल कारण था रूसी बुर्जुआ वर्ग के संगठन का सर्वहारा वर्ग के संगठन से कहीं बेहतर स्थिति में होना। क्रान्ति जब दूसरे चरण में प्रवेश कर रही है, तो इसकी नियति इस बात पर निर्भर करती है कि सर्वहारा वर्ग किस हद तक अपने आपको संगठित कर पाता है। पहले चरण में सर्वहारा वर्ग ने बहादुरी और नायकत्व का प्रदर्शन कर ज़ारशाही को उखाड़ फेंका था। लेनिन ने लिखा, **"कमोबेश निकट भविष्य में (शायद ये पंक्तियाँ लिखे जाने के समय ही) आपको नायकत्व के वही चमत्कार फिर से करने होंगे ताकि आप भूस्वामियों और पूँजीपतियों के शासन को उखाड़ फेंकें जो साम्राज्यवादी युद्ध छेड़े हुए हैं। इस "अगली" वास्तविक क्रान्ति में आप *टिकाऊ जीत* नहीं हासिल कर पायेंगे अगर आप सर्वहारा संगठन के चमत्कार करके नहीं दिखाते।"** (लेनिन, 1964, **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-23**,

प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 323) आगे इसी पत्र में लेनिन ने स्पष्ट किया कि मज़दूर सोवियतें आने वाले समय में क्रान्तिकारी सत्ता के निकाय की भूमिका अदा करेंगी। ये वैसे ही निकाय हैं, जैसे कि पेरिस कम्यून। लेनिन ने कहा कि पूरे रूस में सर्वहारा वर्ग को अपनी सोवियतें खड़ी करनी होंगी और **उन्होंने विशेष ज़ोर देकर कहा कि क्रान्ति के दूसरे चरण में बोल्शेविक पार्टी को खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों (जो कि अनाज बेचते नहीं) की अलग सोवियतें बनानी चाहिए ताकि धनी किसानों के राजनीतिक वर्चस्व को तोड़ा जा सके। यह एक बहुत महत्वपूर्ण बिन्दु था।** लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि क्रान्ति के बाद एक संक्रमणकालीन दौर होगा जिसमें राज्यसत्ता की आवश्यकता होगी, लेकिन यह राज्यसत्ता बुर्जुआ राज्यसत्ता से अलग होगी जो कि नौकरशाहाना दमन का उपकरण होती है और जिसमें विधायिका और कार्यपालिका के बीच विभाजन होता है। समस्त सशस्त्र उत्पादक वर्ग ही विधान रचेंगे भी और उन्हें लागू भी करेंगे। सर्वहारा राज्यसत्ता इस रूप में अस्तित्वमान रहेगी। कहने की आवयश्कता नहीं है कि संक्रमणकालीन सर्वहारा राज्यसत्ता के बारे में लेनिन की अवधारणा क्रान्ति के बाद के दो-तीन वर्षों में और विकसित हुई और साथ ही संक्रमण के चरित्र, प्रकृति और इसके दीर्घकालिक चरित्र को लेकर भी लेनिन की सोच में कई बदलाव आये थे। लेकिन मूलत: लेनिन की अवधारणा वही थी, जो इस पत्र में प्रस्तुत की गयी थी। 11 मार्च को लिखे गये इस तीसरे पत्र का अन्त लेनिन इस उम्मीद से करते हैं कि रूसी सर्वहारा वर्ग तात्कालिक कार्यभार यानी सर्वहारा संगठन खड़ा करना, को पूरा करता है तो समाजवादी क्रान्ति के युग की शुरुआत रूस में होगी और उन्नत यूरोप में समाजवादी क्रान्तियाँ इसकी अन्तिम विजय को सुनिश्चित करेंगी।

12 मार्च को लिखे चौथे पत्र में लेनिन ने **मक्सिम गोर्की** के "क्रान्तिकारी रक्षावाद" के तर्क पर तीखी चोट की और स्पष्ट किया कि फ़रवरी क्रान्ति और मिल्युकोव-गुचकोव की सरकार के सत्ता में आने के बाद युद्ध को न्यायपूर्ण युद्ध और क्रान्ति की रक्षा में लड़ा जा रहा युद्ध समझना टटपुँजिया मूर्खता है। मूलत: यह सरकार बुर्जुआ और भूस्वामी वर्ग की सरकार है जो कि फ्रांसीसी और ब्रिटिश वित्तीय पूँजी से नाभिनालबद्ध है। यह सरकार अपने साम्राज्यवादी मंसूबों और अपने साम्राज्यवादी मित्र देशों के हितों के लिए युद्ध में रूसी सैनिकों का क़त्लेआम करवा रही है। यही कारण है कि मिल्युकोव-गुचकोव ने साम्राज्यवादी गुप्त सन्धियाँ सबके सामने खोलकर नहीं रखी हैं। जो भी न्यायपूर्ण और जनवादी शान्ति चाहता है, उसे यह समझ लेना चाहिए कि कोई भी बुर्जुआ सरकार साम्राज्यवाद के दौर में यह न्यायपूर्ण व जनवादी शान्ति मुहैया नहीं करा सकती है। केवल और केवल सर्वहारा सरकार ही न्यायपूर्ण और जनवादी शान्ति स्थापित कर सकती है। ऐसी सरकार सत्ता में आते ही सारे युद्धरत देशों से तत्काल युद्ध-विराम की माँग करेगी, समस्त गुप्त सन्धियों को प्रकाशित कर देगी, शान्ति की शर्त के तौर पर सभी उपनिवेशों और दमित राष्ट्रीयताओं की मुक्ति की माँग करेगी, सभी देशों के सर्वहारा वर्ग से अपने देश की पूँजीपति वर्ग की सत्ता उखाड़ फेंकने और मज़दूर प्रतिनिधियों की सोवियतों के शासन को स्थापित करने का आह्वान करेगी और केवल ऐसी सत्ता के अस्तित्व में आने पर ही न्यायपूर्ण और जनवादी शान्ति

की उम्मीद की जा सकती है। इन शर्तों के न माने जाने की सूरत में सोवियत सरकार कुछ या सभी बुर्जुआ देशों के ख़िलाफ़ युद्ध लड़ सकती है और जीत सकती है और यह एक न्यायपूर्ण युद्ध होगा जो कि क्रान्ति की ज्वाला को इन देशों में भी भड़का देगा।

26 मार्च को लिखे आख़िरी पत्र में लेनिन ने पिछले चार पत्रों में पेश अवस्थितियों का सार-संक्षेप करने के बाद स्पष्ट किया कि युद्ध ने वह स्थिति पैदा कर दी है जिसमें कि सर्वहारा वर्ग इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में आ गया है। सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति के दूसरे चरण को पूर्ण करने के लिए अपनी सत्ता स्थापित करनी होगी और शान्ति और ज़मीन की माँग केवल और केवल तभी पूरी हो सकती है। लेनिन स्पष्ट करते हैं कि किसानों की माँग यदि अभी भी यही है जो कि 1906 में त्रुदोविकों ने रखी थी, तो वह माँग भी सर्वहारा क्रान्ति ही पूरा कर सकती है, यानी भूमि का राष्ट्रीकरण और उसका भोगाधिकार के आधार पर उन किसानों में वितरण जो कि अपनी मेहनत से खेती करते हैं। इसके लिए खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों की अलग सोवियतें स्थापित करने का काम तत्काल शुरू किया जाना चाहिए। किसानों के आन्दोलन की मदद से ही सर्वहारा वर्ग सत्ता हासिल कर सकता है। सत्ता हासिल करने के बाद भी सर्वहारा वर्ग रूस जैसे देश में पहले चरण में समाजवाद की ओर कुछ संक्रमणात्मक क़दम उठायेगा, जैसे कि समूचे सामाजिक उत्पादन तथा वितरण पर नियन्त्रण स्थापित करना, सार्वभौमिक श्रमदान की व्यवस्था करना, आदि। हम देख सकते हैं कि 'समाजवाद की ओर पहले क़दमों' के बारे में लेनिन के विचार अभी रूप ले रहे थे। अप्रैल थीसीज़ में लेनिन ने इन विचारों को ज़्यादा पूर्ण रूप में रखा।

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि 'सुदूर से पत्र' अप्रैल थीसीज़ के तार्किक पूर्वज हैं और अगर अप्रैल थीसीज़ को इन पाँच पत्रों के साथ पढ़ा जाये तो लेनिन के विचारों के विकसित होने की प्रक्रिया को ज़्यादा बेहतर तरीक़े से समझा जा सकता है। अप्रैल थीसीज़ पर हम थोड़ा आगे और विस्तार से चर्चा करेंगे। अभी हम इतना बता दें कि जब 'सुदूर से पत्र' लिखे गये उस समय लेनिन, जो कि ज्यूरिख में थे, और रूस के पार्टी संगठनों के बीच सम्पर्क बहुत ही नाममात्र का था। जैसा कि **अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच** ने लिखा है, "लेकिन मार्च, 1917 में ज्यूरिख में लेनिन और रूस में पार्टी संगठनों के बीच सीधा संवाद लगभग था ही नहीं, और किसी भी सूरत में पार्टी की नीतियों के लिए कोई प्रभावी तालमेल होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। युद्ध के प्रश्न पर राजधानी में मौजूद बोल्शेविक नेतृत्व पूरी तरह लेनिन के साथ था। केन्द्रीय कमेटी के रूसी ब्यूरो की 7 मार्च को हुई बैठक में अन्त में यह कहा गया, "(युद्ध के प्रति) हमारा रवैया नहीं बदला है क्योंकि यह युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध है"...पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी भी उसी दिन मिली और उसने भी युद्ध पर इसी से मिलता-जुलता प्रस्ताव पारित किया।" (अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच, 1991, **'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन : दि पेत्रोग्राद बोल्शेविक्स एण्ड दि जुलाई 1917 अपराइज़िंग'**, इण्डियाना यूनीवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन एण्ड इण्डियानापोलिस, पृ. 34)

रैबिनोविच आगे बताते हैं कि पार्टी के दायरों में एक बहस जारी हो गयी थी। आरज़ी सरकार के प्रश्न पर पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी ने लेनिन की कार्यदिशा का विरोध किया, वहीं वाइबोर्ग ज़िला

कमेटी ने "वामपन्थी" अवस्थिति अपनाते हुए तत्काल बुर्जुआ व भूस्वामी वर्ग की सरकार का तख़्तापलट करने और सत्ता पर क़ब्ज़ा करने की बात की। 13 मार्च को स्तालिन, मुरानोव और कामेनेव के निर्वासन से लौटने के बाद पार्टी दायरों में बहस और बढ़ गयी। युद्ध के प्रश्न पर भी कुछेक बोल्शेविकों ने दक्षिणपन्थी अवस्थिति अपनायी जैसे कि कामेनेव। आरज़ी सरकार के प्रश्न पर शर्तों समेत समर्थन या उसके प्रति अविश्वासपूर्ण रवैया रखने वाली बीच की स्थिति रखने वाले बोल्शेविक भी मौजूद थे, जैसे कि स्तालिन। लेकिन स्तालिन का रवैया लेनिन के रूस आगमन के ठीक पहले काफ़ी हद तक आरज़ी सरकार के प्रति काफ़ी शत्रुतापूर्ण बन चुका था, हालाँकि अभी भी वे लेनिन की अवस्थिति पर नहीं पहुँचे थे।

फ़रवरी क्रान्ति के बाद आरज़ी सरकार को पेत्रोग्राद सोवियत के दबाव में जो जनवादी सुधार लागू करने पड़े थे, जिनमें प्रेस व अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता भी शामिल था, उनके कारण बोल्शेविक पार्टी के लिए आसान हो गया कि वह अपने मुखपत्र *प्राव्दा* की फिर से शुरुआत कर सके। इसका पहला अंक 5 मार्च 1917 को प्रकाशित हुआ जिसे मुफ्त में वितरित किया गया। दूसरे अंक की क़रीब एक लाख प्रतियाँ बिकीं। पहले सात अंकों में ब्यूरो द्वारा *इज़्वेस्तिया* में प्रकाशित पार्टी घोषणापत्र के ही विभिन्न पहलुओं को विस्तार से समझाने का काम किया गया था। इसमें बुर्जुआ आरज़ी सरकार को, जो कि अब तक गठित हो चुकी थी, रूसी पूँजीपति वर्ग और भूस्वामी वर्ग की सरकार बताया गया था और पेत्रोग्राद सोवियत का आह्वान किया गया था कि वह सत्ता अपने हाथों में लेकर एक संविधान सभा बुलाये। युद्ध के प्रश्न पर इसमें कहा गया था कि यह साम्राज्यवादी युद्ध है जिसमें पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए सभी देशों के मज़दूरों से एक-दूसरे का क़त्ले-आम करवाया जा रहा है और इसे गृहयुद्ध में तब्दील कर देना चाहिए जिससे कि सभी देशों के सर्वहारा वर्ग को पूँजीवाद के जुए से मुक्ति मिल सके। लेकिन अभी भी, जैसा कि ई.एच. कार ने लिखा है, अख़बार में लेनिन के शब्दों में साम्राज्यवादी युद्ध को क्रान्तिकारी गृहयुद्ध में बदल देने और 'अपनी सरकार को हराने' के क्रान्तिकारी पराजयवाद की कार्यदिशा को खुलकर नहीं लिखा जा रहा था। कुछ अंकों में तो कुछ ऐसे लेख भी प्रकाशित हुए जो कि क्रान्तिकारी रक्षावाद की मेंशेविक कार्यदिशा की तरफ़ झुकाव रखते थे। जैसे कि 10 मार्च 1917 के अंक में ओल्मिंस्की का एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें यह लिखा था, "(बुर्जुआ) क्रान्ति अभी पूरी नहीं हुई है। हम अभी भी "एक साथ हमला करने" के नारे के तहत ही हैं। पार्टी के मामलों में, हर पार्टी अपने अनुसार काम करे; लेकिन साझा उद्देश्य के लिए सभी एक हों।" (ई.एच. कार, 1978, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन 1917-1923', खण्ड 1**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कम्पनी, लन्दन, में उद्धृत , पृ. 74)

युद्ध पर अवस्थिति को लेकर *प्राव्दा* में जो भ्रमित बातें आ रही थीं, उनमें एक और जटिलता भी जुड़ गयी। पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी फ़रवरी क्रान्ति के बाद पुनर्जीवित हो गयी थी। इसने यह अवस्थिति अपनायी कि जब तक बुर्जुआ आरज़ी सरकार सर्वहारा वर्ग और व्यापक जनसमुदायों के हितों का उल्लंघन नहीं करती तब तक उसका समर्थन किया जाना चाहिए। मोलोतोव ने हर

सम्भव प्रयास किया कि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी को इस ग़लत अवस्थिति से अलग करें, लेकिन वे सफल नहीं हो पाये। 13 मार्च को इसी भ्रम की स्थिति में साईबेरिया में निर्वासन से तीन केन्द्रीय कमेटी सदस्य वापस लौट आये - स्तालिन, कामेनेव और मुरानोव। स्तालिन 1912 के बोल्शेविक पार्टी के प्राग सम्मेलन (जिसमें बोल्शेविक पार्टी एक अलग पार्टी के रूप में संगठित हुई थी) से ही केन्द्रीय कमेटी सदस्य थे। कामेनेव भी अनुभवी पार्टी लेखक और पार्टी मुखपत्र *राबोचाया गज़ेटा* के नियमित लेखकों में से एक थे। मुरानोव पार्टी के दूमा धड़े के सदस्य, एक उम्दा संगठनकर्ता और पार्टी की ओर से चौथी दूमा में चुने भी गये थे। इन सभी ने एक साथ 1912 के पुराने *प्राव्दा* पर काम भी किया था। *प्राव्दा* और केन्द्रीय कमेटी के रूसी ब्यूरो का नेतृत्व अब इन लोगों ने अपने हाथों में ले लिया। स्तालिन पेत्रोग्राद के प्रमुख पार्टी संगठनकर्ता बन गये, मुरानोव *प्राव्दा* के सम्पादक बन गये और स्तालिन व कामेनेव सम्पादक मण्डल में शामिल हो गये। ई.एच. कार यह क़यास लगाते हैं कि इससे श्ल्याप्निकोव और मोलोतोव अवश्य नाख़ुश हुए होंगे लेकिन उन्होंने कुछ बोला नहीं क्योंकि एक बेहद जटिल सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक परिस्थिति में ज़िम्मेदारी उनके सिर से हट गयी थी। आगे कार कहते हैं कि इस दौर के लिए श्ल्याप्निकोव के संस्मरण उनके एकमात्र स्रोत हैं, जिसमें श्ल्याप्निकोव नाख़ुश होने के बारे में कुछ नहीं कहते। मोलोतोव ऐसे मसलों पर कभी ज़्यादा नहीं बोलते थे और वे भी चुप रहे। ऐसे में सवाल यह उठता है कि कार इस प्रकार की अटकल लगा ही क्यों रहे हैं? ऐसी अटकल का कोई आधार नहीं है। कार भी मानते हैं कि केन्द्रीय कमेटी के मुख्य तीन सदस्यों के वापस आने के बाद कामों का उनके द्वारा हाथ में लिया जाना नैसर्गिक है। ऐसे में, *हम* यह क़यास लगा सकते हैं कि अपनी प्रशंसनीय वस्तुपरकता के बावजूद कई बार कार अपने प्रेक्षणों में **इज़ाक डॉइशर** व त्रॉत्स्की के मूल्यांकनों के प्रभाव को आने से रोक नहीं पाते हैं।

स्तालिन ने 14 मार्च के *प्राव्दा* में एक लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने पार्टी में युद्ध और आरज़ी सरकार के प्रति रवैये को लेकर हावी इस भ्रम की स्थिति के कारण एक ऐसी अवस्थिति रखी जिसमें युद्ध और आरज़ी सरकार के प्रश्न पर ज़्यादा कुछ नहीं कहा गया था। इसमें एक सामान्य बात कही गयी थी कि फ़रवरी क्रान्ति में जो कुछ जीता गया है, उसे सुरक्षित किया जाना चाहिए और रूसी क्रान्ति को आगे ले जाने और पुरानी शक्तियों को पराजित करने के लिए जो सम्भव हो वह करना चाहिए। स्पष्ट है, पूरी पार्टी में अभी स्पष्टता की कमी थी। 'बोल्शेविक पार्टी के इतिहास' में इस पहलू का ज़िक्र नहीं आता कि शुरुआत में स्तालिन भी पूरी तरह इस मसले पर स्पष्ट नहीं थे कि युद्ध और आरज़ी सरकार के प्रति क्या रवैया अपनाया जाना चाहिए। बस इस आंशिक सत्य का ज़िक्र है कि स्तालिन ने इस लेख के तुरन्त बाद ही आरज़ी सरकार के प्रति एक अविश्वास की नीति अपना ली थी। 15 मार्च को कामेनेव ने *प्राव्दा* में एक लेख लिखा जो कि पूरी तरह से बोल्शेविक नीति और युद्ध और क्रान्ति पर लेनिन की सोच के विरुद्ध था। इसमें कामेनेव ने क्रान्तिकारी रक्षावाद की कार्यदिशा का समर्थन किया। कामेनेव ने लिखा, "जब सेना सेना के सामने खड़ी होती है तो यह सुझाव देना सबसे बेहूदा नीति होगी कि एक सेना अपने

हथियार डाले और घर लौट जाये। यह शान्ति नहीं बल्कि दासता की नीति होगी, जो किसी भी स्वतन्त्र जनता द्वारा घृणा के साथ अस्वीकार कर दी जायेगी।" (कार, 1978, में उद्धृत, पृ. 75) इतिहास ने दिखलाया कि इस उद्धरण में कामेनेव लेनिन की नीति को ग़लत तरीक़े से पेश कर रहे थे और लेनिन की जो नीति थी उसे जनता ने घृणा से ठुकराया नहीं बल्कि जून आते-आते उसी के पक्ष में खड़ी हो गयी। लेनिन ने हमेशा इस बात का विरोध किया था कि जनता की स्वत:स्फूर्त और बुर्जुआ राष्ट्रवाद से प्रेरित भावनाओं के अनुसार कम्युनिस्ट अपनी नीति तय करें। हिरावल का काम आम मेहनतकश जनसमुदायों की स्वत:स्फूर्त व टटपुँजिया भावनाओं व चेतनाओं के पीछ घिसटना नहीं होता, बल्कि सर्वहारा दृष्टिकोण से उसे नेतृत्व देना होता है। लेनिन को राष्ट्रीय पराजयवाद की नीति के सहीपन पर पूरा भरोसा था। ज़िम्मरवॉल्ड कॉन्फ्रेंस में लेनिन ने युद्ध-विरोध पर एकजुट सामाजिक-जनवादियों के बीच उन लोगों का विरोध किया था जो कि युद्ध का विरोध करते हुए शान्तिवाद का समर्थन कर रहे थे और उन्होंने इस बात की वकालत की थी कि साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में बदला जाना चाहिए, जो कि पूँजीपतियों के शासन के विरुद्ध एक न्यायपूर्ण युद्ध होगा। लेनिन के साथ जो छोटी सी अल्पसंख्यक आबादी खड़ी हुई उन्हें वामपन्थी ज़िम्मरवॉल्डियन कहा गया। **लार्स टी. ली** ने इन्हें ठीक ही 'अल्पसंख्या के भीतर अल्पसंख्या' नाम दिया है क्योंकि समूचे यूरोपीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में ज़िम्मरवॉल्ड कॉन्फ्रेंस में शिरकत करने वाले सामाजिक-जनवादी ही एक अल्पसंख्या थे। एक छोटी-सी संख्या के समर्थन के बावजूद लेनिन में अपनी कार्यदिशा के सर्वहारा सहीपन को लेकर पूरा आत्मविश्वास था। 1915 कार्ल रादेक को लिखे गये पत्र में इस आत्मविश्वास को देखा जा सकता है। लेनिन अपने समर्थन में खड़े लोगों को जोड़ते हुए लिखते हैं, **"डच *प्लस* हम लोग *प्लस* वामपन्थी जर्मन *प्लस* शून्य - लेकिन इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता क्योंकि बाद में यह *शून्य* नहीं बल्कि *हर व्यक्ति* होगा।"** (लार्स टी. ली, 2011, **'लेनिन'**, रीएक्शन प्रेस, लन्दन में उद्धृत)

अब अगर लेनिन के इस अप्रोच से कामेनेव के अप्रोच की तुलना की जाये, तो एक सर्वहारा हिरावल के रुख़ और एक टटपुँजिया वामपन्थी लोकरंजक रुख़ का फ़र्क़ समझा जा सकता है। यहाँ पर यह भी ज़िक्र करना प्रासंगिक होगा कि अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच ने क्रान्तिकारी पराजयवाद की लेनिन की नीति को एकदम ग़लत तरीक़े से समझा है। रैबिनोविच लिखते हैं, "अब, अगस्त 1914 के आख़िरी दिनों में, बर्न, स्विट्ज़रलैण्ड से लेनिन ने "युद्ध पर थीसीज़" में "समाजवाद से ग़द्दारी" करने के लिए द्वितीय इण्टरनेशनल के नेताओं की निन्दा की और तात्कालिक सामाजिक जनवादी नारे के तौर पर सभी देशों में सामाजिक क्रान्ति को मज़बूत बनाने का प्रस्ताव रखा। इसके अलावा, उन्होंने अपने आप को सभी दूसरे रूसी अन्तरराष्ट्रीयतावादी समूहों से एकदम अलग करते हुए तर्क दिया कि *जर्मनी के हाथों रूस की पराजय* वांछनीय है क्योंकि इसके ज़रिये राजतन्त्र कमज़ोर होगा। द्वितीय इण्टरनेशनल के तीखे खण्डन में, शान्ति की बजाय गृहयुद्ध पर अपने ज़ोर में और *रूस के लिए पराजयवाद* के अपने समर्थन में, लेनिन का कार्यक्रम अचम्भित कर देने की हद तक अतिरेकपूर्ण था।" (रैबिनोविच, 1991, **'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन'**, इण्डियाना यूनीवर्सिटी प्रेस,

ब्लूमिंगटन एण्ड इण्डियाना, पृ. 17, ज़ोर हमारा है) **स्पष्ट है कि रैबिनोविच एक बुनियादी बात नहीं समझते कि लेनिन ने यह कार्यदिशा 1914 में अन्तरराष्ट्रीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के लिए पेश की थी, न कि सिर्फ़ रूस के सामाजिक-जनवादियों के लिए। लेनिन केवल रूस के मज़दूर वर्ग का आह्वान नहीं कर रहे थे कि वह अपनी सरकार को हराये, बल्कि सभी युद्धरत देशों के मज़दूर वर्ग का आह्वान कर रहे थे कि वे साम्राज्यवादी युद्ध में पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए नहीं, बल्कि अपने असल दुश्मन यानी अपने देश के पूँजीपति वर्ग से लड़ें, उसे उखाड़ फेंकें और सर्वहारा सत्ता क़ायम करें।** लेकिन रैबिनोविच ने लेनिन की कार्यदिशा को यहाँ इस तरह से प्रस्तुत किया है, मानो वे केवल रूस के लिए पराजयवाद की वकालत कर रहे हों। 1917 में भी लेनिन की और अधिकांश बोल्शेविकों की युद्ध पर यही अवस्थिति थी। कामेनेव की अवस्थिति इसके विपरीत थी।

स्तालिन ने कामेनेव के रुख़ का कड़ाई से विरोध किया और साथ ही ज़िम्मरवॉल्ड के बहुमत के बरक्स लेनिन के वामपन्थी ज़िम्मरवॉल्डियन रुख़ का समर्थन किया। लेकिन तमाम अकादमिक लेखकों की तरह, जो कि स्तालिन के प्रति पूर्वाग्रहित होते हैं और कई बार जानबूझकर तथ्यों के साथ दुराचार करते हैं, **अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच** ने भी स्तालिन की अवस्थिति को जानबूझकर ग़लत रूप में पेश किया है। रैबिनोविच दावा करते हैं कि स्तालिन की अवस्थिति युद्ध पर वही थी जो कि कामेनेव की थी और उन्होंने कामेनेव के लेख के एक दिन बाद यानी 16 मार्च को *प्राव्दा* में एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि "युद्ध मुर्दाबाद का नारा बेकार है।" हम पहले रैबिनोविच को उद्धृत करेंगे और फिर स्तालिन के उस लेख से उद्धरण पेश करके दिखलायेंगे कि किस तरह रैबिनोविच ने (निश्चित तौर पर) जानबूझकर स्तालिन के कथन को सन्दर्भ से काटकर पेश किया ताकि स्तालिन को मेंशेविक और कामेनेव की अवस्थिति पर खड़ा हुआ दिखलाया जा सके। रैबिनोविच लिखते हैं, "इस तरह इसके बाद कामेनेव और स्तालिन के लेखों ने आरज़ी सरकार के लिए सीमित समर्थन की वकालत की, "युद्ध मुर्दाबाद" के नारे को ठुकराया और मोर्चे पर विसंगठनकारी गतिविधियों को समाप्त करने की वकालत की। कामेनेव ने प्राव्दा में 15 मार्च को लिखा, "जब शान्ति नहीं है तो लोगों को अपने पदों पर बने रहना चाहिए, और तोप के गोलों का तोप के गोलों से गोलियों का गोलियों से जवाब देना चाहिए।" अगले दिन स्तालिन ने इसी को दुहराया, ' 'युद्ध मुर्दाबाद' एक बेकार नारा है।' " (रैबिनोविच, 1991, **'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन'**, इण्डियाना यूनीवर्सिटी प्रेस, ब्लूमिंगटन एण्ड इण्डियाना, पृ. 36) यह तथ्यों का कितना भयंकर और आपराधिक विकृतिकरण है इसको प्रदर्शित करने के लिए हम स्तालिन के 16 मार्च के *प्राव्दा* में छपे लेख का उद्धरण पेश करेंगे। स्तालिन लिखते हैं :

"मौजूदा युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध है। इसका मुख्य लक्ष्य है पूँजीवादी रूप से उन्नत राज्यों द्वारा विदेशी, मुख्य रूप से कृषि, क्षेत्रों को हड़पना (क़ब्ज़ा करना)। उन्हें नये बाज़ार, इन बाज़ारों से सुविधाजनक संचार, कच्चे माल और खनिज भण्डार चाहिए और वे हर जगह उसे हासिल करने के लिए प्रयास करते हैं...और यही कारण है कि रूस में

मौजूदा स्थिति इस बात का शोर मचाने और घोषणा करने का कोई कारण नहीं देती कि, ''स्वतन्त्रता खतरे में है! युद्ध ज़िन्दाबाद!''

''और जिस तरह उस समय (1914 में) फ़्रांस में कई समाजवादियों (गुएस्दे, सेम्बात, आदि) के बीच यह खलबली मच गयी थी, उसी तरह रूस में भी कई समाजवादी ''क्रान्तिकारी रक्षावाद'' की घण्टी बजाने वाले बुर्जुआ कारिन्दों के पदचिन्हों पर चल रहे हैं।

''फ़्रांस में आगे के घटनाक्रम ने दिखलाया कि इस बात को लेकर ख़तरे की घण्टी बजाना एक झूठ है और स्वतन्त्रता और गणराज्य के बारे में चीख़-पुकार वास्तव में इस तथ्य को छिपाने का एक आवरण था कि फ़्रांसीसी साम्राज्यवादी आल्सेस-लॉरेन और वेस्टफ़ालिया के लिए ललचाये हुए हैं।

''हम पूरी तरह विश्वस्त है कि रूस में मौजूदा घटनाक्रम अन्ततः दिखलायेगा कि ''स्वतन्त्रता ख़तरे में है'' की उन्मादी चीख़ें किस क़दर झूठी हैं : ''देशभक्तिपूर्ण'' धूम्रावरण छँट जायेगा और लोग ख़ुद ही देखेंगे कि रूसी साम्राज्यवादी आख़िर किसी चीज़ के पीछे भाग रहे थे - जलडमरूमध्य और ईरान।

''गुएस्दे, सेम्बात और उस जैसों का ज़िम्मरवॉल्ड और कियेंथॉल समाजवादी कांग्रेसों में सही ही मूल्यांकन किया गया था।

''आगे की घटनाओं ने ज़िम्मरवॉल्ड और कियेंथॉल की थीसीज़ के सहीपन और उपयोगीपन को पूरी तरह सिद्ध किया है।...

हमारा, एक पार्टी के तौर पर मौजूदा युद्ध पर क्या रुख़ होना चाहिए?...

पहली बात तो यह, कि यह प्रश्नेतर है कि यह कोरा नारा, ''युद्ध मुर्दाबाद!'' व्यावहारिक कार्यों के लिए एकदम अनुपयुक्त है, क्योंकि, यह शान्ति के विचार के आमतौर पर प्रचार से आगे नहीं जाता, यह युद्धरत शक्तियों पर युद्ध को रोकने के लिए बाध्य करने के लिए व्यावहारिक दबाव बनाने के लिए कुछ भी मुहैया कराने में सक्षम नहीं है और न ही हो सकता है।'' (स्तालिन, 1954, *'युद्ध'*, (16 मार्च 1917), **वर्क्स, खण्ड-3**, फ़ॉरेल लैंगुएजेज़ पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को)

आगे स्तालिन बताते हैं कि युद्ध ख़त्म करने का एक ही रास्ता हो सकता है और वह यह है कि तमाम युद्धरत देशों का मज़दूर वर्ग अपने शासक वर्गों पर युद्ध ख़त्म करने के लिए क्रान्तिकारी दबाव बनाये। साफ़ है कि स्तालिन अभी लेनिन की "क्रान्तिकारी पराजयवाद" की कार्यदिशा तक नहीं पहुँचे थे। लेकिन रूस में लेनिन की इस रैडिकल कार्यदिशा के सबसे क़रीब स्तालिन ही थे। हमने स्तालिन का यह लम्बा उद्धरण इसलिए पेश किया ताकि अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच जैसे अमेरिकी (वैसे रैबिनोविच मूलत: रूसी हैं। रैबिनोविच के पिता क्रान्ति के बाद 1918 में रूस से भाग गये थे) इतिहासकारों द्वारा स्तालिन के विषय में फैलाये जाने वाले झूठ के स्तर को समझ सकें। इसके अलावा लेनिन के आने से पहले ही स्तालिन पुख्ता तरीक़े से युद्ध का विरोध कर

रहे थे (हालाँकि, वे ज़िम्मरवॉल्ड-कियेंथॉल लाइन पर सभी युद्ध विरोधियों की एकता स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे, जिस लाइन पर मेंशेविक प्रभाव से इंकार नहीं किया जा सकता है), इसे जानने के लिए स्तालिन के कुछ अहम लेख देखे जा सकते हैं, जैसे कि 18 मार्च 1917 का लेख 'रूसी क्रान्ति के विजय की शर्तें' और 16 मार्च 1917 का लेख 'बिडिंग फ़ॉर मिनिस्टीरियल पोर्टफ़ोलियोज़'। इन लेखों को देखने से भी रैबिनोविच जैसे इतिहासकारों का यह आरोप निराधार सिद्ध हो जाता है कि स्तालिन ने युद्ध में भागीदारी का समर्थन किया था। ध्यान देने योग्य बात है कि त्रात्स्की ने भी स्तालिन पर यही आरोप लगाया है। हमने थोड़ा विस्तार से इस आरोप का खण्डन करना ज़रूरी समझा क्योंकि यद्यपि स्तालिन लेनिन की अवस्थिति पर नहीं पहुँचे थे, मगर वे कामेनेव की अवस्थिति पर भी नहीं थे। ग़ौरतलब है, ई.एच. कार के बाद अगर पश्चिमी अकादमिक जगत में किसी इतिहासकार के काम की सबसे ज़्यादा चर्चा हुई है तो वह अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच हैं और उनके काम का यह स्तर है कि वे स्तालिन के बारे में ऐसी आधारहीन टिप्पणी करते हैं। यहाँ यह भी बताना ज़रूरी है कि आरज़ी सरकार के बारे में भी स्तालिन का ठीक वही रुख़ नहीं था जो कि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी का था। स्तालिन का रुख़ अगर मोलोतोव के समान आरज़ी सरकार की सीधी मुख़ालफ़त का नहीं था, तो स्पष्ट समर्थन का भी नहीं था। स्तालिन का रुख़ मूलत: और मुख्यत: आरज़ी सरकार के प्रति अविश्वास का था। इसे भी रैबिनोविच ग़लत तरीक़े से पेश करते हैं।

बहरहाल, कामेनेव के 15 मार्च के इस लेख के प्रकाशन पर पेत्रोग्राद के कारख़ाना मज़दूरों और अन्य बोल्शेविकों की तीखी प्रतिक्रिया आयी। स्तालिन और मुरानोव ने एक बैठक में इस रुख़ की कड़ी आलोचना की। इस बैठक में पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी, रूसी ब्यूरो के सदस्य, और साईबेरिया में निर्वासन से लौटे बोल्शेविक शामिल थे। बहुमत ने आरज़ी सरकार के प्रति एक तटस्थ नीति अपनाने का निर्णय किया जबकि युद्ध के मामले में मेंशेविकों की क्रान्तिकारी रक्षावाद की नीति का विरोध करने का निर्णय किया गया। स्तालिन ने आरज़ी सरकार के प्रति ज़्यादा पुख्ता तरीक़े से अविश्वास प्रकट किया हालाँकि उन्होंने क्रान्ति के दूसरी मंज़िल में प्रवेश और नेतृत्व को सर्वहारा हाथों में लेने की वकालत नहीं की। स्तालिन ने भी अभी आरज़ी सरकार के खुले विरोध की नीति नहीं अपनायी थी। स्तालिन का ऐसा कहना नहीं था कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के पूरा होने तक और पूँजीवाद के परिपक्व होने तक आरज़ी सरकार का समर्थन किया जाये जैसा कि मेंशेविक कह रहे थे। लेकिन स्तालिन बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के पूरा होने की प्रक्रिया में ही सर्वहारा वर्ग द्वारा नेतृत्व अपने हाथों में लेने की बात भी नहीं कर रहे थे। आगे चलकर स्तालिन ने त्रात्स्की के साथ अपनी बहस के दौरान अपनी इस ग़लती को स्वीकार किया था, हालाँकि 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में इसका स्पष्टता से ज़िक्र नहीं मिलता।

बहरहाल, इस अनिर्णय का कारण यह था कि क्रान्ति की मंज़िल को लेकर बोल्शेविक पार्टी में भी अभी एक विभ्रम की स्थिति बनी हुई थी। एक ओर यह आम राय बनी हुई थी कि क्रान्ति बुर्जुआ जनवादी मंज़िल में है, वहीं दूसरी ओर यह भी स्पष्ट था कि आरज़ी सरकार जनवादी क्रान्ति के मूल कार्यभारों को पूरा करने में आनाकानी और टालमटोल कर रही है। ऐसे

में, जिस निर्णायकता के साथ क्रान्ति के नेतृत्व को अपने हाथों में लिये जाने का आह्वान करने की आवश्यकता थी, वह पार्टी के भीतर कोई भी नहीं कर पा रहा था। न ही कोई उन चिन्हों को देख पा रहा था जो बता रहे थे कि युद्ध, 'दोहरी सत्ता' के पैदा होने, और किसानों के बढ़ते आन्दोलन के कारण पैदा हुई विशिष्ट परिस्थितियों में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के सारे कार्यभारों के पूरा हुए बग़ैर ही, क्रान्ति समाजवादी चरण में प्रवेश कर चुकी है; लिहाज़ा, सर्वहारा वर्ग को सत्ता अपने हाथों में लेनी चाहिए, जनवादी क्रान्ति को रैडिकल रूप में पूर्णता तक पहुँचाना चाहिए और 'समाजवाद की ओर कुछ पहले क़दम' उठाने चाहिए। स्थिति की जटिलता और तरलता के चलते पार्टी में इस स्पष्ट सोच का अभाव था। लेनिन के आगमन के साथ विभ्रम का धुँआ छँटा और लेनिन ने अपने रैडिकल प्रस्तावों से न सिर्फ़ मेंशेविकों व अन्य सामाजिक-जनवादियों को चौंका दिया, बल्कि बोल्शेविक पार्टी में भी कई लोग लेनिन के प्रस्तावों पर आश्चर्यचकित हो गये थे। 'सुदूर से पत्र' के बाद लेनिन ने अपने विचारों को प्रसिद्ध अप्रैल थीसीज़ में विकसित किया और ठोस नतीजों तक पहुँचाया। जो बातें मार्च के पत्रों में आम विश्लेषण, संकेतों और आरज़ी निष्कर्षों तक पहुँची थी, अब वह ठोस, मूर्त और पुख्ता नतीजों, नारों और पार्टी के कार्यक्रम तक पहुँच गयी थी।

लेनिन 3 अप्रैल 1917 को पेत्रोग्राद के फ़िनलैण्ड रेलवे स्टेशन पर उतरे जहाँ कामेनेव, और कोलोन्ताई प्रमुख नेताओं में थे जो कि उनकी अगुवाई के लिए आये थे। श्ल्याप्निकोव एक स्टेशन पहले बेलूस्त्रोव से ही लेनिन के साथ हो गये थे। उनके साथ रूसी ब्यूरो के कुछ अन्य कॉमरेड भी थे। लेनिन ने पेत्रोग्राद पहुँचने से पहले ही ट्रेन में श्ल्याप्निकोव पर अपने सवालों की बारिश कर दी। लेनिन को पेत्रोग्राद में पार्टी के भीतर मौजूद स्थिति के बारे में जल्द से जल्द जानना था। साथ ही, उन्होंने मज़दूरों के बीच के माहौल और पेत्रोग्राद सोवियत के रवैये के बारे में भी कई सवाल पूछे। पेत्रोग्राद में उतरते ही उन्होंने मज़ाक़िया अन्दाज़ में कामेनेव से पूछा कि आजकल *प्राव्दा* में वे क्या ऊल-जुलूल लिख रहे हैं।

पेत्रोग्राद सोवियत की ओर से चखीद्ज़े भी लेनिन का स्वागत करने आये थे। चखीद्ज़े ने लेनिन के स्वागत में बात रखते हुए उन्हें मेंशेविक कार्यदिशा को अपनाने का न्यौता दिया। उन्होंने कहा कि रूस में सभी जनवादी शक्तियों को अपनी ताक़तों को एकजुट कर देना चाहिए। ज़ाहिर है, लेनिन ने इन बातों पर ज़्यादा ग़ौर नहीं किया और वे बोल्शेविक काडर व आम जनता के बीच अपने विचारों को जल्द से जल्द रखना चाहते थे। फ़िनलैण्ड स्टेशन पर लेनिन का ज़बरदस्त स्वागत हुआ। क्रोंस्टाट के नाविकों ने उनके सम्मान में 'गार्ड ऑफ़ ऑनर' दिया। उन्हें फूलों का गुलदस्ता पेश किया गया और पेत्रोग्राद सोवियत के अन्य प्रतिनिधियों ने भी स्वागत भाषण दिये। इसके बाद लेनिन ने स्टेशन के बाहर एकत्र भीड़ को सम्बोधित किया। इस भाषण में लेनिन ने साम्राज्यवादी युद्ध को गृहयुद्ध में तब्दील करने का आह्वान किया। उन्होंने कहा कि यूरोपीय साम्राज्यवाद बुरी तरह से संकटग्रस्त है और उसने एक विश्व समाजवादी क्रान्ति की स्थितियाँ पैदा कर दी हैं। लेनिन ने उनके स्वागत में निकाली गयी बोल्शेविक रैली में आयी बख्तरबन्द गाड़ी पर चढ़कर स्टेशन के बाहर के प्रमुख चौराहे पर दोबारा भाषण दिया। इस गाड़ी पर बोल्शेविक पार्टी

का झण्डा लगा हुआ था। इसके बाद उसी दिन शाम को लेनिन ने पार्टी के मुख्यालय पर पार्टी के कार्यकर्ताओं के बीच भाषण दिया। स्टेशन के बाहर दिये गये पहले भाषण में ही लेनिन ने कहा, **"अगर आज या कल नहीं, तो अब किसी भी दिन, समूचे यूरोपीय साम्राज्यवाद का पतन हो सकता है। आपके द्वारा सम्पन्न की गयी रूसी क्रान्ति ने इसकी शुरुआत की है, और इसने एक नये युग का सूत्रपात कर दिया है। विश्वव्यापी समाजवादी क्रान्ति की विजय हो।"**

लेनिन की बातों ने तत्काल अधिकांश लोगों को अचम्भे में डाल दिया था। कई पार्टी कार्यकर्ताओं को लग रहा था कि जो लोग अपेक्षाकृत ज़्यादा दृढ़ता से आरज़ी सरकार के विरोध की बात कर रहे थे, लेनिन उनकी आलोचना करेंगे (जैसे कि मोलोतोव) लेकिन एक पार्टी कार्यकर्ता के अनुसार लोग यह देखकर चकित थे कि मॉस्को व पेत्रोग्राद में मौजूद सभी पार्टी नेताओं में मोलोतोव ही लेनिन के सबसे क़रीब पड़ते थे। अगले दिन यानी 4 अप्रैल को लेनिन ने अपनी बहन के घर पर और फिर *प्राव्दा* के सम्पादकीय कार्यालय पर भी कई पार्टी नेताओं और कार्यकर्ताओं के सामने अपनी अवस्थिति रखी। इसके बाद उन्होंने तौरीद प्रासाद में सामाजिक-जनवादी नेताओं व कार्यकर्ताओं की एक मिश्रित बैठक के समक्ष अपने विचार रखे। इनमें मेंशेविक व अन्य समाजवादी भी शामिल थे। लेनिन के भाषण के दौरान कई मेंशेविकों ने बीच-बीच में टोका-टाकी की। एक भूतपूर्व बोल्शेविक गोल्डेनबर्ग ने कहा कि यूरोप में एक ताज कई दशकों से ख़ाली है, उसे उसका नया उम्मीदवार मिल गया है और यह ताज है बाकुनिन का। यानी, लेनिन पर गोल्डेनबर्ग ने अराजकतावाद का आरोप लगाया। बोग्दानोव ने बीच में टोकते हुए लेनिन की बातों को "एक पागल का प्रलाप" कहा। वहीं स्टेकलोव ने, जो जल्दी ही बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने वाले थे, लेनिन की बातों को अमूर्त निर्मितियों का समुच्चय कहा। लेकिन लेनिन ने इन सभी आक्षेपों और आपत्तियों के बावजूद पूरे आत्मविश्वास के साथ अपनी थीसीज़ पेश कीं। यही थीसीज़ आगे 'अप्रैल थीसीज़' के नाम से प्रसिद्ध हुईं और पहली बार ये 7 अप्रैल के *प्राव्दा* में 'वर्तमान क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग के कार्यभारों के बारे में' के नाम से प्रकाशित हुईं।

अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच का इस बैठक के बारे में विवरण बिल्कुल भिन्न है। उनका मानना है कि बोल्शेविक लेनिन के आने के पहले युद्ध और आरज़ी सरकार पर मेंशेविकों की अवस्थिति के इतने क़रीब जा चुके थे कि वे एकीकरण के लिए एक बैठक करने वाले थे। वास्तव में आमतौर पर बोल्शेविक पार्टी और मेंशेविक पार्टी में सामान्य एकता उस समय एजेण्डे पर नहीं थी, वरन् सोवियत के भीतर एक एकीकृत अवस्थिति बनाने का प्रश्न था। रैबिनोविच के अनुसार, उस बैठक में शामिल होने वाले बोल्शेविकों के सामने लेनिन ने अप्रैल थीसीज़ पेश की और बाद में उसकी प्रतिलिपियाँ मेंशेविक नेताओं को दी गयीं, जिसके बाद बोग्दानोव, गोल्डेनबर्ग व स्टेकलोव ने उपरोक्त टिप्पणियाँ कीं। पहली बात तो यह है कि एकीकरण की बात को इस तरह पेश किया जा रहा है मानो बोल्शेविक पार्टी अपने सांगठनिक उसूलों का परित्याग कर मेंशेविकों से एकता की बात कर रही थी। इसका कोई प्रमाण कहीं नहीं मिलता, सिवाय संशोधनवादी और

स्तालिन-विरोधी इतिहासकार बर्दज़ालोव के। ई.एच. कार के अनुसार, यह सामाजिक-जनवादियों की साझा बैठक थी जिसमें मेंशेविक और बोल्शेविक दोनों ही शामिल थे। युद्ध और आरज़ी सरकार से रिश्ते के प्रश्न पर तमाम बोल्शेविक यदि अभी लेनिन की अवस्थिति तक नहीं आये थे, तो वे मेंशेविक अवस्थिति पर भी नहीं थे। स्तालिन ने स्वयं रैबिनोविच के अनुसार लेनिन द्वारा इन बैठकों में बोलने के पहले ही एक प्रस्ताव पारित कराया था जिसमें "आरज़ी सरकार की गतिविधियों पर चौकसीपूर्ण नियन्त्रण" और "एक क्रान्तिकारी सत्ता की शुरुआत के रूप में" पेत्रोग्राद सोवियत का समर्थन करने की बात कही गयी थी (रैबिनोविच, वही, पृ. 38)। ज़ाहिर है कि यह अवस्थिति मेंशेविक अवस्थिति से कुछ अहम मायनों में भिन्न है। इसके बाद रैबिनोविच यह दावा करते हैं कि बोल्शेविक इस हद तक मेंशेविकों की अवस्थिति पर चले गये थे कि वे एकीकरण के बारे में सोच रहे थे! यह अन्तरविरोधी बात है।

दूसरी बात यह है कि रैबिनोविच दावा करते हैं कि अप्रैल थीसीज़ में लेनिन ने एकीकरण का विरोध किया था। लेकिन यदि आप अप्रैल थीसीज़ को पढ़ें तो आपको एकीकरण या एकीकरण के विरोध की कोई चर्चा नहीं मिलेगी क्योंकि ऐसी कोई चर्चा वास्तव में बोल्शेविकों के बीच हो ही नहीं रही थी। यहाँ तक कि कामेनेव ने भी, जिन्होंने मेंशेविक "क्रान्तिकारी रक्षावाद" की अवस्थिति अपनायी थी, मेंशेविकों से एकीकरण का प्रस्ताव नहीं रखा था। एकीकरण की बात की चर्चा लेनिन के लेख 'लेटर्स ऑन टैक्टिक्स' में मिलती है। इस लेख में लेनिन स्वयं इस बात का ज़िक्र करते हैं कि उन्होंने अप्रैल थीसीज़ एकीकरण हेतु होने वाली वार्ता में जाने वाले बोल्शेविकों के समक्ष नहीं बल्कि बोल्शेविकों और मेंशेविकों की संयुक्त बैठक में की थी। लेनिन लिखते हैं :

"4 अप्रैल 1917 को शीर्षक में बताये गये विषय पर रिपोर्ट पेश करने का अवसर मुझे मिला था, पहले पेत्रोग्राद में बोल्शेविकों की एक बैठक में। ये मज़दूर व सैनिक प्रतिनिधियों के अखिल रूसी सम्मेलन में जाने वाले प्रतिनिधि थे, जिन्हें अपने घरों को वापस लौटना था और इसलिए मुझे इस काम को टालने की आज्ञा नहीं थी। इस बैठक के बाद, अध्यक्ष कॉमरेड ज़िनोवियेव ने पूरी सभा की ओर से मुझसे इस रिपोर्ट को तत्काल बोल्शेविक और मेंशेविक प्रतिनिधियों की एक संयुक्त बैठक के समक्ष दुहराने के लिए कहा, जो कि रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के एकीकरण के सवाल पर चर्चा करना चाहते थे।

"हालाँकि अपनी रिपोर्ट को तत्काल दुहराना मेरे लिए मुश्किल था, लेकिन मुझे लगा कि एक बार विचारों-में-मेरे-साथियों और साथ ही मेंशेविकों द्वारा माँग किये जाने के बाद मुझे मना करने का कोई अधिकार नहीं था, क्योंकि मेंशेविक मुझे अपने आसन्न प्रस्थान के कारण और देर करने की आज्ञा नहीं दे सकते थे।" (वी.आई. लेनिन, 1964, *'लेटर्स ऑन टैक्टिक्स'*, **कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-24**, चौथा अंग्रेज़ी संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ.42)

यहाँ ग़ौर करने वाली बात है कि लेनिन ने जिस संयुक्त बैठक को सम्बोधित किया था वह

बोल्शेविकों और मेंशेविकों की कोई सामान्य बैठक नहीं थी, बल्कि उन बोल्शेविक व मेंशेविक प्रतिनिधियों की बैठक थी जिन्हें मज़दूर व सैनिक प्रतिनिधियों के अखिल रूसी सम्मेलन में भाग लेने जाना था। दूसरी बात यह कि इस बैठक में युद्ध के प्रश्न पर एक एकीकृत अवस्थिति को लेकर बहस होनी थी। इसलिए जिस एकीकरण की बात की जा रही थी, वह आमतौर पर बोल्शेविक पार्टी और मेंशेविकों के बीच सामान्य राजनीतिक-विचारधारात्मक एकता की बात नहीं थी, बल्कि एक विशिष्ट प्रश्न पर एक विशिष्ट मंच पर एकीकृत अवस्थिति बनाने की बात थी। अगर यह विवरण स्पष्ट न किया जाये, तो भ्रम की स्थिति पैदा होती है।

रैबिनोविच यह भी दावा करते हैं कि 6 अप्रैल को केन्द्रीय कमेटी के ब्यूरो की कोई बैठक हुई जिसमें कामेनेव ने लेनिन की अप्रैल थीसीज़ पर हमला किया और स्तालिन ने कामेनेव का समर्थन किया। इसका कोई विवरण ई.एच. कार, बेतेलहाइम, डॉब जैसे इतिहासकारों की पुस्तकों में नहीं मिलता है। न ही 6 अप्रैल की किसी बैठक का ब्यौरा लेनिन के लेखन में या स्तालिन के लेखन में मिलता है। और अगर ऐसी बैठक हुई भी थी तो स्तालिन ने किसी भी बिन्दु पर कामेनेव का साथ देते हुए लेनिन पर हमला किया हो, इसका कोई विवरण नहीं मिलता है, सिवाय बर्दज़ालोव जैसे संशोधनवादी इतिहासकार या त्रात्स्की के लेखन/त्रात्स्कीपन्थी ब्यौरों में।

इस प्रसंगान्तर के बाद हम अप्रैल थीसीज़ की अन्तर्वस्तु पर थोड़ी चर्चा करते हैं। 'अप्रैल थीसीज़' के प्रमुख तर्क इस प्रकार थे। पहला बिन्दु यह था कि जारी युद्ध एक साम्राज्यवादी युद्ध है और इसलिए तथाकथित क्रान्तिकारी रक्षावाद की कार्यदिशा का दृढ़ता से विरोध किया जाना चाहिए। क्रान्तिकारी रक्षावाद का समर्थन एक ही सूरत में किया जा सकता था यदि सर्वहारा वर्ग और ग़रीब किसान सत्ता में होते, सभी क़ब्ज़ों को कथनी नहीं बल्कि करनी के स्तर पर समाप्त कर दिया जाता और पूँजीवादी हितों से निर्णायक तौर पर विच्छेद हो गया होता। लेकिन ये तीनों ही शर्तें पूरी नहीं हो रही हैं और इसलिए इस युद्ध में हमें सेना के बीच दुश्मन सेना में लड़ रहे वर्दीधारी मज़दूर और किसान भाइयों से भाईचारा स्थापित करने की मुहिम चलानी चाहिए।

दूसरा बिन्दु सबसे महत्वपूर्ण था जिसमें लेनिन ने बताया कि वर्तमान में हमारे देश में क्रान्ति की ख़ासियत यह है कि यह पहले चरण (बुर्जुआ जनवादी) से दूसरे चरण (समाजवादी) में प्रवेश कर रही है। पहले चरण में अपर्याप्त संगठन और चेतना के कारण मज़दूर वर्ग ने सत्ता स्वेच्छा से बुर्जुआ वर्ग को हस्तान्तरित कर दी थी। इस संक्रमण की ख़ासियत यह है कि हमारा देश फ़रवरी क्रान्ति की वजह से राजनीतिक तौर पर यूरोप के सभी देशों से आगे निकल गया है, क्योंकि मज़दूरों व किसानों के दबाव ने आरज़ी पूँजीवादी सरकार को सबसे उदार जनवादी अधिकार देने को बाध्य किया है। वहीं दूसरी ख़ासियत यह है कि यह सरकार पूँजीपतियों और भूस्वामियों की सरकार है जो रोटी, शान्ति और ज़मीन की माँगों को पूरा नहीं कर सकती है। ऐसे में, हमें दूसरे चरण में संक्रमण के अनुसार अपने पार्टी कार्यभारों को सुनिश्चित करना होगा।

तीसरा बिन्दु यह था कि आरज़ी सरकार को किसी भी किस्म का बाशर्त या बेशर्त समर्थन देने का भी कोई प्रश्न नहीं उठता है। यह पूँजीपतियों और भूस्वामियों की सरकार है और इससे

यह उम्मीद करना कि यह साम्राज्यवादी बर्ताव न करे और जनवादी और न्यायपूर्ण शान्ति दे, मूर्खतापूर्ण है।

चौथा बिन्दु भी राजनीतिक तौर पर बेहद महत्वपूर्ण था। इसमें लेनिन एक ओर यह बताते हैं कि सोवियतें ही वे निकाय हैं जो कि समाजवादी सत्ता के कार्यभारों को सँभाल सकती हैं। लेकिन लेनिन यहाँ इन निकायों की सम्भावना-सम्पन्नता की बात कर रहे हैं। कारण यह है कि सोवियतों में अभी भी तमाम टटपुँजिया व बुर्जुआ ताक़तों का वर्चस्व था। इसमें मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी स्थिति में थे। आगे वे स्पष्ट करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी को सोवियतों के बीच अपने राजनीतिक कार्य को निरन्तरता के साथ चलाना होगा और उसमें अपने राजनीतिक वर्चस्व को स्थापित करना होगा। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक यह सम्भावना-सम्पन्नता एक सुषुप्त सम्भावना-सम्पन्नता ही बनी रहेगी।

पाँचवें बिन्दु में लेनिन स्पष्ट रूप में किसी संसदीय सरकार की सम्भावना को नकारते हैं। उनका मानना है कि अब जब कि सोवियतें एक नयी प्रकार की सत्ता, यानी मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों की सत्ता, के रूप में अस्तित्व में आ चुकी हैं, जो कि किसी भी बुर्जुआ संसदीय जनवाद से कहीं ज़्यादा वास्तविक रूप में जनवादी है, तो वापस संसदीय जनवाद को स्थापित करने की बात करना एक पीछे की ओर उठाया हुआ क़दम होगा। इसके बाद वे सेना, पुलिस व नौकरशाही को ख़त्म करने की बात करते हैं, जो कि बुर्जुआ राज्यसत्ता के **असली कार्यकारिणी** की भूमिका निभाते हैं। साथ ही, लेनिन यह भी कहते हैं कि सोवियतों के भावी गणराज्य में सभी राजकीय कर्मचारियों का वेतन एक योग्य कुशल मज़दूर से ज़्यादा नहीं होगा।

छठें बिन्दु में लेनिन भूमि के प्रश्न को उठाते हैं। यह छठाँ बिन्दु भी राजनीतिक रूप में महत्वपूर्ण है और क्रान्ति के नये चरण में भूमि के प्रश्न पर लेनिन के नज़रिये को दिखलाता है। लेनिन कहते हैं कि ज़मीन के प्रश्न के हल के लिए भूमि कार्यक्रम में पार्टी को अपना ज़ोर अब खेतिहर मज़दूरों और निर्धनतम किसानों की सोवियत पर बढ़ा देना चाहिए। वे जागीरों को तत्काल ज़ब्त करने की बात करते हैं और सारे भूमि के राष्ट्रीकरण को कार्यक्रम में शामिल करते हैं। लेनिन के अनुसार राष्ट्रीकरण के बाद ज़मीन के निपटारे का कार्य किसानों व भूमिहीन मज़दूरों की सोवियतों को सौंप दिया जायेगा। ग़रीब किसानों की सोवियतों को अलग से संगठित किया जाना चाहिए। और सार्वजनिक उत्पादन के लिए बड़ी जागीरों पर मॉडल फ़ार्म बनाये जायें जो कि खेतिहर मज़दूरों की सोवियतों के मातहत होंगे। ज़ाहिर है, कि लेनिन भूमि प्रश्न पर सावधानी के साथ समाजवादी कार्यक्रम की ओर आगे बढ़ने की बात कर रहे हैं। एक तरफ़ उन्होंने राष्ट्रीकृत भूमि के निपटारे का काम किसान सोवियतों और खेतिहर मज़दूरों की सोवियत पर छोड़ा है और साथ ही बड़ी जागीरों पर तत्काल राजकीय/सामूहिक खेती शुरू करने का भी प्रस्ताव रखा है। भूमि कार्यक्रम में वास्तव में क्या लागू हो पायेगा और क्या नहीं, इसके बारे में पहले से इससे ज़्यादा पुख्ता प्रस्ताव रखा ही नहीं जा सकता था और कहीं-न-कहीं लेनिन को इस बात का पूर्वानुमान था कि किसान आबादी में राजनीतिक विभेदीकरण अभी अल्पविकसित है और इस बात की प्रबल सम्भावना

है कि किसानों की अच्छी-ख़ासी आबादी अभी पुनर्वितरण पर ही राजी हो। **इसीलिए पार्टी की भूमिका में उन्होंने दो चीज़ों पर बल दिया है : पहला, खेतिहर मज़दूरों की अलग सोवियतें संगठित करना और दूसरा, ग़रीब किसानों की अलग सोवियतें संगठित करना।** केवल तभी क्रान्ति के उपरान्त समाजवादी भूमि कार्यक्रम को लागू करने के लिए आगे बढ़ा जा सकता था। यह बात दीगर है कि बाद में लेनिन ने समाजवादी-क्रान्तिकारियों के भूमि कार्यक्रम को अपनाया जो कि रैडिकल बुर्जुआ जनवादी चौहद्दियों से आगे नहीं जाता था और क्रान्ति के बाद केवल 3 से 4 प्रतिशत भूमि पर ही मॉडल फ़ार्म बन पाये। लेनिन इस बात को समझते थे कि बहुसंख्यक आबादी के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती कर उन्हें समाजवादी कार्यक्रम पर नहीं लाया जा सकता और उन्हें अपने अनुभव से और साथ ही बोल्शेविक राजनीति प्रचार व शिक्षण के ज़रिये लम्बी अवधि में सहकारी, सामूहिक व राजकीय खेती पर राजी करना होगा।

सातवें बिन्दु में लेनिन सभी बैंकों के राष्ट्रीकरण और एक राजकीय बैंक की स्थापना की बात करते हैं, जो कि सोवियत सत्ता के मातहत होगा।

आठवें बिन्दु में लेनिन स्पष्ट करते हैं कि सर्वहारा सत्ता का तात्कालिक कार्य समाजवादी आर्थिक कार्यक्रम को तुरन्त लागू करना नहीं होगा, बल्कि समाजवाद की ओर कुछ पहले क़दम बढ़ाना होगा। इस बिन्दु को लेनिन थीसीज़ में ज़्यादा विस्तारित नहीं करते हैं, लेकिन बाद में उन्होंने अपने लेखन में इस बिन्दु को विशेष तौर पर विस्तृत रूप में व्याख्यायित किया। लेनिन स्पष्ट थे कि देश में जब तक टटपुँजिया उत्पादन का बोलबाला रहेगा तब तक समाजवादी आर्थिक कार्यक्रम को लागू करना सम्भव नहीं होगा। ऐसे में, सबसे पहले समूचे उत्पादन व वितरण को मज़दूर राज्यसत्ता के नियन्त्रण में लाना होगा, जिसके लिए उद्योगों का सिण्डिकेटीकरण करना होगा, पहले चरण में बुर्जुआ वर्ग के विशेषज्ञों को सर्वहारा सत्ता के लिए काम करने के लिए बाध्य करना होगा, और सर्वहारा वर्ग को इन तमाम कामों को स्वयं सीधे अपने हाथों में लेने के लिए शिक्षित-प्रशिक्षित करना होगा। हम इस बिन्दु पर आगे आयेंगे, जब हम अगस्त, सितम्बर और अक्टूबर में लेनिन के महत्वपूर्ण लेखों पर चर्चा करेंगे। थीसीज़ का यह आठवाँ बिन्दु इसलिए भी अहम है क्योंकि यह रूसी समाजवादी क्रान्ति के एक विशिष्ट स्थिति में होने की सच्चाई को समझता है। लेनिन जानते थे कि युद्ध, आर्थिक विघटन, अकाल और साथ ही सोवियतों के रूप में समानान्तर सत्ता के उदय ने वे विशिष्ट स्थितियाँ पैदा कर दी हैं, जिसमें कि बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के सम्पन्न होने के बाद, मगर बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों के पूरा हुए बग़ैर, सर्वहारा वर्ग इतिहास के रंगमंच के केन्द्र में आ गया है। युद्ध और जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन ने रूसी बुर्जुआ वर्ग को लगातार प्रतिक्रिया और प्रतिक्रान्ति की शरण में जाने को बाध्य किया है और वह जनवादी क्रान्ति को पूरा करना तो दूर जनवादी क्रान्ति को अवर्धित (abort) करने की साज़िश करेगा। ऐसे में, रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को भी बचाने और उसे रैडिकल तरीक़े से मुक़ाम पर पहुँचाने के लिए समाजवादी क्रान्ति सम्पन्न करना आवश्यक हो गया है।

नौवें बिन्दु में लेनिन पार्टी कार्यक्रम में बदली स्थितियों के मुताबिक़ बदलाव के प्रस्ताव रखते

हैं, जिसमें कि पार्टी के न्यूनतम कार्यक्रम को बदलने की बात शामिल थी। साथ ही, लेनिन प्रस्ताव रखते हैं कि पार्टी का नाम सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी से बदलकर कम्युनिस्ट पार्टी कर दिया जाना चाहिए। इसके कारण के तौर पर लेनिन यह बताते हैं कि यह नाम यूरोपीय सामाजिक-जनवाद की ग़द्दारी के साथ कलंकित हो गया है। आगे 'राज्य और क्रान्ति' में लेनिन ने लिखा था कि वैसे भी सामाजिक-जनवादी नाम कभी भी मार्क्स व एंगेल्स की पहली पसन्द नहीं था और उनके लिए पार्टी के लिए सबसे उपयुक्त नाम कम्युनिस्ट पार्टी ही था।

थीसीज़ के अन्त में यानी दसवें बिन्दु में लेनिन द्वितीय इण्टरनेशनल के संशोधनवादी और सामाजिक कट्टरवादी हो जाने के साथ एक नये इण्टरनेशनल के गठन की ज़रूरत पर प्रस्ताव रखते हैं।

अप्रैल थीसीज़ के बारे में **कार** का यह कहना सही है कि लेनिन ने जानबूझकर और सावधानीपूर्वक एक विशेष किस्म की व्यावहारिक अस्पष्टता को बनाये रखा था, विशेष तौर पर इस बारे में कि "समाजवाद में संक्रमण" या सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को स्थापित कर देने का सही क्षण कब आयेगा। लेकिन इतना तय था कि अब इतिहास ने जो सवाल एजेण्डे पर उपस्थित कर दिया है वह है समाजवादी क्रान्ति।

अप्रैल थीसीज़ 7 अप्रैल के *प्राव्दा* में प्रकाशित हुई और 8 अप्रैल को ही कामेनेव की ओर से टिप्पणी प्रकाशित हुई कि थीसीज़ में रखे गये विचार लेनिन के अपने विचार हैं, न कि *प्राव्दा* के पूरे सम्पादक मण्डल के। 9 अप्रैल को पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी में लेनिन की थीसीज़ 2 के मुक़ाबले 13 वोटों से पराजित हो गयी। ग़ौरतलब है, पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी में पहले से ही आरज़ी सरकार के समर्थन की ग़लत लाइन हावी थी। इसके बाद थीसीज़ को पेत्रोग्राद शहर के पार्टी सम्मेलन में पेश किया जाना था, जो कि 14 अप्रैल को होना था और इसके बाद उसे 24 अप्रैल को अखिल रूसी पार्टी सम्मेलन में भी पेश किया जाना था। लेनिन ने 24 अप्रैल से पहले दो अन्य लेखों **'हमारी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग के कार्यभार'** और **'दोहरी सत्ता'** में अपने विचारों को और विस्तार दिया। **इसमें ख़ासतौर पर पहला लेख बेहद महत्वपूर्ण है और इसे अप्रैल थीसीज़ का विस्तृत रूप माना जा सकता है।** इस लेख में लेनिन ने लिखा :

"रूस में राज्यसत्ता एक नये *वर्ग* के हाथों में हस्तान्तरित हो चुकी है, यानी, बुर्जुआ वर्ग और वे भूस्वामी जो बुर्जुआ बन गये हैं। *इस हद तक* रूस में बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति सम्पन्न हो चुकी है।" (वी.आई. लेनिन, 1977, 'टास्क्स ऑफ़ दि प्रोलेतैरियत इन अवर रिवोल्यूशन', **सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-2**, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 37) लेनिन ने इसी लेख में आगे लिखा कि मज़दूरों और सैनिकों (वर्दी में किसान) की सोवियत ने फ़िलहाल टटपुँजिया राजनीतिक चेतना और मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के टटपुँजिया नेतृत्व के कारण सत्ता स्वेच्छा से बुर्जुआ वर्ग की आरज़ी सरकार को सौंप दी है। इसका एक कारण यह भी है कि रूस में टटपुँजिया आबादी बहुसंख्या में है और यह विश्व दृष्टिकोण से बुर्जुआ वर्ग के साथ खड़ी होती है। लेकिन युद्ध और आर्थिक विघटन ने वह स्थिति पैदा कर दी है जिसके कारण बुर्जुआ आरज़ी

सरकार का वर्चस्व ख़त्म होता जायेगा और बोल्शेविकों का यह कार्यभार है कि इस सन्दर्भ में वे लगातार मज़दूर आबादी और ग़रीब किसान व सैनिक आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रचार करते हुए बुर्जुआ आरज़ी सरकार के असली वर्ग चरित्र का पर्दाफ़ाश करें। मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी लगातार इसके विपरीत कार्य करेंगे और मज़दूरों और ग़रीब किसान आबादी को बुर्जुआ वर्ग का पिछलग्गू बनाने का प्रयास करेंगे। लेनिन लिखते हैं, **"निम्न पूँजीपति वर्ग के नेता जनता को पूँजीपति वर्ग पर भरोसा करना "अवश्य" सिखायेंगे। सर्वहाराओं को जनता को पूँजीपति वर्ग पर अविश्वास करना सिखाना ही होगा।"** (*वही*, पृ. 43) आगे लेनिन ने स्पष्ट किया कि साम्राज्यवादी युद्ध शान्तिवादी प्रार्थनाओं से ख़त्म नहीं हो सकता है और किसी एक पक्ष के हथियार रख देने से भी समाप्त नहीं हो सकता है। कारण यह है कि साम्राज्यवादी युद्ध साम्राज्यवादियों की शैतानी इच्छाओं का परिणाम नहीं है, बल्कि विश्व पूँजीवादी व्यवस्था की गतिकी से पैदा होने वाला नैसर्गिक परिणाम है। इसलिए इसका ख़ात्मा पूँजीपति वर्ग के हाथों से सत्ता छीनने और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को स्थापित करके ही हो सकता है। **इसलिए रूस में भी शान्ति का प्रश्न अब पूरी तरह से समाजवादी क्रान्ति के प्रश्न से जुड़ चुका है।** आगे लेनिन ने स्पष्ट किया कि सोवियतों के रूप में रूस में एक ऐसी संस्था अस्तित्व में आ चुकी है जो भविष्य में कम्यून जैसी राज्यसत्ता का स्वरूप ले सकती है, जो कि कुछ अर्थों में 'अराज्य' में तब्दील हो जाता है। इन अर्थों में कि एक अलग से विशेषीकृत शासक जमात की आवश्यकता समाप्त हो जाती है। जो विधायिका की भूमिका अदा करते हैं वही कार्यपालिका की भूमिका भी अदा करते हैं। ये लोग होते हैं उत्पादक वर्गों के लोग जो अब सशस्त्र हो चुके होते हैं। इस रूप में एक अलग से दमनकारी निकाय के रूप में पुलिस, फ़ौज और नौकरशाही की ज़रूरत ख़त्म हो जाती है। (लेनिन इस समय तक इस संक्रमण की अवधि बेहद छोटी समझ रहे थे, जिसमें कि राज्य अधिक से अधिक अराज्य में तब्दील होता जायेगा और सर्वहारा वर्ग न सिर्फ़ उत्पादन और वितरण के बल्कि शासन-प्रशासन के सारे कार्य भी अपने हाथों में लेता जायेगा। आगे लेनिन ने 1919 में यह स्पष्ट किया कि समाजवादी संक्रमण की अवधि कहीं ज़्यादा दीर्घकालिक होगी, और ख़ासकर रूस जैसे देशों में। इस पहलू पर हम आगे के अध्यायों में आयेंगे। इसके कुछ नुक्तों पर हमने तीसरे अध्याय में चर्चा की है, जिसे पाठक सन्दर्भित कर सकते हैं)। इसके बावजूद, इसमें कोई शक नहीं था कि सोवियत सत्ता एक नयी प्रकार की सत्ता की नुमाइन्दगी करती थी।

लेनिन ने बोल्शेविकों या आमतौर पर कम्युनिस्टों का अराजकतावादियों और सामाजिक-जनवादियों से फ़र्क़ भी स्पष्ट किया। पहले वाले मानते हैं कि राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है और क्रान्ति के दौर में और वे पूँजीवाद से कम्युनिज़्म में संक्रमण के दौर में राज्यसत्ता की आवश्यकता नहीं समझते। दूसरे, यानी सामाजिक-जनवादी (संशोधनवादी) मानते हैं कि पूँजीवादी राज्य अपने समूचे दमनकारी उपकरण के साथ समाजवादी व्यवस्था में तब्दील हो सकता है। बोल्शेविक मानते हैं कि सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी राज्यसत्ता का ध्वंस कर एक नयी प्रकार की राज्यसत्ता क़ायम करता है, जिसकी चारित्रिक आभिलाक्षणिकता होती है, सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व। लेनिन

ने स्पष्ट किया कि सोवियत सत्ता में वह सम्भावना अन्तर्निहित है। **कृषि प्रश्न पर लेनिन ने अप्रैल थीसीज़ में रखी कार्यदिशा को और विस्तार से व्याख्यायित किया जो कि बेहद महत्वपूर्ण है। हम इसे पूरा उद्धृत नहीं कर सकते मगर हम इसे पढ़े जाने की सलाह देंगे** (*वही*, पृ 49-50)।

लेनिन ने अप्रैल थीसीज़ से लेकर 'दोहरी सत्ता' नामक अपने लेखों में फ़रवरी क्रान्ति के बाद रूस में राजनीतिक स्थिति के अपने मूल्यांकन को स्पष्ट कर दिया था। लेनिन का मानना था कि फ़रवरी क्रान्ति के साथ एक 'दोहरी सत्ता' अस्तित्व में आयी है - आरज़ी सरकार के रूप में बुर्जुआ वर्ग की सत्ता और सोवियत के रूप में मज़दूरों और किसानों की सत्ता। इसके साथ, बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति की मंज़िल पूरी हो गयी है, हालाँकि, कई बुर्जुआ जनवादी कार्यभारों को पूरा करना अभी बाक़ी रहता है। इस स्थिति की ख़ासियत थी बुर्जुआ जनवादी सत्ता और सम्भावना-सम्पन्न रूप में मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही का अन्तर्गुंथन (interweaving)। भविष्य में जो संघर्ष होना था वह था किसान जनसमुदायों के समर्थन के लिए सर्वहारा वर्ग और बुर्जुआ वर्ग के बीच का संघर्ष। लेनिन ने लिखा कि पिछले बीस वर्षों से **"रूस के पूरे राजनीतिक इतिहास में जो एक चीज़ लगातार देखी जा सकती है वह है यह प्रश्न कि सर्वहारा वर्ग किसानों का नेतृत्व कर उन्हें समाजवाद की तरफ़ ले जायेगा या फिर बुर्जुआ वर्ग उन्हें पीछे घसीटकर पूँजीवाद के साथ समझौते की ओर ले लायेगा।"** (ई. एच. कार, 1950, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन', खण्ड-1**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कम्पनी, लन्दन, में उद्धृत, पृ. 81)।

लेनिन के अनुसार अप्रैल तक बुर्जुआ वर्ग का पलड़ा किसान आबादी और व्यापक मेहनतकश आबादी पर प्रभाव रखने के मामले में हावी था। यही कारण था कि मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी सोवियतों को आरज़ी सरकार का पिछलग्गू बनाने में फ़िलहाल सफल हुए थे। लेकिन हालात जिस तरह से विकसित हो रहे थे, उनमें ऐसी स्थिति बनी नहीं रह सकती थी। जैसे ही किसानों के सब्र का प्याला छलकेगा और वे ज़मीनों पर क़ब्ज़ा शुरू करेंगे, जनवादी क्रान्ति एक नयी मंज़िल में प्रवेश करेगी, किसान वर्ग का बुर्जुआ वर्ग के साथ संश्रय टूटेगा और सोवियतें बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक नेतृत्व से स्वतन्त्र हो सर्वहारा नेतृत्व के मातहत आ जायेंगी। इसके साथ ही सर्वहारा वर्ग समाजवादी क्रान्ति के ज़रिये जनवादी क्रान्ति को रैडिकल तरीक़े से मुक़ाम तक पहुँचाने और फिर समाजवाद की ओर कुछ पहले क़दम बढ़ाने की स्थिति में आ जायेगा। 'दोहरी सत्ता' केवल एक संक्रमणकालीन और लघुकालिक स्थिति हो सकती है। या तो यह स्थिति प्रतिक्रिया और प्रतिक्रान्ति की ओर जायेगी या फिर सर्वहारा क्रान्ति की ओर। लेनिन ने बताया कि दो शत्रुतापूर्ण वर्ग शक्तियाँ राज्यसत्ता में सहअस्तित्व में नहीं रह सकती हैं।

लार्स टी. ली ने लेनिन की अपनी जीवनी 'लेनिन' में यह दावा किया है कि 'अप्रैल थीसीज़' के पेश किये जाने पर रूस में न सिर्फ़ सामाजिक-जनवादी दायरों में बल्कि बोल्शेविकों के भी एक हिस्से में जो आश्चर्य की लहर दौड़ गयी थी, उसका कोई विशेष कारण नज़र नहीं आता क्योंकि लेनिन ने जो बातें अप्रैल थीसीज़ में कहीं थीं, वे सभी बातें वे अक्टूबर 1915 में पेश अपनी

थीसीज़ (जिसे ली 'अक्टूबर थीसीज़' का नाम देते हैं) में कहीं थीं। लेकिन यह दावा सही और सटीक प्रतीत नहीं होता है। अक्टूबर थीसीज़ में क्रान्ति के पहले चरण से दूसरे चरण में संक्रमण और किसानों के बीच राजनीतिक विभेदीकरण करने के बारे में कुछ नहीं कहा गया था। **हमारे विचार में ये दो बिन्दु विशेष तौर पर अप्रैल थीसीज़ को युगान्तरकारी बनाते हैं।** कारण यह कि अक्टूबर 1915 में लेनिन अभी भी जनता की जनवादी क्रान्ति को ही कार्यभार मान रहे थे, जबकि अप्रैल थीसीज़ में लेनिन मानते हैं कि यह चरण *आदर्श (ideal)* या *अमूर्त (abstract)* रूप में नहीं बल्कि *वास्तविक (real)* और *मूर्त (concrete)* रूप में पूरा हो चुका है। यह सच है कि सत्ता बुर्जुआ वर्ग और बुर्जुआ बन चुके भूस्वामियों के हाथों में आ गयी है, लेकिन जनवादी कार्यभारों को वे क्रान्तिकारी तरीक़े से पूरा नहीं करेंगे। अब इन कार्यभारों को पूरा करने के लिए भी समाजवादी मज़दूर क्रान्ति अपरिहार्य हो गयी है। अप्रैल थीसीज़ का सबसे केन्द्रीय प्रस्ताव यही था जो कि उन्होंने अक्टूबर 1915 में पेश अपनी थीसीज़ में नहीं रखा था। अगर इस प्रकार का तर्क (यानी लार्स टी. ली जैसा तर्क) पेश किया जाये तो यह भी मानना पड़ेगा कि लेनिन अप्रैल थीसीज़ में एक त्रात्स्कीपन्थी कार्यदिशा रख रहे थे। लेकिन ऐसा नहीं था। क्योंकि ऐसे किसी तर्क के लिए यह समझाना मुश्किल हो जाता है कि फ़रवरी 1917 में क्या हुआ था। लार्स टी. ली का यह तर्क तथ्यत: भी सही नहीं ठहरता और इसी बात को आप दोनों थीसीज़ (यानी अक्टूबर 1915 की थीसीज़ और अप्रैल थीसीज़) पढ़कर स्वयं समझ सकते हैं।

बहरहाल, पेत्रोग्राद नगर पार्टी सम्मेलन में लेनिन का प्रस्ताव 6 के मुक़ाबले 20 वोटों से विजयी हुआ। लेनिन का प्रस्ताव था कि सोवियतों को आरज़ी सरकार का तख्तापलट करने के लिए तैयार करने का। कामेनेव का प्रस्ताव पराजित हुआ जो कि यह था कि आरज़ी सरकार पर क़रीबी नज़र रखी जाये और उसका तख्तापलट करने के किसी भी उकसावे से बचा जाये। लेनिन ने अपनी दूरदृष्टि और तर्कों से समूचे सम्मेलन की राय में परिवर्तन ला दिया था। साथ ही, अप्रैल का हर बीतता दिन लेनिन की भविष्यवाणियों को सही सिद्ध कर रहा था। इसके बाद आया ऐतिहासिक सातवाँ अखिल रूसी पार्टी सम्मेलन जिसे 'बोल्शेविक पार्टी के इतिहास' ने एक पार्टी कांग्रेस जितना महत्वपूर्ण बताया है। इस सम्मेलन में लेनिन का प्रस्ताव और भी ज़्यादा बहुमत से विजयी हुआ और क्योंकि 24 अप्रैल तक, जब यह सम्मेलन शुरू हुआ, लेनिन की भविष्यवाणियाँ और भी सटीकता से सही सिद्ध होती नज़र आ रही थीं। मिल्युकोव और गुचकोव को युद्ध के समर्थन के कारण हुए जनविरोध के कारण इस्तीफ़ा देना पड़ा था और नयी संयुक्त सरकार में बोल्शेविकों को छोड़कर सभी समाजवादी पार्टियाँ शामिल हो गयी थीं। बोल्शेविक पार्टी के लिए यह एक स्वर्णिम अवसर था। कामेनेव अभी भी अपनी अवस्थिति पर अड़े हुए थे। स्तालिन और ज़िनोवियेव ने कामेनेव पर तीखा हमला किया। लेनिन ने कामेनेव को समझाने का प्रयास किया। लेकिन अन्तत: वोटिंग हुई और लेनिन का प्रस्ताव भारी बहुमत से विजयी हुआ।

ई.एच. कार का कहना है कि इन सम्मेलनों में सोवियतों को सत्ता देने के प्रश्न पर तो भारी बहुमत लेनिन के पक्ष में था, मगर समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल के आने के प्रश्न पर वह उतना

स्पष्ट नहीं था। समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल के प्रश्न पर 71 वोट पक्ष में पड़े, 38 विरोध में और 8 प्रतिनिधियों ने वोट नहीं डाला। कई लोगों का यह मानना था कि सर्वहारा वर्ग सत्ता को अपने हाथों में लेकर बुर्जुआ क्रान्ति को मुक़ाम तक पहुँचा सकता है लेकिन रूस "युद्ध द्वारा पैदा हुई स्थितियों में सर्वहारा क्रान्ति की पहली मंज़िल में है" और इसकी विजय इस बात पर निर्भर करती है कि यूरोप के कई देशों का सर्वहारा वर्ग अपने-अपने पूँजीपति वर्ग के विरुद्ध उठ खड़ा होता है या नहीं। यह बात सही है कि सम्मेलन में समाजवादी क्रान्ति को लेकर अभी कई दुविधाएँ और भ्रम थे। अभी लोग लेनिन की पूरी थीसीज़ को भी पूरी तरह समझ नहीं पाये थे जिसमें उन्होंने विशिष्ट सन्धि-बिन्दु के उपस्थित होने के कारण रूस में सर्वहारा समाजवादी क्रान्ति की स्थिति पैदा होने और इस क्रान्ति के बाद तत्काल 'समाजवाद ला देने' की बजाय 'समाजवाद की ओर पहले क़दम बढ़ाने' की बात कही थी।

लेकिन कार स्वयं लेनिन की पूरी थीसीज़ को नहीं समझ पाये हैं। वे कहते हैं कि एक ओर सोवियतों को सत्ता देने का नारा देना और दूसरी ओर संविधान सभा बुलाने का नारा देना एक अन्तरविरोधी बात थी। मसला यह था कि रूस में समाजवादी क्रान्ति करना इसलिए अनिवार्य हो गया था क्योंकि उसके बिना जनवादी क्रान्ति भी बाधित हो जाती और अपूर्ण रह जाती। संविधान सभा का मसला कोई विचारधारा का मसला नहीं था। यही कारण था कि क्रान्ति के तत्काल बाद भी संविधान सभा भंग नहीं की गयी। वह तब भंग की गयी जब वह सर्वहारा अधिनायकत्व के बुर्जुआ व निम्न-बुर्जुआ विरोध का मंच बन गयी। लेनिन ने बाद में स्पष्ट किया कि सोवियत सत्ता क़ायम होने के बाद संविधान सभा में बोल्शेविकों द्वारा हिस्सेदारी और संविधान सभा का क्रान्तिकारी सत्ता के विरोध में वोट करना बहुत फ़ायदेमन्द रहा क्योंकि इसके ज़रिये जनता के समक्ष बुर्जुआ जनवादी संस्थाओं का बचा-खुचा विभ्रम भी टूट गया। यह विभ्रम केवल बोल्शेविक प्रचारकों के भाषणों और लेखों से नहीं दूर हा सकता था। यह समझने के लिए कि सोवियत सत्ता किसी भी बुर्जुआ जनवादी सत्ता से कहीं ज़्यादा जनवादी है, क्रान्तिकारी व्यवहार की आवश्यकता थी। इसीलिए, संविधान सभा को सोवियत सत्ता स्थापित होते ही भंग करने की बजाय लेनिन ने उदाहरण और व्यवहार से जनसमुदायों को शिक्षित करने का रास्ता अख्तियार किया। कार रणनीति और आम रणकौशल के मसले को विचारधारा का मसला बना देते हैं और इसलिए उन्हें अन्तरविरोध नज़र आता है।

इस सम्मेलन ने नयी केन्द्रीय कमेटी का चुनाव किया जिसमें लेनिन, ज़िनोवियेव, स्तालिन, कामेनेव, मिल्युतिन, नोगिन, स्वेर्दलोव, स्मिल्गा, फ़ेदेरोव थे।

ई.एच. कार मानते हैं कि लेनिन का रुख़ सोवियतों के प्रति 1905 की असफल क्रान्ति के तत्काल बाद संशय का था, लेकिन 1906 में वह बदला और लेनिन सोवियतों को क्रान्तिकारी सत्ता का निकाय मानने लगे। कार लेनिन का यह उद्धरण पेश करते हैं, **"ये निकाय पूरी तरह से जनता के *क्रान्तिकारी* संस्तर द्वारा स्थापित किये गये थे, वे सभी क़ानूनों और विनियमनों के दायरे के बाहर पूरी तरह से क्रान्तिकारी तरीक़े से आदिम जन रचनात्मकता के रूप**

में, जनता के स्वतन्त्र कार्रवाई के प्रदर्शन के रूप में स्थापित किये गये थे।" (कार, 1950, वही, पृ. 84) कार का मानना है कि लेनिन बाद में सोवियतों को क्रान्तिकारी सत्ता के निकाय के रूप में स्वीकारने लगे क्योंकि जनवादी क्रान्ति और मज़दूरों व किसानों की जनवादी तानाशाही की लेनिन के फ्रेमवर्क में सोवियतें बिल्कुल सटीक फिट बैठती थीं। फिर कार कहते हैं कि जनवरी 1917 में भी लेनिन पहले सोवियतों की भूमिका को लेकर सशंकित थे और केवल बाद में, जब सोवियतें 1917 के बसन्त तक क्रान्तिकारी सत्ता का सबसे अहम मंच बन गयीं तब, लेनिन ने उन्हें क्रान्तिकारी सत्ता के निकाय की मान्यता दी। कार के अनुसार लेनिन द्वारा शुरुआत में सोवियतों को मान्यता न देने का एक कारण यह भी था कि वे एक ग़ैर-पार्टी निकाय थीं और साथ ही उससे भी बुरी बात यह थी कि उन पर मेंशेविकों का नियन्त्रण था। कार सोवियतों के प्रति लेनिन के सशंकित रहने की तुलना मार्क्स के शुरुआत में पेरिस कम्यून के प्रति संशय से करते हैं। कार की सोवियतों के प्रति लेनिन के दृष्टिकोण के प्रति यह अवस्थिति सन्तुलित नहीं लगती है।

पहली बात तो यह कि स्वयं कार बताते हैं कि लुनाचार्स्की के अनुसार लेनिन ने 1905 के अन्त में ही पेत्रोग्राद सोवियत में पेरिस कम्यून जैसी राज्यसत्ता के भ्रूण को देखा था। साथ ही, जुलाई 1905 के *प्रोलेतारी* में बिना लेखक के नाम के एक लेख छपा था जिसमें यह तुलना की गयी थी। ज्ञात हो कि *प्रोलेतारी* अप्रैल 1905 में बोल्शेविक धड़े द्वारा निकाला जाने वाला अख़बार था जिसके मुख्य सम्पादक लेनिन थे और सम्पादक मण्डल में लुनाचार्स्की भी थे। इस पृष्ठभूमि के बावजूद कार इस बात पर शक करते हैं कि लेनिन ने 1905 में सोवियतों में नयी क्रान्तिकारी सत्ता के निकाय को देखा था। इस संशय का कोई कारण नहीं समझ आता। दूसरी बात यह है कि 1917 की शुरुआत में लेनिन अगर सोवियतों को लेकर इसलिए संशयग्रस्त थे क्योंकि वे ग़ैर-पार्टी निकाय थीं और उन पर मेंशेविकों का प्रभुत्व था तो फिर सिर्फ़ इस वजह से 1917 के बसन्त में लेनिन का संशय दूर हो जाना कि सोवियतें क्रान्तिकारी सत्ता का केन्द्र बन गयी थीं, तर्कसंगत बात नहीं लगती है क्योंकि तब भी सोवियतों में मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी ही बहुमत में थे। 1905 के नवम्बर में ही लेनिन ने **'मज़दूर प्रतिनिधियों की सोवियत और हमारे कार्यभार'** में इस तर्क का विरोध किया था कि सोवियतों को पार्टी निकाय बन जाना चाहिए और पार्टी के नेतृत्व और सोवियतों के बीच 'बराबर' का चिन्ह रखने का विरोध किया था। इसी लेख में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया था कि सोवियत को अपने आप को क्रान्तिकारी आरज़ी सरकार का केन्द्र घोषित कर देना चाहिए। (देखें, वी. आई. लेनिन, 1972, **'कलेक्टेड वर्क्स', खण्ड-10**, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मॉस्को, पृ. 17-28) यह सच है कि लेनिन की सोवियतों के बारे में सोच अभी विकसित होने की प्रक्रिया में थी और ऐसे सन्दर्भ भी मौजूद हैं, जिनमें लेनिन ने सोवियतों को कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए बनाया गया निकाय क़रार दिया है। लेकिन कार के सामान्यीकरण फिर भी सटीक नहीं हैं।

मूल बात यह है कि लेनिन के लिए सोवियतों की भूमिका का प्रश्न कोई सामान्य रूप में हल प्रश्न नहीं था। सोवियतों की भूमिका क्या होगी यह कई कारकों और पूर्वस्थितियों पर निर्भर करता

था। इस प्रश्न पर बेतेलहाइम ने अपेक्षाकृत सही प्रेक्षण रखा है। बेतेलहाइम लिखते हैं, **"सोवियतों के विषय में लेनिन की अवधारणा कभी भी "फ़ेटिशिस्ट" नहीं थी। 1917 के दौरान जब बोल्शेविक-विरोधी नीति पर अमल करने को तैयार निम्न पूँजीवादी कट्टरपन्थी पार्टियों द्वारा सोवियतों पर प्रभुत्व सुदृढ़ होने का ख़तरा मँडरा रहा था, तो लेनिन ने "सारी सत्ता सोवियतों को" का नारा वापस ले लिया था - और यह स्पष्ट किया था कि सोवियतें "प्रतिक्रान्ति को छिपाने का उपकरण मात्र" बन सकती हैं।"** (चार्ल्स बेतेलहाइम, 1976, **'क्लास स्ट्रगल्स इन दि यूएसएसआर, फ़र्स्ट पीरियड : 1917-1923'**, हार्वेस्टर प्रेस, ससेक्स, पृ. 105) कारण यह था कि सोवियतें उस समय विशेषकर जुलाई विद्रोह के कुचले जाने के बाद और कोर्निलोव विद्रोह तक निष्क्रिय हो चुकी थीं और बुर्जुआ आरज़ी सरकार की पिछलग्गू बन चुकी थीं।

बहरहाल, अप्रैल थीसीज़ सातवें पार्टी सम्मेलन में बहुमत से पारित हुई। लेनिन ने इसमें और आगे के अपने दो लेखों में स्पष्ट कर दिया था कि क्रान्ति पहले चरण से दूसरे चरण में प्रवेश कर रही है और अब जनवादी क्रान्ति को मुक़ाम तक पहुँचाने के लिए समाजवादी क्रान्ति का प्रश्न इतिहास ने सर्वहारा वर्ग के सामने प्रस्तुत कर दिया है। यदि सर्वहारा वर्ग इस ज़िम्मेदारी को नहीं उठाता तो फिर न सिर्फ़ जनवादी क्रान्ति एक *थर्मिडोर* में समाप्त होगी बल्कि समाजवादी क्रान्ति का सवाल भी लम्बे समय के लिए इतिहास के एजेण्डे पर नहीं आ सकेगा।

अप्रैल के बाद का पूरा घटनाक्रम भी लगातार लेनिन के मूल्यांकनों को सही साबित करता जा रहा था। पहले मिल्यूकोव की सरकार का पतन और संयुक्त आरज़ी सरकार का गठन, युद्ध में पराजयों का लगातार जारी सिलसिला, किसान आन्दोलन का उठता ज्वार और आर्थिक विघटन, अकाल की स्थिति और साथ ही बुर्जुआ वर्ग और टटपुँजिया पार्टियों का नंगा होता चरित्र, जुलाई में मज़दूरों का स्वत:स्फूर्त विद्रोह, उसे कुचला जाना, बोल्शेविक पार्टी का केरेंस्की-नीत सरकार द्वारा दमन, कैडेट पार्टी का सरकार को छोड़ना और नंगी दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया यानी कोर्निलोव के पक्ष में खड़ा होना, पूर्ण रूप से समाजवादी पार्टियों (मेंशेविकों, समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी, आदि) की संयुक्त सरकार बनना, कोर्निलोव द्वारा तख्तापलट की कोशिश और मज़दूरों द्वारा उसे नाकामयाब किया जाना: ये सारा घटनाक्रम लेनिन के विचारों की पुष्टि कर रहा था। इस पूरे घटनाक्रम की संक्षिप्त चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इसी बीच एक अन्य राजनीतिक विकास भी हुआ जिसका ज़िक्र करके हम आगे बढ़ सकते हैं। मई में त्रात्स्की भी रूस लौट आये थे। वापस आने पर उन्होंने एक अर्द्ध-मेंशेविक ग्रुप मेज़राओन्त्सी में शामिल होने का फ़ैसला किया था। मेज़राओन्त्सी अपने आपको गुट-विरोधी सामाजिक जनवादी समूह क़रार देता था। यह त्रात्स्की के पुराने बर्ताव से भी मेल खाता था जिसमें सांगठनिक प्रश्न पर बोल्शेविकों से अलग खड़े होने के कारण उनकी स्थिति मेंशेविकों के क़रीब बनती थी, जबकि क्रान्ति की मंज़िल के प्रश्न पर बोल्शेविक पार्टी और मेंशेविकों दोनों से ही अलग समझदारी रखने के कारण वे अपने आपको "गुटविरोधी गुट" (anti-factionalist faction) के रूप में देखते थे। यद्यपि ज़्यादातार विवादास्पद मसलों में

उनकी एकता अक्सर मेंशेविकों के साथ बनती थी। लेकिन यह एकता कभी स्थायी नहीं रहती थी। लिहाज़ा, कहा जा सकता है कि मेजराओन्त्सी वह ग्रुप था जो कि मेंशेविकों से असहमत था और बोल्शेविकों से भी सारे मसलों पर सहमत नहीं था। मई में रूस वापस आने पर त्रात्स्की को लेनिन की समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल आने वाली बात आकृष्ट कर रही थी और लेनिन की इस बात का विरोध करने वाले या इस पर ठोस प्रतिक्रिया न देने वालों की वह आलोचना कर रहे थे। मेज़राओन्त्सी ग्रुप ने मई के बाद से जुलाई तक तमाम सोवियत सम्मेलनों व अन्य जन मंचों पर बोल्शेविकों का समर्थन किया। मई में लेनिन मेज़राओन्त्सी की एक बैठक में गये थे और वहाँ उन्होंने इस समूह को बोल्शेविकों में शामिल होने का मौक़ा दिया था और साथ ही उन्होने यह भी प्रस्ताव रखा था कि कार्यदिशा की एकता की सूरत में उन्हें *प्राव्दा* के सम्पादक मण्डल में भी जगह दी जायेगी। त्रात्स्की ने सांगठनिक सिद्धान्तों पर अपने मेंशेविक आग्रहों के कारण ज़ोर दिया कि नयी पार्टी का नया नाम होना चाहिए और उन्होंने बोल्शेविक सांगठनिक उसूलों में भी समझौते की माँग की। लेनिन ने इस माँग को ठुकरा दिया और मई में मेज़राओन्त्सी बोल्शेविक पार्टी में शामिल नहीं हो सका। आगे जुलाई में यह ग्रुप पूरा का पूरा और बिना किसी शर्त बोल्शेविक पार्टी में शामिल हुआ और सभी बोल्शेविक उसूलों पर इसने सहमति जतायी।

1917 की गर्मियों ने लेनिन के सारे पूर्वानुमानों को कमोबेश सही साबित किया। मई में किसान सोवियतों की कांग्रेस हुई जिसमें समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी हावी थी। इसने आरज़ी सरकार के पक्ष में प्रस्ताव पारित किया। मई के अन्त में पेत्रोग्राद के कारख़ाना मज़दूरों का सम्मेलन हुआ जिसमें बोल्शेविक बहुमत में थे। इसके बाद जून में पहली अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस हुई। इसमें 285 समाजवादी-क्रान्तिकारी, 248 मेंशेविक, 103 बोल्शेविक और 150 स्वतन्त्र प्रतिनिधि थे। त्रात्स्की और लुनाचार्स्की मेज़राओन्त्सी के दस प्रतिनिधियों में से थे और उन्होंने इस कांग्रेस में बोल्शेविकों का समर्थन किया था। सम्मेलन के दूसरे दिन मेंशेविक नेता त्सेरेतली जो कि आरज़ी सरकार में पोस्ट व टेलीग्राफ़ मन्त्री भी था, ने दावा किया कि रूस में अभी कोई एक पार्टी ऐसी नहीं है जो यह दावा कर सके वह सत्ता हाथ में लेकर उसे सँभाल सकती है। **लेनिन ने अपनी सीट से कहा, "ऐसी पार्टी है।"** लेनिन अल्पसंख्या में होने के बावजूद अपनी कार्यदिशा के सहीपन को लेकर पूरी तरह आत्मविश्वास से भरे हुए थे। उनका यह आत्मविश्वास आने वाले समय में पूरी तरह सही साबित होने वाला था। इस कांग्रेस में लेनिन का यह हस्तक्षेप एक प्रतीक कथन था जिसमें लेनिन ने यह स्पष्ट रूप से सम्प्रेषित कर दिया था कि बोल्शेविकों की ओर से बुर्जुआ आरज़ी सरकार के विरुद्ध एक राजनीतिक युद्ध का ऐलान कर दिया गया है। बहरहाल, जैसा कि होना था, कांग्रेस ने आरज़ी सरकार को समर्थन देते हुए एक प्रस्ताव पारित किया। इसी कांग्रेस में सोवियत ने तत्काल कार्रवाई हेतु एक कार्यकारी परिषद बनायी जिसका नाम वीटीएसआई (अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस की कार्यकारी परिषद) था। यह दो सोवियत कांग्रेसों के बीच, जो कि हर तीन माह पर होनी थीं, कांग्रेस की शक्तियों से लैस एक कार्यकारी निकाय था। इसमें कुल 250 प्रतिनिधि थे और समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर इसमें 35 बोल्शेविक थे।

आरज़ी सरकार की स्वीकार्यता और मान्यता में जारी युद्ध और आर्थिक विघटन के कारण लगातार गिरावट आ रही थी। इसी बीच बोल्शेविकों ने अपनी शक्ति आँकने के लिए और साथ ही जनता के मिजाज़ को मापने के लिए 9 जून को एक प्रदर्शन का ऐलान किया था, जो कि 10 जून को होना था। सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस की आपत्ति पर पार्टी ने इस प्रदर्शन को रद्द कर दिया। यह एक बेहद दिलचस्प प्रकरण था। इस प्रकरण पर **अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच** ने विस्तार से लिखा है। रैबिनोविच ने दस्तावेज़ी प्रमाणों के आधार पर दिखलाया है कि युद्ध के विरुद्ध बढ़ते असन्तोष के कारण पेत्रोग्राद ग़ैरीसन में और साथ ही अन्य सैन्य टुकड़ियों में ज़बरदस्त असन्तोष था। बोल्शेविक पार्टी का सैन्य संगठन पेत्रोग्राद में काफ़ी सक्रिय था और उसका सैनिकों में काफ़ी प्रभाव था। इस सैन्य संगठन की ज़िम्मेदारी मुख्य तौर पॉड्वॉइस्की और नेव्स्की के हाथों में थी। ये दोनों असाधारण क्षमता वाले संगठनकर्ता थे और पुराने बोल्शेविक थे। सैन्य संगठन ने केन्द्रीय कमेटी को सूचित किया कि सैनिक युद्ध के विरुद्ध एक सशस्त्र प्रदर्शन करना चाहते हैं। पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी भी इस प्रदर्शन के समर्थन में थी। केन्द्रीय कमेटी में ज़िनोवियेव, कामेनेव व नोगिन इस प्रदर्शन के विरोध में थे क्योंकि उनका यह मूल्यांकन था कि यह प्रदर्शन हिंस्र हो सकता है क्योंकि सैनिक सशस्त्र होंगे। लेकिन केन्द्रीय कमेटी ने प्रदर्शन करने का फ़ैसला किया। इसका एक कारण यह भी था कि इस बात की स्पष्ट रपटें सैन्य संगठन की ओर से आ रही थीं कि यदि बोल्शेविक पार्टी इस प्रदर्शन का नेतृत्व अपने हाथों में नहीं लेती है तो भी सैनिक प्रदर्शन करेंगे और उस सूरत में उसका नेतृत्व पेत्रोग्राद के अराजकतावादी-कम्युनिस्ट संगठन के हाथों में आ जायेगा जो कि इस प्रदर्शन को अपरिपक्व आम बग़ावत की ओर ले जा सकते हैं। यदि ऐसा होता तो क्रान्ति को भारी नुक़सान पहुँचने की सम्भावना थी। नतीजतन, केन्द्रीय कमेटी ने फ़ैसला किया कि वह इस प्रदर्शन की बागडोर अपने हाथों में सँभालेगी और अधिकतम संख्या में मज़दूरों को इससे जोड़ने का प्रयास करेगी। मज़दूरों को इस प्रदर्शन से जोड़ने के शुरुआती प्रयासों को काफ़ी सफलता भी मिल रही थी। इस प्रश्न पर भी पार्टी में बहस थी कि सैनिकों को बिना शस्त्रों के प्रदर्शन करने के लिए राजी किया जाये। लेकिन सैन्य संगठन का मूल्यांकन था कि यदि पार्टी निर्देश भी दे तो भी सैनिक सशस्त्र प्रदर्शन ही करेंगे। नतीजतन, सशस्त्र प्रदर्शन का फ़ैसला 8 जून की शाम को केन्द्रीय कमेटी, सैन्य संगठन और पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी की संयुक्त बैठक में बहुमत से पारित हो गया। इस समय तक ज़िनोवियेव भी इस फ़ैसले के पक्ष में आ गये थे। लेनिन शुरू से ही इस फ़ैसले के पक्ष में थे। साथ ही, स्तालिन और स्मिल्गा भी मज़बूती से इस फ़ैसले के पक्ष में थे।

9 जून को पहली बार स्तालिन द्वारा लिखित एक पर्चा प्रदर्शन के लिए आह्वान करते हुए कारख़ानों और बैरकों में बँटना शुरू हुआ। लेकिन इसी बीच अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्व ने इस प्रदर्शन पर रोक लगा दी और इसके ख़िलाफ़ एक अपील जारी कर दी। बोल्शेविक पार्टी पहले ही जानती थी कि ऐसा ही होगा। **लेकिन जो अप्रत्याशित बात हुई वह यह थी कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में बोल्शेविक प्रतिनिधियों के ग्रुप ने इस फ़ैसले का विरोध किया।** इस विरोध का कारण यह था कि इस ग्रुप

को प्रदर्शन के फ़ैसले के बारे में सूचित ही नहीं किया गया था। बाद में हुई बहस से ज़ाहिर हुआ कि यह एक तकनीकी ग़लती थी जिसमें संवाद के अभाव और प्रदर्शन की गोपनीयता के कारण इस बात को लेकर अस्पष्टता रह गयी कि इस ग्रुप को कौन सूचित करेगा। ज़िनोवियेव के वक्तव्य से पता चलता है कि केन्द्रीय कमेटी यह मानकर चल रही थी कि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी सोवियत कांग्रेस में बोल्शेविक धड़े को सूचित करेगी, जबकि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी को यह बात स्पष्ट ही नहीं थी कि यह काम उसे करना है। जो भी हो, अन्त में बोल्शेविक धड़े ने इसका विरोध किया और कहा कि अगर हम अभी भी प्रदर्शन की योजना को लागू करने का फ़ैसला करते हैं तो हमें सोवियत से बाहर जाना पड़ सकता है। वहीं दूसरी ओर अराजकतावादी-कम्युनिस्टों के ग़ैर-ज़िम्मेदाराना प्रचार और साथ ही वाईबोर्ग ज़िला पार्टी कमेटी व कुछ अन्य "वाम" भटकावग्रस्त बोल्शेविकों के रवैये के कारण यह सम्भावना बन गयी थी कि प्रदर्शन हिंस्र होगा और उसमें सत्ता क़ब्ज़ा करने का प्रयास किया जा सकता है। ऐसे में, 10 जून की भोर में एक आपात बैठक हुई जिसमें केन्द्रीय कमेटी ने प्रदर्शन को रद्द करने का फ़ैसला किया और इस सन्देश को पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी और सैन्य संगठन को तत्काल भिजवाया। प्रदर्शन रद्द हो गया। लेकिन इसके बाद इस पूरे घटनाक्रम की समीक्षा के लिए जो बैठक हुई उसमें पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी के बहुमत ने और साथ ही सैन्य संगठन के कई कॉमरेडों ने केन्द्रीय कमेटी के ग़ैर-ज़िम्मेदाराना रवैये की आलोचना की और कहा कि इससे सैनिकों और मज़दूरों के बीच बोल्शेविक पार्टी की मान्यता पर नकारात्मक असर पड़ेगा। ज़िनोवियेव को ख़ास तौर पर आलोचना का निशाना बनाया गया जिन्होंने इस फ़ैसले के लिये जाने की प्रक्रिया में कई बार अपना वोट बदला था। आख़िरी वोटिंग जिसमें कि इस फ़ैसले को रद्द किया था, उसमें लेनिन ने वोट नहीं डाला था। लेकिन उनकी राय भी अब प्रदर्शन को फ़िलहाल रद्द करने पर बन रही थी। सितम्बर में लेनिन ने अपने एक लेख में स्पष्ट किया था कि जुलाई में आम बग़ावत के लिए न तो पार्टी तैयार थी और न ही समूचा मज़दूर वर्ग; ज़ाहिर है, जैसे-जैसे यह स्पष्ट होता गया कि यह प्रदर्शन सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के अपरिपक्व प्रयास में तब्दील हो सकता है, वैसे-वैसे लेनिन इसके प्रति संशयग्रस्त होते गये। पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी के कई बोल्शेविकों ने केन्द्रीय कमेटी की सोवियत में बोल्शेविक प्रतिनिधियों के धड़े के दबाव में आने के लिए भी आलोचना की।

लेनिन ने बैठक में माना कि पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी व अन्य कॉमरेडों को केन्द्रीय कमेटी की आलोचना करने का पूरा अधिकार है लेकिन इस मसले में आख़िरी वक़्त पर फ़ैसला लिया जाना अनिवार्य हो गया था। लेनिन ने कहा कि अभी हम इस बात को लेकर सुनिश्चित नहीं हो सकते कि इस प्रदर्शन के बाद सोवियत से बाहर जाने का आगामी योजना पर क्या असर पड़ सकता था। साथ ही, प्रदर्शन के हिंस्र रुख़ लेने की सम्भावना बढ़ती जा रही थी। रैबिनोविच मानते हैं कि इस प्रकरण ने दिखलाया कि बोल्शेविक पार्टी कोई लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों पर कसी "एकाश्मी" पार्टी नहीं थी जो कि आँख मूँदकर लेनिन के निर्देशों पर चलती थी। आगे रैबिनोविच **"विभाजित पार्टी" (divided party)** की अपनी अवधारणा पेश करते हुए कहते हैं कि बोल्शेविक पार्टी

का एक "विभाजित पार्टी" होना एक सकारात्मक था और इसी सकारात्मक ने पार्टी को सत्ता तक पहुँचाया और उस पर बने रहने के क़ाबिल बनाया। बाद में, बोल्शेविक पार्टी को (लेनिन के ही दौर में, मगर, विशेषकर स्तालिन के दौर में) एक प्रश्नेतर प्राधिकार से सम्पन्न एकाश्मी पार्टी बना दिया गया जो कि उसकी भावी कमज़ोरी साबित हुई।

रैबिनोविच का यह पूरा सिद्धान्त कई स्तरों पर ग़लत है। पहली बात तो यह है कि लेनिनवादी पार्टी की अवधारणा कोई एकाश्मी पार्टी की अवधारणा नहीं है। यह जनवादी केन्द्रीयता के उसूलों को मानती है जिसके अनुसार फ़ैसला लिये जाने से पहले पूर्ण जनवाद और फ़ैसला लिये जाने के बाद पूर्ण अनुशासन, अल्पमत के बहुमत के मातहत होने, दो पार्टी कांग्रेसों के बीच केन्द्रीय कमेटी के सर्वोच्च निकाय होने और नीचे की कमेटियों के ऊपर की कमेटियों के अधीन होने के सिद्धान्त को लागू किया जाता है। लेनिनवादी उसूलों का अर्थ बहस और आलोचना के अधिकार को ख़त्म करना नहीं है। रैबिनोविच पहले लेनिनवादी सिद्धान्तों का एक हास्यास्पद पुतला खड़ा करते हैं और फिर उसे ध्वस्त कर देते हैं। दिक़्क़त बस यह है कि इस पुतले का वास्तविक लेनिनवादी सांगठनिक सिद्धान्तों से कोई लेना-देना नहीं है। इस पूरे प्रकरण में भी मूल बात यह थी कि असहमतियों और आपसी अन्तरविरोध के बावजूद केन्द्रीय कमेटी के फ़ैसले को अन्तत: पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी और सैन्य संगठन ने हूबहू लागू किया। इस बात को स्मिल्गा ने, जो कि 10 जून के प्रदर्शन को वापस लिये जाने के सख्त ख़िलाफ़ थे, स्पष्ट रूप में इस प्रकार से अभिव्यक्त किया, **"यह प्रश्न हर मज़दूर और सैनिक के सामने खड़ा है; यह शब्दों नहीं बल्कि कार्रवाई की माँग करता है...क्रोंस्तात में हम सभी के लिए यह बेहद कड़वा और दुखद अनुभव था कि प्रदर्शन को रद्द कर दिया गया था, लेकिन हमें अपनी शक्ति पर गर्व होना चाहिए और इसके प्रति सचेत होना चाहिए, हमें सचेत होना चाहिए कि हमने क्रान्तिकारी अनुशासन की आवश्यकताओं का पालन किया, जो कि क्रोंस्तात स्वत:स्फूर्त तौर पर नहीं कर पाता।"** (रैबिनोविच, 1991, *वही*, में उद्धृत, पृ. 85-86) स्वयं रैबिनोविच ने स्मिल्गा के इस कथन को उद्धृत किया है जिसमें स्मिल्गा ने लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों की ताक़त को बयान किया है। बोल्शेविक पार्टी का सांगठनिक उसूल उसकी बहुत बड़ी शक्ति था। इसमें अल्पमत असहमत होने के बावजूद बहुमत की नीतियों पर अमल करता था। जिन बोल्शेविकों से इसमें चूक हुई (मसलन, आम बग़ावत का फ़ैसला लिये जाने के बाद ज़िनोवियेव व कामेनेव), उन्हें कड़ी आलोचना का सामना करना पड़ा। पार्टी में सतत् बहस और दो लाइनों के संघर्ष को, संवाद के अभाव में या तकनीकी कमियों के कारण 'निर्देश की श्रृंखला' के टूटने को, केन्द्रीय कमेटी व लेनिन से असहमति को रैबिनोविच 'विभाजित पार्टी' के अपने सिद्धान्त को सही ठहराने के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। रैबिनोविच यह दावा करते प्रतीत होते हैं कि कई बार लेनिन का अल्पमत में आ जाना, केन्द्रीय कमेटी व अन्य कमेटियों के बीच मतभेद होना, कई बार अलग-अलग कमेटियों का एक ही विषय पर अलग-अलग अवधारणाएँ रखना उनके शोध की खोज है। लेकिन अगर हम रैबिनोविच से काफ़ी पहले लिखी गयी रचनाओं, जैसे कि ई.एच.

कार, चार्ल्स बेतेलहाइम (रैबिनोविच की बाद की दो रचनाएँ बेतेलहाइम की पुस्तक के प्रकाशित होने के बाद आयीं) और मॉरिस डॉब द्वारा लिखित इतिहास को देखें, तो हम पाते हैं कि इन इतिहासकारों ने पहले ही दिखलाया है कि पार्टी के भीतर न सिर्फ़ लेनिन के जीवनकाल में बल्कि उसके बाद भी तीखा विचारधारात्मक और राजनीतिक संघर्ष चलता रहा और वह रैबिनोविच के कल्पित "लेनिनवादी सिद्धान्तों" पर अमल करने वाली पार्टी कभी नहीं थी! रैबिनोविच के इस दावे में कुछ सत्यांश है कि बाद के दौर के सोवियत इतिहासकारों (विशेषकर, संशोधनवाद के दौर के) की रचनाओं में इस तरह की तस्वीर पेश की गयी थी कि पार्टी प्रश्नेतर रूप से लेनिन के प्राधिकार को मानती थी। एक हद तक यह आलोचना 'बोल्शेविक पार्टी के इतिहास' पर भी लागू होती है। **लेकिन रैबिनोविच इस आंशिक रूप से सही आलोचना के आधार पर लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों को ग़लत रूप से विनियोजन करते हैं और साथ ही समूची बोल्शेविक पार्टी का एक उदार बुर्जुआ विनियोजन करते हैं।** हम इस अध्याय के परिशिष्ट में रैबिनोविच की तीनों रचनाओं यानी 'प्रिल्यूड टू रिवोल्यूशन : दि पेत्रोग्राद बोल्शेविक्स एण्ड दि जुलाई 1917 अपराइज़िंग', 'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर' और 'बोल्शेविक्स इन पावर' की विस्तृत आलोचना पेश करेंगे। अभी हमारा मक़सद केवल 10 जून के रद्द किये गये प्रदर्शन के विषय में रैबिनोविच के विश्लेषण की कमियों को इंगित करना था।

10 जून के प्रदर्शन को रद्द करवाने के बाद अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने स्वयं ही 18 जून को एक प्रदर्शन का ऐलान किया, जिसका मक़सद मेंशेविक नीतियों के अनुरूप आरज़ी सरकार से माँग करना और उसे अर्जी देना मात्र था। साथ ही, मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी का नेतृत्व समझ रहा था कि जनता के बीच भरते गुस्से और असन्तोष को अभिव्यक्ति का मंच मिलना अपरिहार्य है, अन्यथा उनका नेतृत्व ही संकट में आ जायेगा। लेकिन, जैसा कि हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं, इस प्रदर्शन में बोल्शेविक पार्टी, उसके नारे और बैनर छा गये। यह मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों की एक निर्णायक हार थी।

इस प्रदर्शन के समय से ही **बोल्शेविक सैन्य संगठन** के कई लोगों में लगातार तत्काल सशस्त्र विद्रोह करने का माहौल बन रहा था। इसका प्रमाण हमें 16 जून को शुरू हुई अखिल रूसी बोल्शेविक सैन्य संगठन सम्मेलन की कार्रवाइयों में मिलता है। यह सम्मेलन 23 जून को समाप्त हुआ। 18 जून के प्रदर्शन में भागीदारी को ध्यान में रखते हुए सम्मेलन की कार्रवाई को 17 जून को जल्दी स्थगित कर दिया गया था और सम्मेलन दोबारा 18 जून की शाम को प्रदर्शन के समाप्त होने के बाद शुरू हुआ था। इस सम्मेलन में बोल्शेविक सैन्य संगठन के अधिकांश संगठनकर्ता इस बात की वकालत कर रहे थे कि सशस्त्र विद्रोह को ज़्यादा देर तक नहीं टाला जाना चाहिए। 19 जून को केरेंस्की सरकार ने गैलीशिया में नये आक्रमण की शुरुआत की घोषणा की। इसके बाद, सम्मेलन में सैन्य संगठन के अधिकांश संगठनकर्ता और पुख्ता तरीक़े से इस प्रस्ताव के समर्थन में आ गये कि निर्णायक सशस्त्र संघर्ष की तैयारी की जानी चाहिए और आरज़ी सरकार से बलपूर्वक सत्ता अपने हाथों में ले लेनी चाहिए। कई रेजिमेण्टों में पहले से ही "वामपन्थी" जल्दबाज़ी की कार्यदिशा

का प्रभाव मौजूद था। विशेष तौर पर, फ़र्स्ट मशीनगन रेजिमेण्ट और रिज़र्व इनफ़ैण्ट्री रेजिमेण्ट में। 17 जून को ज़िनोवियेव ने एक ऐसा भाषण दिया जिसका इरादा तो इस अधैर्य की आग को भड़काना नहीं था, लेकिन वस्तुगत तौर पर इस भाषण की ऐसी व्याख्या सम्भव थी कि तत्काल प्रत्यक्ष कार्रवाई की ओर आगे बढ़ना होगा। चूँकि सम्मेलन में तमाम सैनिक प्रतिनिधियों के बीच पहले से ही यह माहौल हावी था, इसलिए इस अधैर्य के माहौल को बल मिला। वहीं 18 जून के प्रदर्शन के बाद सम्मेलन में बोल्शेविकों के लिए समर्थन को लेकर आत्मविश्वास और भी बढ़ गया था और सैनिक प्रतिनिधियों और बोल्शेविक सैनिक संगठनकर्ताओं के बीच भी "वामपन्थी" कार्यदिशा को लेकर झुकाव और ज़्यादा बढ़ा था। बोल्शेविक सैन्य संगठन के प्रमुख संगठनकर्ता पॉड्वॉइस्की ने इस माहौल के बारे में 18 जून को केन्द्रीय कमेटी के साथ एक अनौपचारिक बैठक में सलाह-मशविरा किया। पॉड्वॉइस्की ने अपने संस्मरण में लिखा है कि **लेनिन** ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि अभी तत्काल सशस्त्र विद्रोह करना सत्ता पर क़ब्ज़ा करने का अपरिपक्व प्रयास होगा और अभी हमें पूरा ज़ोर इस बात पर रखना चाहिए कि अपने सतत् राजनीतिक प्रचार द्वारा पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में बहुमत हासिल किया जाये और साथ ही अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में भी बहुमत प्राप्त किया जाये। लेनिन ने यह भी स्पष्ट किया कि वह दौर अब बीत चुका है जिसमें सत्ता का शान्तिपूर्ण तरीक़े से सोवियतों को हस्तान्तरण हो सकता था। अब सत्ता बलपूर्वक ही हासिल करनी होगी। लेकिन आम बग़ावत कोई खेल नहीं है और इसकी तैयारी के लिए सभी पहलुओं पर ध्यान देना होगा।

पॉड्वॉइस्की ने सम्मेलन में लौटकर लेनिन की कार्यदिशा के आधार पर अपना वक्तव्य रखा। उन्होंने सेना के उन हिस्सों में सतत् प्रचार पर बल दिया जिसमें अभी बोल्शेविक समर्थन पर्याप्त नहीं है। साथ ही, सेना के भीतर बिना तालमेल के वैयक्तिक विद्रोह की कार्रवाइयों को रोकने की भी पॉड्वॉइस्की ने अपील की। इसके बाद, बोल्शेविक सैन्य संगठन के दूसरे प्रमुख संगठनकर्ता **नेव्स्की** ने, जो कि अपने मृदुल व्यवहार और सहज पहुँच रखने के कारण लोकप्रिय थे, बोल्शेविक सैन्य संगठन में पार्टी अनुशासन को बनाये रखने, केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों पर सख्ती से अमल करने और अपने संगठन को और ज़्यादा बेहतर बनाने पर बल दिया। अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच को यह लगता है कि नेव्स्की की अपीलों का ज़्यादा असर नहीं हुआ। उन्हें यह भी लगता है कि स्वयं लेनिन ने जो भाषण आगे इस सम्मेलन में दिया, उसका भी ज़्यादा असर नहीं हुआ और वामपन्थी अधैर्य की लहर मौजूद रही। यह दावा रैबिनोविच इसलिए कर रहे हैं ताकि वे अपनी "विभाजित पार्टी" की अवधारणा को सिद्ध कर सकें। क्योंकि रैबिनोविच स्वयं मानते हैं कि इस सम्मेलन ने जो प्रस्ताव पारित किये वे मूलत: और मुख्यत: लेनिन द्वारा प्रस्तावित कार्यदिशा का समर्थन करते थे। यह सच है कि इसके बाद भी सम्मेलन में एक वामपन्थी धड़ा बना हुआ था, लेकिन इसके अलावा रैबिनोविच और क्या उम्मीद करते हैं? क्या किसी सम्मेलन द्वारा कोई प्रस्ताव पारित होने का यह अर्थ निकाला जा सकता है कि सम्मेलन में उपस्थित हर व्यक्ति उस प्रस्ताव पर सहमत था? नहीं! निश्चित तौर पर, ऐसे किसी भी राजनीतिक सम्मेलन में पारित प्रस्ताव से असहमत एक विपक्षी

धड़ा (संगठित या असंगठित) होगा। लेकिन इससे यह अर्थ निकालना कि यह बोल्शेविक पार्टी के "विभाजित पार्टी" होने की निशानी है, कहाँ तक सही है?

जैसा कि हमने ज़िक्र किया इसी सम्मेलन के दौरान एक और घटना घटी। 19 जून को केरेंस्की द्वारा गैलीशिया आक्रमण के ऐलान की ख़बर पेत्रोग्राद पहुँच चुकी थी। आरज़ी सरकार ने फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट से 500 मशीनगनों और मोर्चे पर तैनाती के निर्देशों के पालन की माँग की थी। इससे इस रेजीमेण्ट में असन्तोष की एक लहर दौड़ गयी। सैनिक अपने हथियार देने को तैयार नहीं थे क्योंकि केरेंस्की सरकार ने वायदा किया था कि फ़रवरी क्रान्ति के दौरान सशस्त्र हुए बलों का निरस्त्रीकरण नहीं किया जायेगा। ज़ाहिर है, केरेंस्की अपना वायदा तोड़ रहा था। नतीजतन, रेजीमेण्ट ने एक सशस्त्र प्रदर्शन की तैयारी शुरू कर दी। इस रेजीमेण्ट के बोल्शेविक सैनिकों ने भी इसका साथ दिया क्योंकि इन सैनिकों ने सारे बोल्शेविक नारों को स्वीकार करके अपना लिया था। रेजीमेण्ट ने अन्य सैन्य बलों के पास इस प्रदर्शन में भागीदारी करने के लिए अपील करते हुए प्रतिनिधि भेजने शुरू कर दिये। यह ख़बर पेत्रोग्राद सोवियत की कार्यकारी समिति तक पहुँची और उसने इसके ख़िलाफ़ सन्देश जारी कर दिया। पेत्रोग्राद के बोल्शेविक नेतृत्व ने आगे आकर फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट को राज़ी किया कि वह अभी सशस्त्र प्रदर्शन न करे। बोल्शेविक जानते थे कि पेत्रोग्राद में जैसे विस्फोटक हालात हैं, उनमें कोई भी सशस्त्र प्रदर्शन पहले सशस्त्र टकराव और फिर सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के अपरिपक्व प्रयास में बदल जायेगा। ऐसे में, या तो यह प्रयास हज़ारों मज़दूरों और सैनिकों के हत्याकाण्ड में समाप्त होगा या फिर यदि सत्ता पर क़ब्ज़ा हो भी गया तो बोल्शेविक उस पर बने रहने में कामयाब नहीं होंगे। बोल्शेविक पार्टी ने बड़ी मुश्किल से सैनिकों को प्रदर्शन न करने पर राज़ी कर लिया।

लेनिन का पूरा ज़ोर इस समय ऐसे सभी प्रयासों को रोकने पर था जो कि तत्काल सशस्त्र विद्रोह की बात कर रहे थे। रैबिनोविच का यह कहना उचित है कि यह महज़ इत्तेफाक नहीं है कि जून के आख़िरी सप्ताह में ही **छठीं पार्टी कांग्रेस** की घोषणा की गयी क्योंकि इस समय में पार्टी नेतृत्व को वर्तमान स्थिति का एक मूल्यांकन बनाने, पेत्रोग्राद व मॉस्को सोवियतों में बहुमत हासिल करने और किसान जनसमुदायों में अपने समर्थन को पुख़्ता करने के लिए ठोस क़दम उठाने की आवश्यकता थी। छठी कांग्रेस के लिए ठीक यही बिन्दु एजेण्डे के लिए प्रस्तावित भी किये गये। कांग्रेस तक बोल्शेविक नेतृत्व ने पेत्रोग्राद में विद्रोह के लिए तैयार होते माहौल को नियन्त्रण में रखने का प्रयास करने का निर्णय किया था। लेनिन 20 जून को **अखिल रूसी बोल्शेविक सैन्य संगठन सम्मेलन** में गये। वहाँ पर उन्होंने एक लम्बा वक्तव्य रखा जिसमें उन्होंने तत्काल विद्रोह का आह्वान करने वालों की आलोचना की। रैबिनोविच ने कई समकालीन स्रोतों को उद्धृत करते हुए बताया है कि सम्मेलन में कई बोल्शेविक प्रतिनिधि इससे अचम्भे में आ गये थे क्योंकि वे मानकर चल रहे थे कि लेनिन तत्काल आम बग़ावत के आह्वान का समर्थन करेंगे। इसका कारण यह था कि अप्रैल से लेकर जून तक के दौर में पार्टी के भीतर कामेनेव, नोगिन और ज़िनोवियेव के ख़िलाफ़ लेनिन यह दलील पेश करते आये थे कि समाजवादी क्रान्ति की

मंज़िल आ चुकी है और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के "पूर्ण" होने का इन्तज़ार करने का तर्क एक अनैतिहासिक और अवैज्ञानिक तर्क है। लेकिन लेनिन ने अप्रैल थीसीज़ में भी आम बग़ावत की कोई समय सारणी पेश नहीं की थी। जैसा कि कार का कहना है, लेनिन ने जानबूझकर ऐसा नहीं किया था क्योंकि यह कहना कि अब देश समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में है और यह कहना कि तत्काल आम बग़ावत कर दी जानी चाहिए, दो अलग चीज़ें हैं। इस भ्रम का एक और कारण यह भी था कि 10 जून के प्रस्तावित सशस्त्र प्रदर्शन का लेनिन ने शुरुआत में समर्थन किया था, जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इन सभी कारकों ने बोल्शेविक सैन्य संगठन और आमतौर पर बोल्शेविकों का समर्थन करने वाले सैनिकों में लेनिन के प्रति यह राय बनायी थी कि लेनिन जल्द से जल्द, सम्भव हो तो तत्काल सशस्त्र विद्रोह कर आरज़ी सरकार का तख्ता पलट करने के पक्ष में हैं। लेकिन लेनिन ने सम्मेलन में बोलते हुए *तत्काल* आम बग़ावत न करने के पक्ष में अपने मज़बूत तर्क रखे। लेनिन का कहना था कि जब तक पेत्रोग्राद और मॉस्को सोवियत में बोल्शेविक बहुमत में नहीं आते हैं तब तक अगर हम आम बग़ावत में कामयाब हो भी गये तो हम सत्ता पर बने नहीं रह पायेंगे। क्योंकि व्यापक टटपुँजिया आबादी और साथ ही मज़दूर और सैनिकों की आबादी का भी एक हिस्सा मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के पक्ष में खड़ा है। यह सच है कि अप्रैल से लेकर जून तक उनका एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा बोल्शेविकों के पक्ष में आया है, लेकिन अभी भी उनका बहुमत या तो हमारे पक्ष में नहीं है या फिर दोलन कर रहा है। ऐसे में, हम तत्काल आम बग़ावत का नारा दें, तो यह एक अपरिपक्व और असमय दिया गया नारा होगा।

लेनिन के वक्तव्य के बाद सम्मेलन में आम राय लेनिन के पक्ष में बन चुकी थी, हालाँकि एक विपक्षी धड़ा मौजूद था जो कि अभी भी वामपन्थी कार्यदिशा पेश कर रहा था। इसी को रैबिनोविच अपनी "विभाजित पार्टी" की अवधारणा को सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल करते हैं, जिसका हम ऊपर खण्डन कर चुके हैं।

●

इसके बाद 3 जुलाई का विद्रोह हुआ। जैसा कि हमने बताया है, 19 जून को आरज़ी सरकार ने मित्र देशों के दबाव में गैलीशिया में एक नया हमला शुरू करने का ऐलान किया था। इसको लेकर तमाम सैनिक दस्तों में भयंकर असन्तोष था। साथ ही, पेत्रोग्राद और पूरे देश में आर्थिक संकट चरम पर था। खाद्यान्न संकट, ईंधन संकट और महँगाई भयंकर स्तरों पर थे। मज़दूरों के बीच भी इसको लेकर गुस्सा भरा हुआ था। विद्रोह की शुरुआत फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट में हुई। फ़र्स्ट मशीनगन रेजीमेण्ट के विद्रोही सैनिक कुछ अन्य सैनिक टुकड़ियों के समर्थन के साथ हज़ारों की संख्या में 3 जुलाई की शाम बोल्शेविक मुख्यालय पहुँचे और प्रदर्शन का नेतृत्व करने के लिए बोल्शेविक नेतृत्व का आह्वान करने लगे। पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी और सैन्य संगठन के नेताओं ने विचार-विमर्श के बाद यह तय किया कि वे प्रदर्शन का नेतृत्व करेंगे। बोल्शेविक नेताओं के सामने यह स्पष्ट था कि यदि वे इसका नेतृत्व नहीं भी करेंगे, तो सैनिक अपना सशस्त्र प्रदर्शन करेंगे और

उस सूरत में पार्टी का प्राधिकार भी उनके बीच कम होगा। बेहतर विकल्प यह है कि पार्टी प्रदर्शन का नेतृत्व अपने हाथों में ले और उसे अधिक से अधिक शान्तिपूर्ण रखने का प्रयास करे। कारण यह था कि पार्टी को अभी भी प्रान्तों में किसानों के समर्थन की कमी और मज़दूरों व सैनिकों के एक हिस्से में मेंशेविकों व समाजवादी-क्रान्तिकारियों के प्रति समर्थन का अहसास था। कई सैन्य टुकड़ियाँ भी अभी या तो तटस्थ थीं या फिर आरज़ी सरकार के पक्ष में थीं। ऐसे में, यदि पार्टी एक ऐसे सशस्त्र प्रदर्शन को शामिल हो कर नियन्त्रित न करती, तो यह एक अपरिपक्व आम बग़ावत का रूप ले सकता था। इसमें हार क्रान्ति को काफ़ी पीछे धकेल देती। ऐसे में, कामेनेव ने सोवियत की कार्यकारी समिति की बैठक में 3 जुलाई को ही स्पष्ट किया कि बोल्शेविकों ने इस प्रदर्शन का आह्वान नहीं किया था; लेकिन अब जबकि सैनिक और मज़दूर सड़कों पर हैं तो उन्हें उनके बीच में होना चाहिए और प्रदर्शन को हिंस्र होने से रोकना चाहिए। ज़िनोवियेव और त्रात्स्की ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया।

अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच जिन्हें कि रूसी क्रान्ति के सबसे क़ाबिल इतिहासकारों में से माना जाता है, इस बैठक के बारे में बुरी तरह से भ्रमित हैं। वे लिखते हैं कि 3 जुलाई को केन्द्रीय कमेटी की बैठक में कामेनेव ने यह प्रस्ताव रखा था और ज़िनोवियेव और त्रात्स्की ने उसका समर्थन किया था। **लेकिन 3 जुलाई को तो त्रात्स्की बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी में थे ही नहीं। त्रात्स्की छठीं पार्टी कांग्रेस में केन्द्रीय कमेटी में चुने गये थे और 3 जुलाई के विद्रोह के समय ही वे अपने ग्रुप मेज़राओन्त्सी के साथ बोल्शेविक पार्टी में शामिल हुए थे।** लेकिन केन्द्रीय कमेटी में उनका चुनाव छठी पार्टी कांग्रेस में हुआ था। 3 जुलाई को किसी केन्द्रीय कमेटी बैठक में त्रात्स्की के होने का ई.एच. कार या मॉरिस डॉब या बेतेलहाइम भी कोई ज़िक्र नहीं करते। **वास्तव में, स्वयं त्रात्स्की ने अपने 'रूसी क्रान्ति का इतिहास' में ऐसी किसी बैठक का ज़िक्र नहीं किया है।** उन्होंने भी सोवियत की कार्यकारी समिति की बैठक में कामेनेव के प्रस्ताव का अपने द्वारा समर्थन का ज़िक्र किया है। स्पष्टत: ऐसा लगता है कि रैबिनोविच यहाँ तथ्यों में गड़बड़ कर गये हैं (अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच, 1976, **'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर'**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कं., न्यूयॉर्क, पृ.12)। सम्भवत: त्रात्स्की की भूमिका को अतिरंजित करने के प्रयास में ऐसा हो गया हो।

बहरहाल, 4 जुलाई को लेनिन भी बोल्शेविक मुख्यालय पहुँच चुके थे और वहाँ उन्होंने क़रीब दस हज़ार सैनिकों और मज़दूरों की भीड़ को सम्बोधित किया। इस भाषण में लेनिन ने स्पष्ट किया कि इस समय संयम और धैर्य की सख्त ज़रूरत है। अभी बोल्शेविक सोवियतों में बहुमत में नहीं हैं। सोवियतें सत्ता लेने को तैयार नहीं हैं। ऐसे में, हम ज़बरन सत्ता छीनकर सोवियतों को नहीं दे सकते हैं। पहले सोवियतों में बहुमत अर्जित करना होगा। उससे पहले हमें किसी भी ऐसे प्रदर्शन को शान्तिपूर्ण बनाये रखना होगा। लेनिन समझ रहे थे कि अभी सारी सैन्य टुकड़ियों में भी आरज़ी सरकार के ख़िलाफ़ विद्रोह का माहौल नहीं है। मोर्चे पर कई ऐसी टुकड़ियाँ थीं जिनमें मेंशेविक या समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्व में थे। ऐसे में, उन्हें पेत्रोग्राद में किसी भी अपरिपक्व विद्रोह को

कुचलने के लिए बुलाया जा सकता है। ऐसा हुआ भी। 4 जुलाई की शाम को यह ख़बर मिली कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने आरज़ी सरकार के साथ अपनी पक्षधरता जताई और मोर्चे से उन टुकड़ियों को पेत्रोग्राद बुलाने की तैयारी शुरू कर दी। साथ ही, आरज़ी सरकार के ख़ुफ़िया विभाग ने लेनिन के ख़िलाफ़ जर्मन एजेण्ट होने का पूरा मामला तैयार किया और झूठे प्रमाणों को कई ग़ैरीसनों में फैलाया। इस प्रक्रिया में जो तटस्थ ग़ैरीसनें थीं वे आरज़ी सरकार के पक्ष में खड़ी हो गयीं। लेनिन और बोल्शेविक नेतृत्व समझ रहा था कि अगर स्थिति हाथ से निकली तो पेत्रोग्राद में सैनिक और मज़दूर ही एक दूसरे का ख़ून बहायेंगे। नतीजतन, 5 जुलाई को *प्राव्दा* ने अपने पिछले पृष्ठ पर घोषणा छापी कि प्रदर्शन वापस ले लिया गया है। जिन जगहों पर प्रदर्शन हुए उन्हें आरज़ी सरकार के प्रति वफ़ादार सैन्य टुकड़ियों ने कुचल दिया।

लेकिन इसके बाद भी छिटपुट टकराव व प्रदर्शन की घटनाएँ अगले 2 दिनों तक जारी रहीं। बोल्शेविकों ने प्रदर्शन को नियन्त्रित किया और उसे भरसक शान्तिपूर्ण बनाये रखने का प्रयास किया। इसका प्रमुख कारण यही था कि अभी बोल्शेविक पार्टी प्रमुख सोवियतों यानी पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में बहुमत में नहीं थी और न ही वह कई अन्य निकायों में अपने प्रभाव को निर्णायक रूप से स्थापित कर पायी थी। साथ ही, किसानों का समर्थन भी बोल्शेविक अभी पूरी तरह से नहीं जीत पाये थे। यही कारण था कि लेनिन का मानना था कि आम बग़ावत का वक़्त अभी नहीं आया है। लेनिन ने कहा कि अभी सत्ता पर क़ब्ज़ा करना और उस पर क़ायम रह पाना सम्भव नहीं है क्योंकि बहुसंख्यक आबादी अभी भी "समाजवादी-क्रान्तिकारियों और मेंशेविकों द्वारा नियन्त्रित निम्न पूँजीवादी नीतियों में यक़ीन करती है।" जुलाई का स्वत:स्फूर्त उभार आरज़ी सरकार के बर्बर दमन द्वारा कुचल दिया गया। लेकिन अब स्वयं बुर्जुआ वर्ग डर गया था और उसने बोल्शेविक पार्टी के दमन की शुरुआत की।

लेनिन और ज़िनोवियेव भूमिगत हो गये और कामेनेव व कोलोन्ताई को गिरफ़्तार कर लिया गया। त्रात्स्की भी गिरफ़्तार हो गये। *प्राव्दा* का दमन कर दिया गया। बोल्शेविकों के ख़िलाफ़ हर जगह छापे, गिरफ़्तारियाँ आदि शुरू हो गयीं। जुलाई भर बोल्शेविकों के ख़िलाफ़ प्रचार का कुछ असर मज़दूरों और सैनिकों के भी कुछ हिस्सों पर हुआ। इसमें बोल्शेविकों और विशेषकर लेनिन के जर्मन एजेण्ट होने का कुत्सा-प्रचार प्रमुख था। इसके आधार पर जो माहौल पैदा हुआ, उसका लाभ उठाते हुए पूरे पेत्रोग्राद में बोल्शेविकों पर सड़कों पर हमले हुए, कई बोल्शेविकों की हत्या भी की गयी। तमाम बोल्शेविक नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया। यह बोल्शेविक पार्टी के सांगठनिक ढाँचे की ताक़त थी कि वह हर प्रकार के दमन को झेलकर भी अपने गोपनीय संगठन को क़ायम रखती थी और फिर से उबरने की शक्ति रखती थी। जल्द ही स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार के दमन से बोल्शेविकों की राजनीतिक व सांगठनिक शक्तियों को नष्ट नहीं किया जा सकता है।

धीरे-धीरे बोल्शेविक-विरोधी कुत्सा-प्रचार का असर जनता के बीच कम होने लगा। इसमें बोल्शेविकों के सतत प्रचार की भी एक भूमिका थी। दूसरी ओर, गैलीशियाई आक्रमण के बुरी तरह असफल होने की ख़बरें जैसे-जैसे पहुँच रही थीं, वैसे-वैसे पेत्रोग्राद में बोल्शेविकों के प्रति

समर्थन बढ़ता जा रहा था। बोल्शेविकों का दमन पूरे जुलाई और अगस्त जारी रहा। लेकिन इस दमन ने बोल्शेविकों का रुतबा लोगों के बीच में और ज़्यादा बढ़ाया। तमाम क्रान्तिकारी मज़दूर और सैनिक जो अभी भी मेंशेविक प्रभाव में थे, उन्होंने मेंशेविक पार्टी सदस्यता के कार्ड फाड़कर बोल्शेविक पार्टी में शामिल होना शुरू कर दिया। जैसा कि हमने ऊपर ज़िक्र किया, गैलीशिया में शुरू किया गया हमला बुरी तरह नाकामयाब हुआ था और बड़ी संख्या में रूसी सैनिक मारे गये या हताहत हुए थे। नतीजतन, प्रधानमन्त्री ल्वोव ने इस्तीफ़ा दे दिया और कैडेट पार्टी सरकार से बाहर हो गयी थी। अब केरेंस्की प्रधानमन्त्री बना और सरकार में समाजवादी-पार्टी और मेंशेविक ही प्रमुख ताक़त रह गये। ऐसी सरकार द्वारा बोल्शेविकों के ख़िलाफ़ भयाक्रान्तता में उठाये गये क़दमों और 3 से 5 जुलाई के बीच मज़दूरों और सैनिकों के बर्बर दमन ने पेत्रोग्राद और मॉस्को के मज़दूरों और सैनिकों के बीच मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों को लेकर बचे रहे-सहे भ्रम को भी समाप्त कर दिया था। त्रात्स्की की गिरफ़्तारी के ठीक पहले उनकी अगुवाई में मेज़राओन्त्सी ग्रुप बोल्शेविक पार्टी में शामिल हो गया था। यही माहौल था जब 26 जुलाई को पेत्रोग्राद में गुप्त रूप से बोल्शेविक पार्टी की छठीं कांग्रेस का आयोजन हुआ।

लेनिन द्वारा भेजे गये एक पर्चे ('नारों के बारे में') में दी गयी कार्यदिशा की रोशनी में बोल्शेविक पार्टी की 1907 की लन्दन की कांग्रेस के बाद पहली कांग्रेस हुई। यह छठीं पार्टी कांग्रेस गुप्त रूप से 26 जुलाई से 3 अगस्त 1917 को हुई। इसमें स्वेर्दलोव ने अध्यक्षता की और स्तालिन व बुखारिन ने प्रमुख रपटें पेश कीं। ई.एच. कार व अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच के अनुसार त्रात्स्की की गिरफ़्तारी से पूर्व वर्तमान राजनीतिक स्थिति पर प्रमुख रिपोर्ट त्रात्स्की को पेश करनी थी। लेकिन त्रात्स्की की गिरफ़्तारी के बाद कार के अनुसार यह रिपोर्ट बुखारिन ने पेश की और स्तालिन ने एक दूसरी अहम रपट पेश की। रैबिनोविच के अनुसार त्रात्स्की द्वारा पेश की जाने वाली रिपोर्ट को पेश करने के लिए आनन-फ़ानन में स्तालिन को चुना गया, जोकि मौजूदा राजनीतिक स्थिति के विषय पर थी। यहाँ भी इस बयान के स्वर से रैबिनोविच के उदार बुर्जुआ पूर्वाग्रह प्रकट हो जाते हैं। ऐसी "आनन-फ़ानन" का कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

ख़ैर, जुलाई में बुर्जुआ वर्ग द्वारा नग्न रूप में प्रतिक्रान्ति के साथ खड़े होने और साथ ही मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी नेतृत्व वाली सोवियतों के आरज़ी सरकार के पिछलग्गू बन जाने की स्थिति में कांग्रेस ने "सारी सत्ता सोवियतों" का नारा वापस ले लिया। यह लेनिन की राय के अनुसार ही किया गया था। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि सोवियतों को सत्ता देने के नारे को वापस लेने का यह अर्थ नहीं था कि अब पार्टी सोवियत सत्ता की हामी नहीं थी। यह केवल यह दिखला रहा था कि क्रान्ति के शान्तिपूर्ण विकास की सम्भावनाओं का दौर अब बीत चुका है और अब आरज़ी सरकार के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह को पार्टी को संगठित करना होगा। कांग्रेस ने आरज़ी सरकार को उखाड़ फेंकने और मज़दूर सत्ता क़ायम करने का प्रस्ताव पारित किया। नोगिन ने यह प्रश्न उठाया कि पिछले दो महीनों में ऐसा क्या बदला है, कि हम ऐसा निर्णय ले रहे हैं। स्तालिन ने इसका तीखा जवाब देते हुए कहा, **"यह पूछना बेकार का पाण्डित्य-प्रदर्शन**

होगा कि रूस को अपने समाजवादी रूपान्तरण के लिए तब तक इन्तज़ार करना चाहिए, जब तक कि यूरोप 'शुरुआत' नहीं कर देता।" आगे उन्होंने कहा कि, **"इस सम्भावना को ख़ारिज़ नहीं किया गया है कि रूस वह देश हो सकता है, जो समाजवाद की ओर जाने वाले पथ को प्रदर्शित करे।"** (कार, 1950, *वही*, पृ. 92) आगे स्तालिन ने यह कहा कि **"हमें यह घिसा-पिटा विचार छोड़ देना चाहिए कि यूरोप ही हमें रास्ता दिखा सकता है। एक कठमुल्लेपन का मार्क्सवाद होता है और दूसरा रचनात्मक मार्क्सवाद। मैं दूसरे का समर्थक हूं।" (बोल्शेविक पार्टी का इतिहास**, 2003, राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ में उद्धृत, पृ. 199)

कार स्तालिन के इस कथन को पूरी तरह ग़लत रूप में व्याख्यायित करते हैं और कहते हैं कि त्रात्स्की 1906 में यही बात कह रहे थे। वास्तव में, लेनिन भी इस बात को मानते थे कि समाजवाद की ओर पथ प्रदर्शित करने का काम रूस कर सकता है। लेनिन समेत अधिकांश बोल्शेविक इस बात पर सहमत थे कि रूस में समाजवादी व्यवस्था को टिकाये रखने के लिए दो कारकों की आवश्यकता है: पहला, यूरोप में सर्वहारा क्रान्ति का फूट पड़ना और दूसरा, ग़रीब किसान आबादी का समर्थन। लेकिन त्रात्स्की का मानना था कि किसान आबादी की क्रान्तिकारी सम्भावना पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। मज़दूर वर्ग एकमात्र क्रान्तिकारी वर्ग है। 1906 में त्रात्स्की ने नारा दिया, "ज़ारशाही नहीं, मज़दूर सरकार"। लेनिन ने इसे वामपन्थी मूर्खता बताया और कहा कि तात्कालिक लक्ष्य मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही होगी और उसके बाद ही सर्वहारा वर्ग ग़रीब किसानों व खेतिहर सर्वहारा को लेकर समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ सकता है। पहला चरण 1917 की फ़रवरी क्रान्ति में मूलत: और मुख्यत: पूरा हो चुका था क्योंकि राज्यसत्ता का प्रश्न हल हो चुका था और किसानों का विभेदीकरण व खेती में पूँजीवादी विकास भी कई दशकों से जारी थे। इस चरण के पूरा होने के बाद लेनिन समाजवादी क्रान्ति के चरण की बात कर रहे थे। स्तालिन ने छठी पार्टी कांग्रेस में इसी बात को दुहराया था। बोल्शेविक पार्टी के भी कई नेता यह समझ रहे थे कि जब तक जनवादी क्रान्ति *पूरी* नहीं हो जाती यानी जब तक उसके सभी कार्यभार पूरे नहीं कर लिये जाते तब तक समाजवादी क्रान्ति की बात करना दुस्साहसवाद होगा। लेनिन के सतत संघर्ष से पार्टी इस अवस्थिति पर आ सकी कि रूस में युद्ध और 'दोहरी सत्ता' की विशिष्ट स्थिति के चलते अब यह अनिवार्य हो गया है कि सर्वहारा वर्ग समाजवादी क्रान्ति के कार्यभार को हाथों में ले और पूरा करे, अन्यथा जनवादी क्रान्ति भी बाधित हो जायेगी और अपूर्ण ही रह जायेगी। लेकिन ई.एच. कार इस पूरे तर्क को नहीं समझ पाते और यहाँ पर उन पर त्रात्स्की का असर स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है।

रैबिनोविच समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम को अपनाने और यूरोप द्वारा समाजवादी क्रान्ति का इन्तज़ार न करने के स्तालिन के कथन के बारे में कहते हैं कि स्तालिन के प्रस्ताव पर काफ़ी लम्बी बहस चली जिसमें त्रात्स्की के साथ मेज़राओन्त्सी ग्रुप में रह चुके यूरेनोव, पुराने बोल्शेविक वोलोदार्स्की, मानुइल्स्की ने "सारी सत्ता सोवियतों को" के नारे को छोड़ने के प्रश्न पर स्तालिन का

विरोध किया। बुखारिन ने बीच-बीच की स्थिति अपनायी। सोकोलनिकोव, स्मिल्गा और बुब्नोव जैसे प्रमुख बोल्शेविक नेताओं ने स्तालिन के प्रस्ताव का समर्थन किया। रैबिनोविच अन्त में यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि कांग्रेस ने इस विषय पर जो प्रस्ताव पारित किया वह दोनों धड़ों की अवस्थितियों का मिश्रण है। लेकिन जब वे बताते हैं कि यह मिश्रण क्या है, तो आप पाते हैं कि स्तालिन का प्रस्ताव बेहद छोटे-मोटे मामूली संशोधनों के साथ हूबहू पारित हो गया था। (देखें, रैबिनोविच, 1976, **'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर'**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कं., न्यूयॉर्क, पृ. 85-89) उदार बुर्जुआ अकादमिकों की स्तालिन के प्रति एलर्जी को समझना कोई मुश्किल काम नहीं है। रैबिनोविच भी अन्य बुर्जुआ इतिहासकारों की तरह किसी न किसी तरह यह यक़ीन दिलाने का प्रयास करने का अवसर निकाल लेते हैं कि स्तालिन कोई बड़े सिद्धान्तकार नहीं थे, वे पार्टी नेतृत्व में ज़िनोवियेव, कामेनेव व त्रात्स्की के जितना क़द भी नहीं रखते थे, वग़ैरह। लेकिन अगर आप स्वयं लेनिन के लेखन को पढ़ें, पार्टी कांग्रेसों और केन्द्रीय कमेटी के कार्यवृत्त पर ग़ौर करें तो आपके सामने दूसरी तस्वीर निकलकर आती है।

बहरहाल, छठीं कांग्रेस में और कई अहम फ़ैसले हुए। मसलन, **पार्टी ने पहली बार औपचारिक तौर पर जनवादी केन्द्रीयता के उसूलों को अपनी नियमावली में बाध्यताकारी नियम के रूप में शामिल किया।** यह सच है कि इस सिद्धान्त पर बोल्शेविक पिछले एक दशक से भी ज़्यादा समय से अमल कर रहे थे। लेकिन इसे पार्टी कार्यक्रम में औपचारिक तौर पर अभी तक शामिल नहीं किया था। इसके अनुसार, निर्णय लिये जाने से पहले पूर्ण जनवाद और निर्णय लिये जाने के बाद पूर्ण अनुशासन होगा, दो कांग्रेसों के बीच केन्द्रीय कमेटी सर्वोच्च निकाय होगी, अल्पमत बहुमत के मातहत होगा, सभी कमेटियाँ केन्द्रीय कमेटी के मातहत होंगी और नीचे की कमेटियाँ ऊपर की कमेटियों के मातहत होंगी। नियमावली में यह संशोधन पार्टी इतिहास में एक अहम मील का पत्थर था।

कांग्रेस में एक और अहम बहस हुई। कांग्रेस से पहले ही त्रात्स्की, नोगिन, लूनाचार्स्की और कामेनेव का मानना था कि लेनिन को, जो कि इस समय भूमिगत थे, अपने आपको क़ानून के हवाले कर देना चाहिए। लेकिन स्तालिन, ज़िनोवियेव व अन्य बोल्शेविक नेताओं का मानना था कि यह लेनिन की जान लेने के लिए बिछाया गया जाल है। छठीं कांग्रेस में भी इस बात को लेकर बहस उठी कि लेनिन को आत्मसमर्पण करना चाहिए या नहीं। कांग्रेस ने फ़ैसला किया कि किसी भी क़ीमत पर लेनिन की जान को ख़तरे में नहीं डाला जाना चाहिए। जिन मेंशेविक नेताओं ने लेनिन की सुरक्षा की गारण्टी की बात की है, उन्हीं ने जुलाई में बोल्शेविक पार्टी के दमन में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी। ऐसे में, ऐसी किसी गारण्टी पर भरोसा करने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में, त्रात्स्की मेंशेविकों पर पर्याप्त सन्देह न करने के कारण ही गिरफ़्तार हुए थे। उन्होंने मेंशेविक नेता व मन्त्री को ही बता दिया था कि वे लारिन के घर पर हैं। लारिन के घर से ही उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया था।

अगस्त माह में कई ऐसी महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं जिन्होंने लेनिन की मूल्यांकनों को सटीकता

से सही ठहराया और साथ ही लेनिन को सितम्बर के दूसरे सप्ताह में इस नतीजे पर पहुँचाने में भी भूमिका निभायी कि अब सशस्त्र बग़ावत (armed insurrection) का समय आ गया है। केरेंस्की ने अगस्त के शुरुआत में एक राज्य समिति की बैठक बुलायी। इस बैठक में बुर्जुआ वर्ग, भूस्वामी वर्ग के प्रतिनिधि, मन्त्री और सेना के अधिकारी बैठे। यह बैठक क्रान्ति के बढ़ते ज्वार पर क़ाबू पाने की रणनीति पर विचार-विमर्श के लिए बुलायी गयी थी। बोल्शेविकों ने इसके विरोध में प्रदर्शन का आह्वान किया। यह बैठक असफलता में समाप्त हुई क्योंकि शासक वर्ग तेज़ी से प्रतिक्रिया के पक्ष में जा रहा था। इसी समय कोर्निलोव मृत्युदण्ड को पुनर्स्थापित करने और सोवियतों, भूमि समितियों व कारख़ाना समितियों को बर्बरता से कुचल देने की वकालत कर रहा था। शासक वर्ग को क्रान्तिकारी आन्दोलन के विरुद्ध इसी प्रकार की प्रतिक्रियावादी निर्णायकता की ज़रूरत थी। बुर्जुआ वर्ग और भूस्वामी वर्ग तेज़ी से कोर्निलोव के पक्ष में चला गया। केरेंस्की शुरू में कोर्निलोव से समझौते कर रहा था लेकिन किसी भी प्रकार के सैन्य तख्तापलट को लेकर वह आत्मविश्वस्त नहीं था। नतीजतन, उसने कोर्निलोव के तख्तापलट के प्रयास से ख़ुद को अलग कर लिया। कोर्निलोव के विद्रोह का प्रयास शुरू होने से पहले ही विशेष तौर पर बोल्शेविकों के नेतृत्व में और आमतौर पर सभी सामाजिक-जनवादियों के नेतृत्व में, मज़दूरों और सैनिकों के प्रयासों से कुचल दिया गया। इसका विस्तृत ब्यौरा हम ऊपर पेश कर चुके हैं। इसके बाद क्रान्ति और प्रतिक्रान्ति की सापेक्षिक ताक़त की एक तस्वीर जनता के सामने भी उपस्थित हो गयी थी और अगुवा मज़दूरों व सैनिक भी इस बात को समझने लगे थे कि अगर वे समाजवादी क्रान्ति की तरफ़ आगे नहीं जाते हैं, तो प्रतिक्रान्ति की ताक़तें फिर से एकजुट होकर प्रयास करेंगी और जारी क्रान्ति को कुचल डालेंगी।

इसी बीच मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने मज़दूरों, सैनिकों और किसानों के क्रान्तिकारी मिजाज़ को सहयोजित करने के लिए एक जनवादी राज्य सम्मेलन बुलाया और उसमें "गणराज्य की परिषद" का चुनाव किया। इस परिषद को "संसद पूर्व निकाय" (प्रेद पार्लियामेण्ट या pre-parliament) की भूमिका अदा करनी थी, जब तक कि संविधान सभा नहीं बुला ली जाती है। ज़ाहिर है, यह मेहनतकश जनसमुदायों की क्रान्तिकारी चेतना और पहलक़दमी को कुन्द करने के लिए उठाया गया क़दम था और इसका मक़सद था क्रान्ति को बुर्जुआ वैधानिकता के दायरे से बाहर न जाने देना। बोल्शेविक पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने अन्तत: इस फ़र्ज़ीवाड़े का बहिष्कार करने का निर्णय किया। लेकिन पार्टी के भीतर ही कामेनेव व तियोदोरोविच जैसे लोग प्रेद पार्लियामेण्ट में भाग लेने के हामी थे। कामेनेव शुरू से ही सशस्त्र विद्रोह का विरोध कर रहे थे और प्रेद पार्लियामेण्ट में हिस्सा लेने की दलील वे इसीलिए दे रहे थे ताकि सशस्त्र विद्रोह का कार्यक्रम टाला जा सके। लेकिन लेनिन इसका निरन्तरता से विरोध कर रहे थे। स्तालिन ने भी अखिल रूसी जनवादी सम्मेलन के बोल्शेविक धड़े की बैठक में इसका पुरज़ोर विरोध किया। त्रात्स्की ने भी प्रेद पार्लियामेण्ट के बहिष्कार का नारा दिया, जिसके लिए लेनिन ने उनकी प्रशंसा की। प्रेद पार्लियामेण्ट में भाग लेना लोगों में झूठी आशा पैदा कर सकता था और क्रान्ति के

ज्वार पर नकारात्मक असर डाल सकता था। प्रेद पार्लियामेण्ट के नाटक से अलग बोल्शेविकों ने सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस बुलाने का आह्वान किया। तय था कि इस कांग्रेस में बोल्शेविकों को बहुमत मिलेगा, जैसा कि अगस्त के आख़िरी सप्ताह के घटनाक्रम से तय हो गया था। बोल्शेविकों ने पेत्रोग्राद और मॉस्को सोवियतों में बहुमत जीत लिया था। किसान सोवियतों में और वीटीएसआईके में अभी भी बोल्शेविक अल्पमत में थे, लेकिन सितम्बर से भूमि क़ब्ज़ा आन्दोलन ने जैसा आक्रामक रूप धारण किया उससे तय हो गया था किसानों की आबादी का समर्थन उसी राजनीतिक शक्ति को मिलेगा जो कि भूमि क़ब्ज़ों का बिना शर्त समर्थन करेगी। और बोल्शेविक पार्टी शुरू से ऐसी एकमात्र पार्टी थी।

इस बीच समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी में भी फूट पड़ गयी और वामपन्थी समाजवादी-क्रान्तिकारी धड़ा, जो कि बहुमत था, अलग हो गया और बोल्शेविकों के पक्ष में आ गया। इसके साथ, लेनिन की मज़दूर-किसान संश्रय के ज़रिये समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न करने की अवधारणा का एक अधूरा हिस्सा भी पूरा हो गया। समाजवादी-क्रान्तिकारियों में फूट के बारे में मॉरिस डॉब ने सही टिप्पणी की है, **"जैसा कि कृषि-प्रधान देशों में किसान पार्टियों के साथ अक्सर होता है, दक्षिणपन्थी धड़े में अपनी नीतियों को ज़्यादा समृद्ध किसानों के हितों के अनुसार अनुकूलित करने और ग्रामीण पूँजीपति वर्ग की पार्टी बनने की प्रवृत्ति होती है। लेकिन जैसे-जैसे गर्मी और फिर शरद में किसानों में वास्तविक धाराएँ आगे बढ़ीं, जिनका विवरण हम दे चुके हैं, यह भूमि प्रश्न के क्रान्तिकारी समाधान का पक्ष लेने वाला वामपन्थी धड़ा था जिसने ग्रामीण क्षेत्रों में सबसे ज़्यादा समर्थक जीते और ग्रामीण सोवियतों व अन्य स्थानीय निकायों में किसानों के जनसमुदायों का प्रमुख प्रवक्ता बन गया।"** (मॉरिस डॉब, 1948, **'सोवियत इकोनॉमिक डेवलपमेण्ट सिंस 1917'**, रूटलेट एण्ड कीगनपॉल लि., लन्दन, पृ. 79) ये वे स्थितियाँ थीं जिन्होंने अगस्त से लेकर सितम्बर के मध्य तक लेनिन के विचारों को विकसित करने में मुख्य भूमिका निभायी।

लेनिन के विचारों के विकसित होने के दौरान ही पार्टी के भीतर जनवादी राज्य सम्मेलन और उसके द्वारा गठित प्रेद पार्लियामेण्ट में हिस्सेदारी को लेकर तीखी बहस चल रही थी। लेनिन ने शुरू से ही जनवादी राज्य सम्मेलन को व्यर्थ और जनता की विद्रोही भावनाओं को बुर्जुआ वैधिकता के दायरे में रखने का उपकरण बताया था। कोर्निलोव के हमले को नाकाम करने के बाद पेत्रोग्राद, मॉस्को और तमाम प्रान्तों में मेहनतकश जनता तेज़ी से इस पक्ष में आ गयी थी कि सारी सत्ता सोवियतों को दे दी जानी चाहिए। लेनिन भी कोर्निलोव प्रकरण के बाद ही सोवियतों को सत्ता देने के नारे को पुनर्जीवित करते हैं। अगस्त अन्त और सितम्बर के प्रथम सप्ताह के बीच बोल्शेविक पेत्रोग्राद व मॉस्को सोवियतों में बहुमत में आ गये थे। लेकिन अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस की कार्यकारी परिषद में वे अभी भी अल्पमत में थे। कामेनेव ने 31 अगस्त से 2 सितम्बर तक चली इसकी बैठक में बोल्शेविकों की ओर से प्रस्ताव रखा कि नयी सरकार बनाये जाने की ज़रूरत है जिसमें प्रतिक्रियावादी कैडेट पार्टी और अन्य प्रतिक्रियावादी तत्वों को क़तई शामिल

नहीं किया जाना चाहिए; इसमें क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग और किसान वर्ग के प्रतिनिधि होने चाहिए जिन्हें रूस को एक जनवादी गणराज्य घोषित करना चाहिए। स्पष्ट है कि कामेनेव ने प्रस्ताव को अपनी समझदारी के अनुसार बनाया था और इसीलिए वे अभी भी जनवादी गणराज्य की बात कर रहे थे और बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति को पूर्णता तक पहुँचाये बग़ैर किसी भी आम बग़ावत और समाजवादी क्रान्ति के प्रस्ताव का शुरू से ही विरोध कर रहे थे। लेकिन उनके प्रस्ताव में एक अस्पष्टता है कि वे इस क़दम को एक संक्रमणात्मक क़दम के तौर पर पेश कर रहे हैं या फिर एक दीर्घकालिक समाधान के रूप में। बहरहाल, बोल्शेविकों का यह प्रस्ताव इसी समय जारी पेत्रोग्राद सोवियत की बैठक में बहुमत से पारित हो गया जो कि पेत्रोग्राद सोवियत में बोल्शेविकों के बहुमत में आने का प्रतीक था। लेकिन अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के कार्यकारी परिषद में यह प्रस्ताव पारित नहीं हो सका।

रैबिनोविच का मानना है कि कोर्निलोव प्रकरण के होने के बाद सितम्बर के प्रथम सप्ताह के दौरान लेनिन के चिन्तन में कुछ बदलाव आया और कुछ समय के लिए वे मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी से समझौते के बारे में सोचने लगे थे। कोर्निलोव के हमले ने तकनीकी और सैन्य मसलों में तालमेल करने के लिए सभी समाजवादी पार्टियों को बाध्य कर दिया था और इस सहयोग से लेनिन ने क्रान्ति के शान्तिपूर्ण विकास के रास्ते को फिर से पुनर्जीवित किया। रैबिनोविच कहते हैं कि लेनिन सोवियतों के "मृत" हो जाने और सीधे पार्टी के नेतृत्व में मज़दूर वर्ग द्वारा सत्ता पर क़ब्ज़ा करने की कार्यदिशा से पीछे चले गये थे। रैबिनोविच लेनिन के लेख "समझौतों के बारे में" को समूचे ऐतिहासिक सन्दर्भों से काटकर ये नतीजे निकालते हैं। वास्तव में लेनिन ने कोर्निलोव प्रकरण के बाद पैदा हुई विशिष्ट परिस्थितियों में इस सम्भावना को टटोलने का प्रयास किया था कि क्या मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों को इस बात के लिए राज़ी किया जा सकता है कि सोवियत कांग्रेस सारी सत्ता को अपने हाथों में ले ले। 3 सितम्बर को जब लेनिन इस लेख को छपने के लिए पेत्रोग्राद भेजने वाले थे, तभी मिली नयी सूचनाओं के आधार पर उन्होंने एक पश्चलेख जोड़ दिया जिसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि इस समझौते का दौर भी बीत चुका है। लेकिन यदि ऐसा न भी होता तो लेनिन का अर्थ यह क़तई नहीं था कि यह समझौता कोई दीर्घकालिक मिश्रित समाजवादी सरकार बनायेगा या अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस मेंशेविकों व समाजवादी-क्रान्तिकारियों के नेतृत्व में कोई दीर्घकालिक सरकार चलायेगी। लेनिन उस सूरत में भी यह मानते थे कि सोवियतों के हाथों में सत्ता आने के बाद तत्काल समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के लिए संघर्ष शुरू कर दिया जायेगा और अन्ततः बल प्रयोग के साथ ही सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को स्थापित किया जायेगा। लेनिन "समझौतों के बारे में" लेख में मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों के समक्ष इस प्रकार के समझौते का प्रस्ताव रखते हुए भी स्पष्ट करते हैं कि बोल्शेविक पार्टी प्रचार और उद्वेलन की अपनी स्वतन्त्रता को क़ायम रखेगी। लेनिन कहते हैं कि यदि मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी बुर्जुआ वर्ग से रिश्ता तोड़ ले और मिलकर सत्ता सोवियतों के हवाले कर दें, तो बोल्शेविक सरकार के बाहर रहेंगे और उन्हें प्रचार व उद्वेलन

की पूरी आज़ादी मिलनी चाहिए। स्पष्ट है कि लेनिन जिस समझौते की बात कर रहे थे, वह केवल कुछ समय के लिए क्रान्ति के शान्तिपूर्ण विकास की वकालत कर रहा था और अन्ततः पार्टी समाजवादी क्रान्ति की ओर बढ़ने की अपनी स्वतन्त्रता को किसी भी रूप में गिरवी नहीं रख रही थी। यहाँ दो बातें और भी हैं। लेनिन इस क़दम के ज़रिये कोर्निलोव प्रकरण जैसे किसी प्रकरण की पुनरावृत्ति की सम्भावनाओं को भी न्यूनातिन्यून बनाने का प्रयास कर रहे थे। दूसरी बात यह कि लेनिन सोवियतों को सत्ता देने और सशस्त्र विद्रोह के आह्वान को तात्कालिक तौर पर छोड़ देने के बदले जिस स्वतन्त्रता की माँग कर रहे थे, वह मेंशेविक और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी नहीं मानने वाली थी और कहीं न कहीं लेनिन को भी इस बात का आभास था। लेकिन फिर भी लेनिन बुर्जुआ वर्ग से निर्णायक विच्छेद करने और अपनी क्रान्तिकारी जनवादी विश्वसनीयता को फिर से अर्जित करने का एक अवसर टटपुँजिया व संशोधनवादी बुर्जुआ पार्टियों को दे रहे थे। रैबिनोविच लेनिन के इस दौर के तीन लेखों "क्रान्ति के कार्यभार", "रूसी क्रान्ति और गृहयुद्ध" और "क्रान्ति का एक बुनियादी प्रश्न" के कुछ उद्धरण पेश करके ऐसी तस्वीर पेश करने की कोशिश करते हैं कि लेनिन भी अब कामेनेव जैसे बोल्शेविकों की कार्यदिशा पर आ गये थे। लेकिन अगर आप स्वयं इन लेखों को पढ़ें तो आप पाते हैं कि लेनिन इन समझौतों की बात केवल एक लघुकालिक मध्यवर्ती मंज़िल के तौर पर कर रहे थे, जिससे कि बुर्जुआ प्रतिक्रिया के भावी हमलों की सम्भावना को न्यूनातिन्यून किया जा सके और फिर ज़्यादा विश्वस्त और सशक्त क़दमों के साथ समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ा जाये। **अगर ऐसा न होता तो वे मिश्रित सरकार में बोल्शेविक पार्टी को भी शामिल करने की बात करते और उसके लिए प्रचार और उद्वेलन की पूर्ण स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने की माँग नहीं करते।** 'सारी सत्ता सोवियतों को' के नारे पर इस समझौते का प्रस्ताव रखने के पीछे लेनिन का एक अन्य कारण यह भी था कि बोल्शेविक तब तक पेत्रोग्राद और मॉस्को सोवियतों में बहुमत में आ गये थे और इस बात के भी स्पष्ट संकेत मिल रहे थे कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में भी वे बहुमत में आ सकते हैं क्योंकि भूमि के प्रश्न पर समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी अपने ही कार्यक्रम को लागू करने से मुकर चुकी थी। एक अन्य कारण यह भी था कि टटपुँजिया पार्टियों के दोलन के कारण उनमें भी फूट पड़ने के संकेत मिल रहे थे और इस बात की पूरी उम्मीद थी कि उनसे अलग होने वाले "वाम" धड़े बोल्शेविक कार्यक्रम पर राजी हो जायेंगे। लेनिन ने यहाँ एक बेहद युक्तिपूर्ण रणकौशल अपनाया था, जिसे रैबिनोविच कामेनेव जैसे समझौते की अवस्थिति पर जाना समझ बैठे हैं। (देखें, रैबिनोविच, 1976, **'दि बोल्शेविक्स कम टू पावर'**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कं., न्यूयॉर्क, पृ. 169-174) लेकिन अन्त में रैबिनोविच ख़ुद ही इस बात को स्वीकार कर बैठे हैं। वे लिखते हैं, **"चाहे जो भी हो, जैसा कि जुलाई-पूर्व के दौर में था, (उसी प्रकार सितम्बर की शुरुआत में भी) कामेनेव जैसे दक्षिणपन्थी बोल्शेविकों के कार्यक्रम सम्बन्धी विचारों - जो कि रूस को समाजवादी क्रान्ति के लिए अपरिपक्व मानते थे, और मानते थे कि अभी एक व्यापक आधार वाली, विशिष्ट रूप से समाजवादी गठबन्धन सरकार बनाने से आगे नहीं देखा जा सकता जिसमें**

कि बोल्शेविक भी शामिल हों, एक जनवादी गणराज्य की स्थापना की जाये, और संविधान सभा को बुलाया जाये - और लेनिन, त्रात्स्की जैसे लोगों, और पेत्रोग्राद के स्थानीय बोल्शेविक नेताओं के विचारों में - जो कि मानते थे कि सत्ता सोवियतों को हस्तान्तरित करना और एक मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारियों की मिश्रित सरकार समाजवादी क्रान्ति के विकास में महज़ एक संक्रमणात्मक मंज़िल है, जिसके तुरन्त बाद सर्वहारा वर्ग और निर्धनतम किसानों की तानाशाही स्थापित कर दी जायेगी - छोटी दूरी में यह सहमति थी कि एक शान्तिपूर्ण रास्ता सम्भव है।" (रैबिनोविच, 1976, *वही,* पृ. 173-174) रैबिनोविच की इस बात से ही स्पष्ट है कि लेनिन इस दौर में भी कामेनेव की अवस्थिति पर नहीं गये थे और समझौतों की उनकी समझदारी पूरी तरह से समाजवादी क्रान्ति के विकास के रणकौशल में परिस्थितियों के कारण आया एक परिवर्तन था, जिसे आगे भी बदला जा सकता था और वास्तव में लेनिन ने आगे इसे बदला भी।

बहरहाल, हम रैबिनोविच को ज़्यादा दोष नहीं देंगे क्योंकि जब एक बेहद छोटे से दौर में लेनिन ने इन रणकौशलात्मक समझौतों की बात की (सितम्बर के पहले दो सप्ताह) तो स्वयं पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी और वाइबोर्ग ज़िला कमेटी ने इसे नहीं समझा था और इसके विरोध में राय प्रकट की थी। उनका मानना था कि लेनिन की पुरानी कार्यदिशा ही सही थी, जिसके अनुसार सशस्त्र विद्रोह के ज़रिये आरज़ी सरकार को उखाड़ फेंकने की वकालत की गयी थी।

लेनिन के इसी दौर के लेखन के आधार पर बोल्शेविक केन्द्रीय कमेटी ने अपना नीति निर्धारण शुरू किया। जनवादी राज्य सम्मेलन में हिस्सेदारी करने का निर्णय किया गया जिसका घोषित लक्ष्य था कोर्निलोव प्रकरण के बाद एक नयी संयुक्त सरकार का गठन करना। बहस के मुद्दों में यह भी शामिल था कि कैडेटों को नयी सरकार में कोई जगह मिलनी चाहिए या नहीं। इस सम्मेलन का प्रस्ताव मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों का था और उन्होंने बेहद सोच-समझकर इस सम्मेलन का संघटन तय किया था। इसका ढाँचा ऐसे बनाया गया था कि बोल्शेविक किसी भी रूप में इसमें बहुमत में न आ सकें। सभी मज़दूर निकायों, जैसे कि ट्रेड यूनियन व कारख़ाना समितियों में बोल्शेविक कार्यक्रम हावी था। लेकिन मेंशेविकों ने प्रान्तों से जेम्स्त्वो प्रतिनिधियों, ग्रामीण किसान पंचायतों, सहकारी संघों आदि के प्रतिनिधियों को प्रमुख स्थान दिया था जिसमें कि मध्यमार्गियों की भरमार थी और टटपुँजिया राजनीति का असर ज़्यादा था। बोल्शेविक पार्टी के सामने यह असलियत पहली बैठक में ही साफ़ हो गयी जिसमें 532 समाजवादी क्रान्तिकारी प्रतिनिधि (इनमें से मात्र 71 "वाम" धड़े के थे जो कि बाद में बोल्शेविकों के समर्थन में आ गये थे, हालाँकि देश भर में किसानों में वाम धड़े का प्रभाव ज़्यादा था), 530 मेंशेविक थे (इनमें से 56 अन्तरराष्ट्रीयतावादी मेंशेविक थे, जो बोल्शेविकों के क़रीब आ गये थे) और 134 बोल्शेविक थे। मज़दूरों और किसानों में बोल्शेविक भारी बहुमत में थे। लेकिन एक विचित्र मिश्रण तैयार करके मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारियों ने उन्हें अल्पमत में ला दिया था। पार्टी की केन्द्रीय कमेटी को तभी समझ लेना चाहिए था कि यह सम्मेलन एक प्रहसन है जिसका मक़सद है क्रान्ति

को बुर्जुआ वैधिकता के दायरे में सीमित करना। लेकिन ऐसा हो नहीं सका।

14 सितम्बर को जनवादी राज्य सम्मेलन में पार्टी ने हिस्सेदारी की और इस सम्मेलन में लेनिन के "समझौतों के बारे में" पेश कार्यदिशा को कामेनेव अपनी दक्षिणपन्थी समझदारी से लागू कर रहे थे और त्रात्स्की अपनी समझदारी से लागू कर रहे थे। कामेनेव एक जनवादी गणराज्य, मिश्रित समाजवादी सरकार और उस सरकार में बोल्शेविकों की सम्भावित भागीदारी की बात करते हुए जनवादी क्रान्ति के पूर्णता तक पहुँचने के विचार से संचालित थे, जबकि त्रात्स्की लेनिन की इस अवधारणा के ज़्यादा क़रीब थे कि ऐसी कोई भी सरकार और सोवियत सत्ता समाजवादी क्रान्ति के विकास में एक लघुकालिक संक्रमणात्मक क़दम होगी। इस सम्मेलन में ही प्रेद पार्लियामेण्ट का निर्माण हुआ जिसमें शुरुआत में बोल्शेविकों ने भी कामेनेव के प्रभाव के चलते हिस्सेदारी की।

लेकिन लेनिन ने इस कार्यदिशा पर तीखा प्रहार किया और 12 से 14 सितम्बर के बीच में लेनिन ने दो पत्र केन्द्रीय कमेटी को लिखे। ये पत्र कमेटी को 15 सितम्बर को प्राप्त हुए। लेनिन ने स्पष्ट किया कि कई कारणों से अब पार्टी को तत्काल सशस्त्र विद्रोह करने की तैयारी शुरू कर देनी चाहिए और वैसे भी किसी भी सूरत में जनवादी राज्य सम्मेलन और फिर प्रेद पार्लियामेण्ट जैसे किसी प्रहसन में हिस्सेदारी करना बेकार था क्योंकि उसके संघटन से ही स्पष्ट था कि उसका मक़सद क्रान्तिकारी जनज्वार को बुर्जुआ वैधिकता में सहयोजित करना है। लेनिन ने कहा कि अब हमें सशस्त्र विद्रोह की तैयारी निम्न कारणों से करनी चाहिए: दो प्रमुख शहरी सोवियतों यानी पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में हम बहुमत में आ चुके हैं, कुछ अन्य क्षेत्रीय सोवियतों में भी हम बहुमत में आ गये हैं, गाँवों में भूमि क़ब्ज़ा आन्दोलन ने अभूतपूर्व रफ़्तार पकड़ ली है और उनके समर्थन में केवल बोल्शेविक पार्टी है, सेना मोर्चे पर पूरी तरह विघटन का शिकार है और शान्ति की माँग अपने चरम पर है, जर्मन नौसेना में बग़ावत जर्मनी में बदलती स्थितियों की ओर भी संकेत कर रहे हैं। लेनिन ने यह भी कहा कि इस बात के भी प्रमाण मिल रहे हैं कि ब्रिटिश, जर्मन साम्राज्यवादियों में अलग से कोई समझौता हो जाये और फिर रूसी बुर्जुआजी से तालमेल करके रूसी क्रान्ति को कुचलने के लिए ये ताक़तें एक हो जायें। इसके लिए केरेंस्की पेत्रोग्राद का जर्मनी के सामने आत्मसमर्पण भी कर सकता है। ये सारी स्थितियाँ दिखला रही हैं कि हमें तत्काल आम बग़ावत का कार्यभार अपना लेना चाहिए। इन दोनों पत्रों ('बोल्शेविकों को सत्ता पर क़ब्ज़ा करना ही होगा' और 'मार्क्सवाद और आम बग़ावत') को लेनिन की तीक्ष्ण दृष्टि को समझने के लिए और मार्क्सवाद और आम बग़ावत के नियमों के रिश्ते को समझने के लिए ज़रूर पढ़ा जाना चाहिए। दूसरे पत्र में लेनिन ने जुलाई और सितम्बर की स्थितियों में फ़र्क़ बताते हुए यह भी स्पष्ट किया कि जुलाई में आम बग़ावत क्यों अपरिपक्व होती और अब आम बग़ावत का वक़्त किस प्रकार आ चुका है। दूसरे पत्र में अन्त में लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी को ठोस सुझाव दिये जिसमें एक सैन्य केन्द्र स्थापित करना, अपनी सारी शक्ति को कारख़ानों, ग़ैरीसनों में आम बग़ावत की तैयारी के लिए भेज देना, आम बग़ावत के संचालन के लिए एक पार्टी मुख्यालय स्थापित करना आदि शामिल थे।

जब ये पत्र केन्द्रीय कमेटी को 15 सितम्बर को प्राप्त हुए तो उसमें एक बहस शुरू हो गयी। केवल स्तालिन का यह मानना था इन पत्रों को पार्टी दायरों में ले जाना चाहिए। अन्य सभी ने, जिसमें कि त्रात्स्की, कामेनेव, ज़िनोवियेव, स्वेर्दलोव, बुब्नोव, द्ज़र्जेस्की आदि शामिल थे, यह निर्णय लिया कि इन पत्रों की एक प्रतिलिपि सुरक्षित करके इसे जला दिया जाना चाहिए। लोमोव ने बाद में बताया कि केन्द्रीय कमेटी के सदस्यों को यह भय था कि इस पत्र के पार्टी की अन्य कमेटियों व इकाइयों तक पहुँचते ही एक अपरिपक्व आम बग़ावत की तैयारी शुरू हो जायेगी। रैबिनोविच के अनुसार त्रात्स्की के रवैये में लेनिन के इन पत्रों के बाद इतना बदलाव ज़रूर आया कि उन्होंने जनवादी राज्य सम्मेलन में पार्टी भागीदारी को विशेष महत्व देना बन्द कर दिया और सीधे सोवियतों को सत्ता हस्तान्तरित करने की बात करने लगे। लेकिन पार्टी ने अभी भी जनवादी सम्मेलन में भागीदारी जारी रखी और एक व्यापक समाजवादी सरकार के लिए दबाव डालने का प्रयास किया। लेनिन को इस समय तक यह बात सम्प्रेषित हो चुकी थी कि केन्द्रीय कमेटी उनकी सलाह को दरकिनार कर रही है। इसी बीच केन्द्रीय कमेटी ने 16 सितम्बर को लेनिन के पुराने लेख "रूसी क्रान्ति और गृहयुद्ध" को *राबोची पुत* में छाप दिया जिसमें लेनिन अभी क्रान्ति के शान्तिपूर्ण विकास और समझौतों की बात कर रहे थे। इस मौक़े पर लेनिन का धैर्य जवाब दे गया और उन्होंने स्वेर्दलोव और क्रुप्सकाया को सूचित किया कि वे पेत्रोग्राद लौट रहे हैं।

इसी बीच जनवादी राज्य सम्मेलन और प्रेद पार्लियामेण्ट के बारे में लेनिन की भविष्यवाणियाँ सही साबित हुईं क्योंकि इसमें टटपुँजिया पार्टियों ने अन्ततः बुर्जुआ वर्ग के प्रतिक्रियावादी तत्वों से समझौता करने और केरेंस्की से सौदेबाज़ी करने का फ़ैसला किया। अभी भी कामेनेव जनवादी सम्मेलन व प्रेद पार्लियामेण्ट में भागीदारी की वकालत कर रहे थे। त्रात्स्की और स्तालिन ने प्रेद पार्लियामेण्ट के बहिष्कार का नारा दिया। शुरू में कामेनेव का प्रस्ताव वोटिंग में विजयी हुआ। इस पर लेनिन ने गहरा क्षोभ व्यक्त किया और त्रात्स्की और स्तालिन के बहिष्कार के नारे का समर्थन किया। इसके बावजूद जनवादी सम्मेलन में मौजूद बोल्शेविक धड़े और केन्द्रीय कमेटी की संयुक्त बैठक में कामेनेव का प्रस्ताव विजयी हुआ। इसके बाद 22 सितम्बर को लेनिन का एक लेख "धोखाधड़ी के नायक और बोल्शेविकों की ग़लती" *राबोची पुत* के लिए लिखा जिसका एक सम्पादित संस्करण 24 सितम्बर को *राबोची पुत* में प्रकाशित हुआ। बोल्शेविकों की आलोचना वाले हिस्से को सम्पादक मण्डल ने सम्पादित कर दिया था। इस सम्पादक मण्डल में कामेनेव, सोकोलनिकोव, त्रात्स्की, स्तालिन और वोलोदार्स्की थे। इसके बाद 22 से 24 सितम्बर तक लेनिन ने एक लम्बा निबन्ध लिखा जो डायरी लेखन के रूप में था। यह प्रसिद्ध लेख था "एक प्रचारकर्ता की डायरी से" जो काफ़ी बाद में प्रकाशित हो सका। लेनिन ने इसे प्रकाशन के लिए भेजा लेकिन इसे सम्पादक मण्डल ने छापा नहीं। किन लोगों ने इसके विरुद्ध वोट किया इसका विवरण नहीं मिलता, लेकिन अन्ततः यह निबन्ध नहीं छपा। उल्टे लेनिन के पिछले मूल्यांकन को पेश करने वाला एक लेख "क्रान्ति के कार्यभार" को 26 सितम्बर को छापना शुरू किया गया। इससे क्षुब्ध होकर लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी के एक सदस्य स्मिल्गा को 27 सितम्बर को पत्र लिखा कि वह

पहल लें और केन्द्रीय कमेटी में इस बात को लेकर राय बनायें कि सशस्त्र विद्रोह की तैयारी शुरू की जाये। 1 अक्टूबर को उन्होंने एक अन्य लेख "संकट पक चुका है" लिखा जिसमें उन्होंने लिखा कि तमाम युद्धरत देशों में युद्ध के प्रति जनअसन्तोष बढ़ रहा है और वे सामाजिक उथल-पुथल की ओर बढ़ रहे हैं। जर्मन नौसेना में बग़ावत जर्मनी में भी क्रान्तिकारी स्थिति के निर्माण की ओर एक क़दम है। ऐसे में, विश्व सर्वहारा क्रान्ति के चक्र का उद्घाटन करने की ज़िम्मेदारी बोल्शेविकों पर आ पड़ी है। रूस में क्रान्तिकारी संकट पक चुका है और मज़दूर वर्ग को तत्काल सत्ता अपने हाथों में लेने की तैयारी करनी होगी। लेनिन ने अपने तर्कों को दुहराते हुए कहा कि इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस में अभी बोल्शेविकों का बहुमत नहीं है क्योंकि यह बहुमत अर्जित करना अब केवल एक औपचारिकता है; दूसरी बात यह कि क्रान्ति की अगुवाई करने वाली दो प्रमुख सोवियतों यानी पेत्रोग्राद सोवियत और मॉस्को सोवियत में बोल्शेविक पहले ही बहुमत में आ चुके हैं; तीसरी बात, केरेंस्की पेत्रोग्राद से मॉस्को राजधानी स्थानान्तरित करने का प्रयास कर रहा था जिसका कारण यह था कि केरेंस्की पेत्रोग्राद का जर्मन सेना के समक्ष आत्मसमर्पण कर रहा था; जर्मन साम्राज्यवादियों और ब्रिटिश साम्राज्यवादियों में एक अनकही समझदारी बन गयी है और इसलिए पेत्रोग्राद की ओर बढ़ने से ब्रिटिश सेना जर्मनी को रोक नहीं रही है; स्पष्ट है कि ब्रिटिश, जर्मन और रूसी साम्राज्यवादी रूसी क्रान्ति का गला घोंटने की तैयारी कर रहे हैं। प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियाँ सोवियत में बहुमत प्राप्त करने जैसी औपचारिकताओं की परवाह नहीं कर रही हैं; ऐसे में, यदि बोल्शेविक इसकी परवाह करेंगे तो उनकी हार होगी। शासक वर्ग रूस में असमंजस में है; टटपुँजिया शक्तियाँ भी असमंजस में हैं और बिखरी हुई हैं; सर्वहारा वर्ग बोल्शेविकों के नेतृत्व में संगठित है; देश भर में किसान उभार अभूतपूर्व स्तर पर है और प्रान्तों में कई जगहों पर स्थानीय सोवियतों ने शासन अपने हाथों में ले लिया है; ऐसे में, मार्क्स ने सशस्त्र विद्रोह की जो पूर्वशर्तें बतायी थीं, वे सभी पूरी हो चुकी हैं। लिहाज़ा, बुर्जुआ वैधानिकता के विभ्रम में फँसने का अर्थ होगा क्रान्ति की हार।

इस लेख का एक हिस्सा प्रकाशन के लिए नहीं था। वह केन्द्रीय कमेटी को पत्र था जिसमें लेनिन ने स्पष्ट किया कि बोल्शेविकों के दोलन के कारण क्रान्ति की घड़ी निकल जायेगी और इतिहास उन्हें क्रान्ति का ग़द्दार क़रार देगा। द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस तक इन्तज़ार करने की बात व्यर्थ है और तत्काल सशस्त्र विद्रोह कर सत्ता अपने हाथों में ली जानी चाहिए। यह इन्तज़ार बुर्जुआ वैधिकता का भ्रम है क्योंकि पेत्रोग्राद, मॉस्को व अन्य शहरों में जनता बोल्शेविकों के साथ है, भूमि के प्रश्न पर किसान बोल्शेविकों के साथ हैं और मज़दूरों, सैनिकों और किसानों के जनसमुदाय इस समय बोल्शेविकों से प्रस्तावों, नारों और शब्दों की माँग नहीं कर रहे हैं, बल्कि कार्रवाई की माँग कर रहे हैं। इसके बाद लेनिन ने कहा कि चूँकि केन्द्रीय कमेटी उनकी राय पर ध्यान नहीं दे रही है और रूसी क्रान्ति के लिए उपयुक्त घड़ी निकली जा रही है इसलिए वे केन्द्रीय कमेटी से अपना इस्तीफ़ा दे रहे हैं ताकि पार्टी काडर में सीधे अपनी बात ले जाने की स्वतन्त्रता हासिल कर सकें। ई.एच. कार के मुताबिक़ लेनिन के द्वारा इस्तीफ़े की पेशकश

से केन्द्रीय कमेटी की बैठक में सन्नाटा छा गया था और अन्त में द्ज़र्जेस्की ने कहा था कि पार्टी इतनी बड़ी क़ीमत नहीं चुका सकती है। लेकिन केन्द्रीय कमेटी ने कोई औपचारिक जवाब दिया हो इसका कोई रिकॉर्ड नहीं मिलता।

1 अक्टूबर को लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी, मॉस्को व पीटर्सबर्ग की पार्टी कमेटियों और मॉस्को और पीटर्सबर्ग सोवियत के बोल्शेविक सदस्यों को एक पत्र जारी कर अपनी कार्यदिशा स्पष्ट की। इसी समय लेनिन ने एक अपील भी लिखी जिसका नाम था - "मज़दूरों, किसानों और सैनिकों के नाम" जो व्यापक वितरण के लिए तैयार की गयी थी। इसमें लेनिन ने स्पष्ट कर दिया कि सत्ता पर क़ब्ज़ा करने का वक़्त आ चुका है। कुछ ही दिनों के भीतर पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी, मॉस्को पार्टी कमेटी, वाईबोर्ग ज़िला कमेटी व अन्य स्थानीय कमेटियाँ लेनिन के पक्ष में आ गयीं। साथ ही, पेत्रोग्राद नगर कमेटी ने इस बात पर सख्त आपत्ति ज़ाहिर की कि लेनिन की राय को इतने समय तक केन्द्रीय कमेटी ने दबाकर रखा। 5 अक्टूबर को केन्द्रीय कमेटी में यह चर्चा हुई कि प्री-पार्लियामेण्ट से बाहर आ जाया जाये या नहीं। अन्ततः प्रेद पार्लियामेण्ट से निकलने का निर्णय लिया गया और बोल्शेविक उससे बाहर आ गये। इसी बीच पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी ने केन्द्रीय कमेटी के निर्देशों के बिना ही सैन्य तैयारियाँ करने की शुरुआत कर दी थी। 7 अक्टूबर को केन्द्रीय कमेटी ने बैठक करके एक ब्यूरो गठित किया जिसको यह कार्य सौंपा गया कि वे सशस्त्र विद्रोह के लिए स्थितियों और जनता के मिजाज़ की जाँच करें। इसमें त्रात्स्की, स्वेर्दलोव और बुबनोव थे। बाद में इसमें बोल्शेविक सैन्य संगठन से पॉड्वॉइस्की और नेव्स्की को शामिल किया गया और पीटर्सबर्ग पार्टी कमेटी की ओर से लैटसिस और मॉसक्विन को शामिल किया गया। 7 अक्टूबर की शाम हो ही त्रात्स्की के एक भाषण के साथ बोल्शेविक प्री-पार्लियामेण्ट से निकल गये। इससे जनता के बीच यह सन्देश चला गया था कि बोल्शेविक अब सशस्त्र विद्रोह की तैयारी कर रहे हैं।

केन्द्रीय कमेटी के भीतर त्रात्स्की व कई अन्य लोगों का यह मत था कि द्वितीय अखिल रूसी सोवियत तक इन्तज़ार किया जाना चाहिए, जो कि 20 अक्टूबर को होने वाली थी और जिसे बाद में टालकर 25 अक्टूबर के लिए निर्धारित कर दिया गया था। लेनिन का स्पष्ट मानना था कि यह एक बुर्जुआ वैधानिकता के भ्रम में फँसना है। लेकिन इसके बावजूद केन्द्रीय कमेटी में क़दम उठा देने का आत्मविश्वास संचित नहीं हो पा रहा था। अन्त में लेनिन 10 अक्टूबर की केन्द्रीय कमेटी की बैठक में स्वयं पहुँच गये, जो कि पेत्रोग्राद में हुई थी। दिलचस्प बात यह है कि यह बैठक सुखानोव नामक एक अन्तरराष्ट्रीयतावादी मेंशेविक के फ्लैट पर बेहद गोपनीयता के साथ आयोजित हुई थी। सुखानोव की पत्नी एक बोल्शेविक थीं। स्वयं सुखानोव को इस बैठक के बारे में पता नहीं था। इस बैठक को आयोजित करने के लिए लेनिन ने स्वेर्दलोव को प्रस्ताव भिजवाया था। बहरहाल, इस बैठक में लेनिन ने अपनी दलीलों को विस्तार से रखा और केन्द्रीय कमेटी को इस बात के लिए राजी किया कि वह सशस्त्र विद्रोह की तैयारी करे और उसके संचालन के लिए पोलित ब्यूरो नियुक्त करे। कार का मानना है कि पोलित ब्यूरो की संस्था का अस्तित्व में आना इसी घटना से शुरू हुआ और वह इसकी तुलना क्रान्ति के बाद पोलित ब्यूरो के निर्माण से करते

हैं। यह तुलना सही नहीं है क्योंकि सशस्त्र विद्रोह के लिए गठित पोलित ब्यूरो एक विशिष्ट कार्यभार के लिए बनाया गया निकाय था, जिसके बाद उसे भंग हो जाना था। लेकिन क्रान्ति के बाद पोलित ब्यूरो बनाने के कारण अलग थे और वह पोलित ब्यूरो दो केन्द्रीय कमेटी की बैठकों के बीच सामान्य तौर पर राजनीतिक कार्यों के दिशा-निर्देशन व संचालन के लिए था।

बहरहाल, लेनिन का प्रस्ताव 2 के मुक़ाबले 10 वोटों से विजयी रहा। स्तालिन, त्रात्स्की, स्वेर्दलोव, उरित्स्की, द्ज़र्जेस्की, लोमोव, कोलोन्ताई, बुबनोव ने लेनिन के पक्ष में वोट किया। ज़िनोवियेव व कामेनेव ने इसके विरोध में वोट किया। त्रात्स्की ने सशस्त्र विद्रोह के पक्ष में वोट करते हुए दूसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस तक इन्तज़ार करने की वकालत की। अन्ततः इस मुद्दे पर लेनिन की बात से सहमति बनी जिसके अनुसार सोवियतों की कांग्रेस तक इन्तज़ार करने का अर्थ होगा बुर्जुआ वर्ग को मौक़ा देना। पोलित ब्यूरो में लेनिन, स्तालिन, त्रात्स्की, ज़िनोवियेव, कामेनेव, सोकोलनिकोव, व बुबनोव को चुना गया। ज़िनोवियेव और कामेनेव को उनके विरोध के बावजूद सशस्त्र विद्रोह के संचालन हेतु बनाये गये पोलित ब्यूरो में चुना गया। यह बोल्शेविक पार्टी के और लेनिनवादी सांगठनिक उसूलों की विलक्षणता को दिखलाता है और जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त के कार्यान्वयन का एक असाधारण उदाहरण है। 16 अक्टूबर को पेत्रोग्राद सोवियत ने क्रान्तिकारी सैन्य कमेटी का निर्माण किया। त्रात्स्की दावा करते हैं कि पेत्रोग्राद सोवियत ने केन्द्रीय कमेटी के सशस्त्र विद्रोह के फ़ैसले से पहले ही यह कमेटी बना ली थी, लेकिन तब उसका उद्देश्य सशस्त्र विद्रोह का संचालन नहीं था। बाद में, पार्टी ने इसे अपनी योजना के अनुसार सहयोजित कर लिया। ई.एच. कार त्रात्स्की के इस ब्यौरे को सही मानते हैं। बहरहाल, इस कमेटी ने पार्टी द्वारा बनाये गये क्रान्तिकारी सैन्य केन्द्र के नेतृत्व में 20 अक्टूबर को अपना काम शुरू कर दिया।

11 अक्टूबर को ज़िनोवियेव व कामेनेव ने पार्टी दायरों में केन्द्रीय कमेटी के फ़ैसले के ख़िलाफ़ एक पत्र वितरित किया। 16 अक्टूबर को लेनिन ने केन्द्रीय कमेटी की बैठक में फिर से सशस्त्र विद्रोह के फ़ैसले को सही ठहराया। इस बैठक में पेत्रोग्राद पार्टी कमेटी, क्रान्तिकारी सैन्य समिति और ट्रेड यूनियनों व कारख़ाना समितियों के चुने हुए सदस्य भी उपस्थित थे। लेनिन ने कहा, **"स्थिति स्पष्ट है। या तो कोर्निलोव की तानाशाही या फिर सर्वहारा वर्ग और सबसे ग़रीब किसानों के वर्ग की तानाशाही। हम जनसमुदायों के मिजाज़ के अनुसार दिशा-निर्देशित नहीं हो सकते हैं : वह परिवर्तनीय है और अबोध्य है। हमें क्रान्ति के एक वस्तुपरक विश्लेषण और आकलन से दिशा-निर्देशित होना चाहिए। जनसमुदायों ने बोल्शेविकों में अपना भरोसा जताया है और वे हमसे कार्रवाई की माँग कर रहे हैं, शब्दों की नहीं।"** (कार, 1978, **'दि बोल्शेविक रिवोल्यूशन 1917-23' खण्ड-1**, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉर्टन एण्ड कम्पनी, लन्दन, पृ. 95) लेनिन ने बैठक में बहुमत हासिल किया, हालाँकि, कार के अनुसार कुछ ऐसे लोग थे जिनमें कामेनेव व ज़िनोवियेव के समान कुछ असमंजस था। स्तालिन ने लेनिन के पक्ष में वक्तव्य रखते हुए कहा, **"यहाँ दो कार्यदिशाएँ हैं : एक क्रान्ति की विजय की ओर ले जाती है और यूरोप की ओर झुकाव रखती है; दूसरी वह है जो क्रान्ति में भरोसा नहीं करती**

और विपक्ष बने रहने के भरोसे बैठी रहती है। पेत्रोग्राद सोवियत ने सेनाओं को हटाने को आज्ञा देने से इंकार करके आम बग़ावत के रास्ते पर पहले ही अपनी अवस्थिति जता दी है।" (कार, 1978, पृ. 96) अन्तत: बैठक ने 2 के मुक़ाबले 19 वोटों से लेनिन की कार्यदिशा का समर्थन किया। कार अटकल लगाते हैं कि त्रात्स्की अगर इस बैठक में थे, तो वे बोले नहीं क्योंकि ऐसी बैठक में सैन्य तैयारियों के बारे में बात नहीं की जा सकती है। ऐसी अटकल की कोई आवश्यकता नहीं है और यह त्रात्स्की के प्रति हमदर्दी रखने की वजह से लगायी गयी अटकल ही मानी जायेगी। इस बैठक के बाद केन्द्रीय कमेटी सदस्य अलग से मिले और कमेटी ने पार्टी का क्रान्तिकारी सैन्य केन्द्र स्थापित किया जिसके सदस्य थे स्तालिन, स्वेर्दलोव, बुबनोव, उरित्स्की, द्ज़र्जेंस्की। इसी क्रान्तिकारी सैन्य केन्द्र ने आगे पेत्रोग्राद सोवियत के क्रान्तिकारी सैन्य समिति की कार्रवाइयों को निर्देशित किया।

18 अक्टूबर को कामेनेव ने अपने और ज़िनोवियेव के नाम से एक पत्र ग़ैर-पार्टी अख़बार *नोवाया जीज्न* में प्रकाशित कर सशस्त्र विद्रोह के फ़ैसले को अनावृत्त करते हुए उसका विरोध किया। उस समय आरज़ी सरकार ऐसी विघटन और लकवे जैसी स्थिति का शिकार थी कि इस जानकारी के खुलने के बाद भी वह तत्काल बोल्शेविक नेताओं के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं कर पायी। लेकिन ज़िनोवियेव और कामेनेव की इस हरक़त पर लेनिन बुरी तरह नाराज़ हुए और उन्होंने पार्टी काडरों के नाम पत्र लिखकर उन्हें "हड़ताल तोड़ने वालों" की संज्ञा दी और कहा कि वे अब उन्हें कॉमरेड नहीं मानते। केन्द्रीय कमेटी के नाम पत्र में लेनिन इन दोनों को कमेटी से निकाले जाने की माँग की। त्रात्स्की ने पेत्रोग्राद सोवियत में दावा किया कि पार्टी की सशस्त्र विद्रोह जैसी अभी कोई योजना नहीं है, ताकि कामेनेव की ग़लती से हुए नुक़सान की क्षतिपूर्ति की जा सके। लेकिन कामेनेव को लगा कि त्रात्स्की उनके पक्ष में आ गये हैं। ज़िनोवियेव ने इसी आशय का एक पत्र *राबोची पुत* में लिखा जो कि 20 अक्टूबर को छपा। इसी अंक में लेनिन का कामेनेव व ज़िनोवियेव की हरक़त का विरोध करते हुए लिखा गया पत्र भी छपा। स्तालिन ने इस विवाद पर कुछ पर्दा डालते हुए एक सम्पादकीय नोट लगाया और पार्टी में एकता बने रहने का दावा किया। 20 अक्टूबर को हुई केन्द्रीय कमेटी बैठक में कामेनेव की सभी ने कड़ी आलोचना की। कामेनेव ने अपना इस्तीफ़ा सौंपा जिसे स्वीकार कर लिया गया। कामेनेव और ज़िनोवियेव को विशेष निर्देश दिया गया कि वे केन्द्रीय कमेटी के किसी फ़ैसले के विरुद्ध बाहर कुछ नहीं बोलेंगे। त्रात्स्की ने स्तालिन के सम्पादकीय नोट के लिए उनकी आलोचना की। कार का दावा है कि स्तालिन ने इस्तीफ़े की पेशकश की जिसे केन्द्रीय कमेटी ने स्वीकार नहीं किया। यह तय किया गया कि 25 अक्टूबर की द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के पहले सशस्त्र विद्रोह किया जायेगा। लेनिन ने आगे इसके कारणों को स्पष्ट किया जिसका ब्यौरा पॉड्वॉइस्की अपने संस्मरण में देते हैं। 20 से 23 अक्टूबर के बीच किसी दिन लेनिन ने पॉड्वॉइस्की, नेव्स्की और अन्तोनियेव को मिलने के लिए वाइबोर्ग में बुलाया था, जो कि बोल्शेविक सैन्य संगठन के प्रमुख नेता थे। इस बैठक में लेनिन ने स्पष्ट किया कि समय का पहलू आरज़ी सरकार के पक्ष में खड़ा है।

वह मोर्चे से अपने प्रति वफ़ादार सैन्य टुकड़ियों को पेत्रोग्राद बुला रही है। उससे पहले यदि सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया जायेगा तो ये सैन्य टुकड़ियाँ भी क्रान्ति के पक्ष में खड़ी हो जायेंगी। दूसरी बात यह है कि सोवियत कांग्रेस से पहले सत्ता पर क़ब्ज़ा करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि तब मज़दूर क्रान्ति और मज़दूर सत्ता अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के लिए एक जीता-जागता सत्य होगा, न कि एक क्षीण सम्भावना। इस कांग्रेस में टटपुँजिया वर्गों के प्रतिनिधियों की प्रधानता है। ऐसे में, यदि इनके मिलने के पहले इनके सामने मज़दूरों की सत्ता पहले ही एक जीवन्त तथ्य के तौर पर उपस्थित होगी जो कि तत्काल शान्ति, ज़मीन और रोटी की माँगों को पूरा करेगी, तो वे उसका समर्थन करेंगे और वहाँ भी बोल्शेविक बहुमत में आ जायेंगे। अगर बोल्शेविक अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस से पहले सत्ता पर क़ब्ज़ा नहीं करते तो सोवियत कांग्रेस का रवैया टटपुँजिया राजनीति के पक्ष में भी खड़ा हो सकता है। एक और कारक यह भी था कि पेत्रोग्राद सोवियत वास्तविक सोवियत प्राधिकार थी और जैसा कि बेतेलहाइम ने दलील पेश की है, अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस मेंशेविकों और समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी ने पेत्रोग्राद सोवियत के प्राधिकार के प्रतिभार के रूप में खड़ी की थी। इस दलील में निश्चित तौर पर आंशिक सच्चाई है। यही वे कारण थे जिनकी वजह से लेनिन त्रात्स्की की इस दलील को बुर्जुआ वैधानिकता के भ्रम में फँसने की संज्ञा दे रहे थे कि अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस तक सत्ता क़ब्ज़ा करने को स्थगित किया जाना चाहिए। अन्ततः यही तय हुआ कि द्वितीय अखिल रूसी कांग्रेस के शुरू होने से ठीक पहले सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया जायेगा।

24 अक्टूबर को केन्द्रीय कमेटी की बैठक हुई जिसमें सभी को सशस्त्र विद्रोह को संचालित करने सम्बन्धी अलग-अलग कार्य सौंपे गये। इस बैठक में कामेनेव और ज़िनोवियेव भी बैठे जिससे यह प्रतीत होता है कि 20 से 24 अक्टूबर के बीच कामेनेव और ज़िनोवियेव ने अपनी हरक़त के लिए माफ़ी माँग ली थी और उनके प्रति उदारता बरती गयी थी। बहरहाल, द्ज़र्जेस्की को रेलवे, बुबनोव को पोस्ट व टेलीग्राफ़, स्वेर्दलोव को आरज़ी सरकार की कार्रवाइयों पर निगाह रखने, मिल्युतिन को खाद्य आपूर्ति का काम सौंपा गया।

24 अक्टूबर की रात लेनिन स्वयं स्मोल्नी आ गये ताकि सशस्त्र विद्रोह का संचालन कर सकें और केन्द्रीय कमेटी और क्रान्तिकारी सैन्य कमेटी के उन नेताओं पर ज़ोर डाल सकें जिनके दिमाग़ में यह सवाल मँडरा रहा था कि कहीं वे ज़रूरत से ज़्यादा तेज़ रफ़्तार से तो नहीं चल रहे हैं। निश्चित तौर पर, लेनिन के स्मोल्नी में आगमन से आम बग़ावत के काम को और तेज़ी से किया जाने लगा। 25 अक्टूबर की भोर बोल्शेविकों की टुकड़ियाँ हरकत में आ गयीं। शहर के केन्द्रीय बिन्दुओं पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। आरज़ी सरकार के सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया गया, जबकि केरेंस्की भाग निकला। दोपहर में पेत्रोग्राद सोवियत की बैठक में "मज़दूरों व किसानों के विद्रोह" की जीत की घोषणा की गयी। शाम को दूसरी अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस ने घोषणा की कि रूस में सारी सत्ता मज़दूरों, सैनिकों व किसानों के प्रतिनिधियों की सोवियतों को हस्तान्तरित कर दी गयी है। 26 अक्टूबर को कांग्रेस की दूसरी और आख़िरी बैठक में शान्ति और भूमि पर आज्ञाप्तियाँ पारित हुईं

और जनकमिसार परिषद (सोवनार्कोम) को नियुक्त किया गया, जोकि मज़दूरों व ग़रीब किसानों की पहली सरकार बनी। इस परिषद के अध्यक्ष के तौर पर लेनिन को नियुक्त किया गया।

कार अपने पूरे विवरण में सशस्त्र विद्रोह में त्रात्स्की की भूमिका की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। त्रात्स्की के नेतृत्व की क्षमता को उन्होंने अद्भुत बताया है और पेत्रोग्राद सोवियत में उनकी भूमिका को एक मिसाल क़रार दिया है। अक्टूबर क्रान्ति की रक्तहीन विजय का श्रेय त्रात्स्की को दिया गया है, क्योंकि पेत्रोग्राद की ग़ैरीसन को जीतने में उनकी महती भूमिका थी। लेकिन बाद में कार जोड़ते हैं कि इन सबके बावजूद अक्टूबर क्रान्ति की विजय मूलत: लेनिन और बोल्शेविक पार्टी की विजय थी। अप्रैल के बाद हर घटना ने लेनिन को सही साबित किया था और उनकी निर्णायकता के कारण ही पार्टी सशस्त्र विद्रोह के निर्णय पर पहुँची थी। इसमें कोई दो राय नहीं है कि पेत्रोग्राद में सशस्त्र विद्रोह को संगठित करने में त्रात्स्की की महत्वपूर्ण भूमिका था। लेकिन ई.एच. कार निश्चित तौर पर इसे बढा-चढ़ाकर पेश करते हैं। एलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच भी मानते हैं कि अक्टूबर विद्रोह को संगठित करने में त्रात्स्की की अहम भूमिका थी। लेकिन साथ ही रैबिनोविच ने यह भी स्वीकार किया है कि 24 अक्टूबर की रात को लेनिन के स्मोल्नी पहुँचने से पहले क्रान्तिकारी सैन्य समिति में, जिसमें त्रात्स्की की अहम भूमिका थी, इस बात को लेकर बेचैनी थी कि कहीं पार्टी कुछ ज़्यादा ही लम्बी दूरी कुछ ज़्यादा ही कम समय में तो नहीं तय कर रही है। उनमें इस बात का रुझान था कि द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के शुरू होने तक इन्तज़ार किया जाये। 'बोल्शेविक पार्टी के इतिहास' में बताया गया है कि अक्टूबर क्रान्ति के पहले की आख़िरी अहम केन्द्रीय कमेटी बैठक में त्रात्स्की आम बग़ावत को द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस तक टालना चाहते थे, जबकि लेनिन इसके सख्त ख़िलाफ़ थे। अन्तत: बहुमत ने लेनिन का साथ दिया था। रैबिनोविच दावा करते हैं त्रात्स्की ने आम बग़ावत को द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस तक टालने का प्रस्ताव नहीं रखा था। लेकिन अगर हम त्रात्स्की की पुस्तक 'अक्टूबर के सबक़' (1924) के प्रकाशित होने के बाद बोल्शेविक पार्टी में शुरू हुई बहस और उसके बाद प्रकाशित हुए एक सिम्पोज़ियम में ज़िनोवियेव, कामेनेव और स्तालिन के जवाबों पर निगाह डालें तो स्पष्ट हो जाता है कि त्रात्स्की का वास्तव में ऐसा प्रस्ताव था और वह यहाँ तक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि 24 अक्टूबर तक इन्तज़ार करने से ही आम बग़ावत सफल हो पायी। इसके अलावा, त्रात्स्की अपनी उन सारी पुरानी बातों को सही सिद्ध करने का प्रयास करते हैं जो कि उन्होंने बोल्शेविक पार्टी में शामिल होने से पहले कहीं थीं। मिसाल के तौर पर, वे अपने 'स्थायी क्रान्ति' के सिद्धान्त को भी पीछे के दरवाज़े से वापस लाने का प्रयास करते हैं। लेकिन रैबिनोविच से लेकर तमाम अन्य संशोधनवादी इतिहासकार मई 1925 में प्रकाशित इस सिम्पोज़ियम (दि एरर्स ऑफ़ ट्रॉट्स्कीज़्म : ए सिम्पोज़ियम) का कोई सन्दर्भ नहीं देते। **इसका कारण यह है कि वे इसे यह कहकर ख़ारिज़ नहीं कर सकते कि यह स्तालिनवादी इतिहासकारों द्वारा किया गया इतिहास का विकृतिकरण है। कारण यह है कि इसमें त्रात्स्की के दावों का खण्डन करने वालों में बुखारिन, ज़िनोवियेव, कामेनेव, क्रुप्सकाया, सोकोलनिकोव जैसे लोग शामिल थे।**

यह कहना कि 1925 ये सभी स्तालिनवादी हो गये थे और झूठ बोल रहे थे, किसी उदार बुर्जुआ इतिहासकार के लिए भी मुश्किल होगा। हम पाठकों को इस सिम्पोज़ियम को सन्दर्भित करने की विशेष तौर पर सलाह देंगे। इस सिम्पोज़ियम को 'कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ ग्रेट ब्रिटेन' ने प्रकाशित किया था। हम आगे के अध्यायों में इस सिम्पोज़ियम में पेश विचारों का भी विवेचन करेंगे। वास्तव में त्रात्स्की ने बाद में ख़ुद इस बात को माना था कि आम बग़ावत को द्वितीय सोवियत कांग्रेस तक विलम्बित करने का उनका विचार था। चूँकि व्यवहारत: आम बग़ावत इस कांग्रेस के ठीक पहले आधी रात को शुरू हुई, इसलिए त्रात्स्की यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं यह उन्हीं की राय के कारण हुआ और इससे फ़ायदा हुआ। वह दावा करते हैं कि अगर लेनिन की सलाह मानकर विद्रोह पहले शुरू किया गया होता या फिर पेत्रोग्राद में न शुरू करके मॉस्को में शुरू किया गया होता तो उसमें हार भी मिल सकती थी। यह इतिहास का त्रात्स्की द्वारा मिथकीकरण है क्योंकि लेनिन का यह आग्रह नहीं था कि मॉस्को से बग़ावत शुरू की जाये। लेनिन इसे पूर्ण रूप से रणकौशलात्मक मसला मानते थे और इसे उन्होंने स्थानीय संगठनकर्ताओं और उन नेताओं के ऊपर छोड़ा था जो लगातार ठोस परिस्थितियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क में थे। उनका कहना था कि जहाँ भी शुरुआत जल्दी और निर्णायक रूप से की जा सके वहाँ से शुरुआत की जा सकती है, चाहे वह जगह पेत्रोग्राद हो या मॉस्को। मूल बात यह है कि विद्रोह की शुरुआत सोवियत कांग्रेस से पहले होनी चाहिए। रैबिनोविच भी इस बात को स्वीकार करते हैं। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि त्रात्स्की का मूल प्रस्ताव सोवियत कांग्रेस तक इन्तज़ार करने का था, जिसे स्वीकार नहीं किया गया और कांग्रेस के पहले ही सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया गया।

लेकिन यहाँ यह ज़िक्र करना भी ज़रूरी है कि अक्टूबर में आम बग़ावत के समय तमाम सैन्य दस्तों, विशेषकर पेत्रोग्राद ग़ैरीसन और पीटर एण्ड पॉल किले की टुकड़ी को आम बग़ावत और पार्टी के पक्ष में लाने में त्रात्स्की की अहम भूमिका थी। यह भी सच है कि 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में इस भूमिका का कहीं ज़िक्र नहीं आता है। इस रूप में, सोवियत संघ में विशेष तौर पर 1935-36 के बाद लिखे गये ऐतिहासिक विवरणों में त्रात्स्की की भूमिका को नज़रन्दाज़ किया गया है। यह कहना कि इसके लिए व्यक्तिगत तौर पर स्तालिन ज़िम्मेदार थे, सही नहीं होगा क्योंकि इस बात के पर्याप्त प्रमाण मौजूद नहीं हैं। लेकिन पार्टी के भीतर मज़बूत हो रही नौकरशाहाना बुर्जुआ प्रवृत्तियाँ निश्चित तौर पर इसका कारक थीं, जो कि स्तालिन के नाम पर कला, साहित्य, संस्कृति, फिल्म से लेकर अकादमिक जगत तक में एक प्रकार का नौकरशाहाना नियन्त्रण स्थापित कर रही थीं और अपनी फ़रमानशाही को स्तालिन के नाम का प्राधिकार इस्तेमाल करके थोप रही थीं। और बहुत से सांस्कृतिक, अकादमिक कार्य इसी नौकरशाही के संचालन में हो रहे थे।

'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में आम बग़ावत में त्रात्स्की की भूमिका की चर्चा न मिलने का एक कारण यह भी हो सकता है कि तब तक त्रात्स्की की सोवियत संघ-विरोधी भूमिका, साम्राज्यवादियों से उनके रिश्ते और सोवियत संघ में पार्टी के विरुद्ध विद्रोह के उनके षड्यन्त्र काफ़ी हद तक सामने आ चुके थे। साथ ही, 1936 के मुक़दमों में कई ऐसे तथ्य सामने आये थे,

जिन्होंने त्रात्स्की और कई भूतपूर्व बोल्शेविक नेताओं को कठघरे में खड़ा कर दिया था। **लेकिन अगर इन सारे कारकों को ध्यान में रखा जाये तो भी कम्युनिस्ट पार्टी आधिकारिक तौर पर जो इतिहास-लेखन करेगी उसे वस्तुपरक होना चाहिए, चयनात्मक नहीं।** साथ ही, व्यक्तियों के विकास के विषय में उनकी समझदारी द्वन्द्वात्मक होनी चाहिए न कि अनैतिहासिक। मसलन, किसी प्रतिक्रान्तिकारी बन गये व्यक्ति का भी ऐसा अतीत हो सकता है, जिसमें उसने क्रान्ति के लिए योगदान किये हों। ऐसे में, उस व्यक्ति के राजनीतिक पतन को ऐतिहासिक और द्वन्द्वात्मक तौर पर पेश किया जाना चाहिए न कि उसके नैसर्गिक गुण के रूप में। मिसाल के तौर पर, 'बोल्शेविक पार्टी का इतिहास' में यह दावा करना कि त्रात्स्की बोल्शेविक पार्टी में योजनाबद्ध तरीक़े से उसे विघटित करने और नुक़सान पहुँचाने के लिए शामिल हुए थे, ऐतिहासिक तौर पर सही नहीं ठहरता है। ऐतिहासिक लेखन की यह कमी हम 1930 के दशक के सोवियत संघ के आधिकारिक इतिहास लेखन में देख सकते हैं। हालाँकि, 1920 के पूरे दशक के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती है। चीनी पार्टी के इतिहास-लेखन में यह चीज़ और भी ज़्यादा प्रत्यक्ष रूप में दिखलायी पड़ती है। यह सच है कि इन दोनों पार्टियों ने बेहद तीखे वर्ग संघर्ष के दौर में समाजवादी प्रयोगों का संचालन किया और इस वजह से भी बहुत सी विकृतियाँ इन प्रयोगों के दौरान पैदा हुईं, विशेषकर कला, साहित्य, संस्कृति, इतिहास-लेखन आदि के क्षेत्रों में। लेकिन आज खड़े होकर पीछे मुड़कर देखा जाये तो इस प्रकार के इतिहास-लेखन से सर्वहारा वर्ग को तत्कालीन वर्ग संघर्ष में कोई टिकाऊ बढ़त मिल गयी हो, यह नहीं कहा जा सकता है। यह ज़रूर कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक तौर पर इस प्रकार के इतिहास-लेखन ने एक नकारात्मक कारक की ही भूमिका निभायी। लेकिन सम्भवत: यह बात हम आज सिंहावलोकन करते हुए ही कह सकते हैं और उस समय अस्तित्व का संकट झेल रही या फिर तीखे आन्तरिक और बाह्य वर्ग संघर्ष में संलग्न समाजवादी सत्ताओं का संचालन करने वाली कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए उसी समय इस बात को समझ लेना शायद इतना आसान नहीं था।

•

इसमें कोई दो राय नहीं है कि बोल्शेविक क्रान्ति ने मानव इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया। क्रान्ति का नेतृत्व बोल्शेविक पार्टी के निर्देशन में पेत्रोग्राद सोवियत और उसकी क्रान्तिकारी सैन्य समिति ने किया था। जैसा कि बाद में कई बोल्शेविक नेताओं ने कहा था बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में मज़दूर वर्ग ने आम विद्रोह के ज़रिये सत्ता हासिल करके उसे द्वितीय अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस को सौंपा था। पेत्रोग्राद के मज़दूरों और सैनिकों ने पार्टी के नेतृत्व में क्रान्ति सम्पन्न की थी। जैसा कि बेतेलहाइम ने कहा था, **यह कोई दीर्घकालिक युद्ध नहीं था, न ही यह कोई षड्यन्त्र या साधारण विद्रोह था, बल्कि यह एक सुनियोजित आम बग़ावत** (armed insurrection) **थी।** इसमें अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं थी और पेत्रोग्राद सोवियत की भूमिका भी ठीक इसीलिए थी क्योंकि उसमें बोल्शेविक सितम्बर

में बहुमत में आ गये थे। अक्टूबर का पूरा घटनाक्रम बेहद रोमांचक और दिलचस्प था। हम इस पूरे घटनाक्रम का विस्तार से वर्णन नहीं कर पाये हैं क्योंकि इसके लिए आप तमाम पुस्तकों को सन्दर्भित कर सकते हैं। त्रात्स्की के प्रति हमदर्दी रखने के बावजूद ई. एच. कार और उदार बुर्जुआ पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होने के बावजूद अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच द्वारा लिखित इतिहास अक्टूबर में बोल्शेविकों द्वारा सत्ता क़ब्ज़ा करने की प्रक्रिया का जीवन्त चित्र पेश करता है। साथ ही अभी भी जॉन रीड की पुस्तक 'दस दिन जब दुनिया हिल उठी' को क्रान्ति की पूरी प्रक्रिया का चित्रण करने वाली सबसे अच्छी रचनाओं में से एक माना जाना चाहिए। इसके अलावा, तमाम बोल्शेविकों द्वारा लिखे गये संस्मरण भी इस दौर के घटनाक्रम पर अलग-अलग कोणों से प्रकाश डालते हैं। इस पूरी प्रक्रिया को दुबारा लिखने का कोई अर्थ नहीं था। इसलिए हमने केवल विवादास्पद मुद्दों पर प्रमुख इतिहासकारों के प्रेक्षणों पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ करने या उन घटनाओं का अपना विश्लेषण पेश करने तक ख़ुद को सीमित रखा है, जिनकी व्याख्या पेश करना हमें समकालीन चिन्ताओं के कारण उपयोगी लगा।

सही मायनों में अक्टूबर क्रान्ति बोल्शेविक पार्टी और लेनिन की युगान्तरकारी जीत थी। 'मार्क्सिस्ट इण्टलेक्शन' जैसे अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी ही इसके युगान्तरकारी महत्व को नहीं समझ पाते और दावा करते हैं कि अतीत की सभी क्रान्तियों की तरह अक्टूबर क्रान्ति में भी एक छोटे-से गुट ने सत्ता पर जनता के नाम पर क़ब्ज़ा किया और फिर उसे हथिया लिया। ईमानदार बुर्जुआ इतिहासकार भी अक्टूबर क्रान्ति को एक युगान्तरकारी घटना मानते हैं, हालाँकि उनकी अपनी आलोचनाएँ हैं, जिन पर हम अभी तक टिप्पणी करते आये हैं और आगे भी उनका आलोचनात्मक मूल्यांकन जारी रखेंगे। सुजीत दास और उनके जैसे तमाम अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी, जिन्हें अपनी नैसर्गिक टटपुँजिया भावना से पार्टी और पार्टी अनुशासन जैसे शब्दों से एलर्जी होती है, जनवाद की बुर्जुआ अवधारणाओं से प्रेरित होते हैं। उनके लिए यह समझना मुश्किल है कि सोवियत राज्यसत्ता एक राज्यसत्ता थी और इस तौर पर वह दमन का एक उपकरण ही थी। लेकिन 'किसके द्वारा किसका दमन' इस प्रश्न को ही भूल जाना वर्ग विश्लेषण और मार्क्सवादी विश्लेषण का 'क ख ग' भूलने के समान है। बोल्शेविक क्रान्ति ने इतिहास में पहली बार एक ऐसी राज्यसत्ता को जन्म दिया जिसकी चारित्रिक अभिलाक्षणिकता थी, शोषकों की अल्पसंख्या पर शोषितों की बहुसंख्या का अधिनायकत्व। इस अधिनायकत्व के विषय में भी एक मार्क्सवादी-लेनिनवादी की सोच वास्तविक, मूर्त और ऐतिहासिक होनी चाहिए, न कि आदर्श, अमूर्त और अनैतिहासिक।

अक्टूबर क्रान्ति ने सत्ता मज़दूर वर्ग के हाथों में सौंपी। लेकिन यह बोल्शेविक पार्टी और रूसी मज़दूर वर्ग के समक्ष मौजूद चुनौतियों की समाप्ति नहीं था, बल्कि और भी ज़्यादा विशाल चुनौतियों की शुरुआत था। आने वाले चार वर्ष बोल्शेविक सोवियत सत्ता के लिए अस्तित्व के संकट के वर्ष थे, जब देश के भीतर प्रतिक्रियावादी प्रतिक्रान्तिकारियों ने सोवियत सत्ता के ख़िलाफ़ बग़ावत शुरू कर दी थी और साथ ही चौदह साम्राज्यवादी देशों ने सोवियत रूस की

घेराबन्दी और घुसपैठ शुरू कर दी थी। 1921 तक बोल्शेविक सत्ता को समाजवादी रूपान्तरण के कार्य को सुचारू और स्वस्थ रूप से चलाने का कभी अवसर ही नहीं प्राप्त हुआ। पहले क़रीब आठ माह तो सोवियत सत्ता के सुदृढ़ीकरण और सुदूरवर्ती प्रान्तों में बोल्शेविक क्रान्ति के फैलने में लगे। इस दौर में, सोवियत सत्ता बुर्जुआ क्रान्ति के अधूरे कार्यभारों को पूरा करती रही और साथ ही 'समाजवाद की ओर आरम्भिक क़दम' उठाने की शुरुआत मात्र कर पायी। इसी दौरान गृहयुद्ध की शुरुआत हो गयी। गृहयुद्ध के दौरान पार्टी को तमाम आपात क़दम उठाने पड़े। इस दौर की नीतियों को 'युद्ध कम्युनिज़्म' की नीतियों के रूप में जाना जाता है। इन नीतियों ने जहाँ सोवियत सत्ता को अपना अस्तित्व बचाने में सक्षम बनाया वहीं समाजवादी रूपान्तरण के कार्यों में तमाम विकृतियाँ भी पैदा कर दीं। इसी दौर में पार्टी के भीतर भी कई महत्वपूर्ण विचारधारात्मक और राजनीतिक बहसें शुरू हो गयीं, जिन बहसों को जानना-समझना वास्तव में मार्क्सवाद-लेनिनवाद के बुनियादी उसूलों में एक कोर्स करने के समान है। इस पूरे दौर पर हम सातवें अध्याय में विस्तार से लिखेंगे और उसकी रोशनी में मौजूदा राजनीतिक बहसों का भी विवेचन करेंगे। लेकिन सबसे पहले हमें बोल्शेविक क्रान्ति के चरित्र, सोवियत सत्ता के पहले आठ माह और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की व्यवस्था के निर्माण और उसके सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया को देखना होगा। अगले यानी छठे अध्याय में हम पहले आठ महीनों में हुए इन परिवर्तनों का विवेचन करेंगे।

(अगले अंक में इस अध्याय का परिशिष्ट प्रकाशित होगा : 'अलेक्ज़ैण्डर रैबिनोविच का इतिहास-लेखन: अन्तर्दृष्टि की दृष्टिहीनता')

नक्सलबाड़ी और उत्तरवर्ती दशक : एक सिंहावलोकन

(तीसरी किस्त)

● दीपायन बोस

निबन्ध के पहले भाग में हमने भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन के इतिहास और पार्टी के संशोधनवादी विपथगमन की संक्षिप्त पृष्ठभूमि के साथ नक्सलबाड़ी किसान-उभार, 'कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' के गठन, कमेटी के जीवनकाल के दौरान क्रान्तिकारी जनदिशा की हर पहुँच, सोच और लाइन को नौकरशाहाना ढंग से ठिकाने लगाकर "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के उत्तरोत्तर मज़बूत होते जाने की प्रक्रिया और फिर मुख्यतः इसी लाइन पर मई 1970 में आठवीं कांग्रेस के आयोजन तथा भाकपा (मा-ले) के गठन तक की चर्चा की थी। दूसरे हिस्से में श्रीकाकुलम में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन की विफलता के उल्लेख के साथ इन अल्पज्ञात तथ्यों की चर्चा की गयी थी कि नक्सलबाड़ी के क्रान्तिकारी उभार ने देश के छात्रों-युवाओं के साथ ही औद्योगिक मज़दूर वर्ग को भी कितनी गहराई से प्रभावित किया था लेकिन चारु मजुमदार और पार्टी नेतृत्व के मुख्य हिस्से द्वारा क्रान्तिकारी जनदिशा के पूर्ण निषेध के कारण पार्टी इस ऐतिहासिक अवसर का कोई लाभ नहीं उठा सकी।

अब निबन्ध के प्रस्तुत हिस्से में हम उन परिस्थितियों और घटना-क्रम की चर्चा करेंगे जो पार्टी-कांग्रेस के बाद पार्टी के भीतर उत्पन्न और गतिमान हुई थीं। कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों के बीच एकता के साथ ही फूट का जो सिलसिला तालमेल कमेटी के कार्यकाल में ही शुरू हो गया था, वह कांग्रेस के बाद भी बदस्तूर जारी रहा।

कांग्रेस के बाद : सत्यनारायण सिंह से मतभेद, पार्टी में पहली फूट और फिर बिखराव के सिलसिले की शुरुआत

पार्टी की स्थापना कांग्रेस के ठीक बाद केन्द्रीय कमेटी की जो पहली बैठक हुई, वह अन्तिम बैठक सिद्ध हुई। केन्द्रीय कमेटी ने एक ग्यारह सदस्यीय पोलित ब्यूरो का गठन किया जिसके नौ सदस्य थे : चारु मजुमदार, सुशीतल राय चौधुरी, शिव कुमार मिश्र, कानू सान्याल, सरोज दत्त, सत्यनारायण सिंह, रामप्यारे सर्राफ़, एल. अप्पू और सौरेन बसु। दो स्थान रिक्त रखे गये। इसके अतिरिक्त चार ज़ोनल ब्यूरो बनाये गये : दक्षिण, उत्तर-पश्चिम, उत्तर-केन्द्रीय और उत्तर-पूर्व क्षेत्रों के ब्यूरो। सरोज़ दत्त और सुनीति कुमार घोष को पार्टी-मुखपत्रों का प्रभारी बनाया गया। इन ज़ोनल ब्यूरो की भी आगे कोई बैठक नहीं हुई। कांग्रेस और केन्द्रीय कमेटी की बैठक में चारु मजुमदार को 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' मानने का प्रस्ताव ख़ारिज़ हो चुका था और यह तय हुआ था कि चारु मजुमदार केन्द्रीय कमेटी के अन्य सदस्यों के राय-मशविरे से काम करेंगे, लेकिन व्यवहारतः चारु मजुमदार ने अधिकांश फ़ैसले अकेले अपनी मर्ज़ी से ही लिये। इनमें 'जन मुक्ति सेना' के गठन की घोषणा जैसा अहम फ़ैसला भी शामिल था। सुशीतल राय चौधुरी जैसे जो पोलित ब्यूरो सदस्य राय-मशविरे के लिए उपलब्ध होते थे, उनसे भी वे कोई विचार-विमर्श नहीं करते थे। इस तरह, व्यवहारतः चारु ने कांग्रेस के बाद 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' जैसा ही आचरण किया, बल्कि उससे भी कहीं आगे एकछत्र नेतृत्व जैसा व्यवहार किया। पार्टी कांग्रेस के पहले की बची-खुची जनवादी कार्यप्रणाली भी कांग्रेस के बाद समाप्त हो गयी।

पार्टी कांग्रेस के ठीक चार महीने बाद सितम्बर 1970 में बिहार राज्य कमेटी ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसका शीर्षक था : 'नया उभार और वामपन्थी अवसरवाद के विरुद्ध संघर्ष।' इसके पहले, कांग्रेस के ठीक बाद, सत्यनारायण सिंह ने चारु मजुमदार को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होंने चारु से कांग्रेस में सर्वसम्मति से पारित 'राजनीतिक-सांगठनिक रिपोर्ट' और उस पर दिये गये चारु के भाषण से वह अंश निकाल देने के लिए कहा था जिसमें यह उल्लेख था कि कम्बोडिया पर अमेरिकी आक्रमण तीसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत है। सत्यनारायण सिंह का तर्क था कि चूँकि रिपोर्ट और भाषण अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं, अतः उक्त अंशों को निकाल देने से ये दस्तावेज़ माओ त्से-तुंग के 20 मई 1970 के उस वक्तव्य के अनुरूप हो जायेंगे, जिसमें उन्होंने कहा था : "एक नये विश्वयुद्ध का ख़तरा अभी भी मौजूद है, और सभी देशों के जन समुदाय को इसके लिए तैयार होना चाहिए, लेकिन क्रान्ति ही आज की दुनिया की मुख्य प्रवृत्ति है।" हालाँकि आठवीं कांग्रेस की रिपोर्ट में प्रस्तुत आकलन ग़लत था, लेकिन किसी कांग्रेस के पारित दस्तावेज़ों को किसी व्यक्ति,

या केन्द्रीय कमेटी द्वार भी, मनमाने ढंग से बदला नहीं जा सकता। यह जनवादी कार्यप्रणाली का निपट निषेध होता। सत्यनारायण सिंह का सुझाव अपने आप में उनकी अनौपचारिकतावादी, ग़ैरजनवादी, अवसरवादी कार्यपद्धति का परिचायक था। चारु मजुमदार ने उनके इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। यहाँ, राजनीति ग़लत होते हुए भी वे सही कार्य-प्रणाली के पक्ष में खड़े थे।

बिहार राज्य कमेटी द्वारा पारित प्रस्ताव वाम अवसरवाद का विरोध करते हुए, वस्तुतः स्वयं वाम अवसरवादी भटकाव से मुक्त नहीं था। इसमें चारु मजुमदार की प्रशंसा के पुल बाँधते हुए "शत्रुवध को... वर्ग संघर्ष का उच्चतर रूप और छापामार युद्ध की शुरुआत" बताया गया था और यह दावा किया गया था कि बारह राज्यों में अस्तित्व में आ चुके छापामार इलाक़े लगातार फैलते और मज़बूत होते जा रहे हैं। यह विवरण न सिर्फ़ अत्युक्ति था बल्कि तथ्यों से एकदम परे था। इसमें यह दावा किया गया था कि दुश्मन की घेरेबन्दी और दमन की मुहिम पूर्णतः विफल हो चुकी है और नागी रेड्डी-असित सेन जैसे "प्रतिक्रिया के भाड़े के टट्टुओं" के सभी विघटनकारी विचारधारात्मक आक्रमण नाकाम हो चुके हैं। पहली बात, श्रीकाकुलम और अन्य जगहों पर राजकीय दमन की धुँआधार मुहिम पार्टी-कांग्रेस के पहले ही छापामार युद्ध के नाम पर जारी शत्रुवध मुहिम को पीछे धकेल चुकी थी। दूसरी बात, सत्यनारायण सिंह अभी भी नागी रेड्डी और असित सेन को "प्रतिक्रिया का भाड़े का टट्टू" कहने जैसी गालियाँ दे रहे थे, जो लोग निष्कलंक-अकुण्ठ क्रान्तिकारी चरित्र के नेता थे और जिन्होंने साहसपूर्वक, तालमेल कमेटी के दौर में "वाम" दुस्साहसवादी भटकाव के विरुद्ध संघर्ष किया था। सत्यनारायण सिंह के अवसरवादी चरित्र को समझने के लिए एक घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा। पार्टी से अलग होने के बाद वे असित सेन को अपने साथ लेने के लिए उनके घर पहुँच गये थे। तब असित सेन ने उन्हें दुत्कार दिया था। मज़दूरों के सन्दर्भ में बिहार राज्य कमेटी के प्रस्ताव में कहा गया था कि वे आर्थिक संघर्ष की सीमाओं को ज़्यादा से ज़्यादा समझते जा रहे हैं, उन्होंने अब अपनी रोज़मर्रे की समस्याओं, माँगों और मुद्दों के बजाय आत्मसम्मान और स्वाभिमान के मसलों पर संघर्ष की शुरुआत कर दी है, तथा, उनका संघर्ष ज़्यादा से ज़्यादा दीर्घकालिक होता जा रहा है और हिंसक टकरावों में तब्दील होता जा रहा है। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह आकलन भी शहरी मज़दूर वर्ग के बीच काम के बारे में और उसके कार्यभारों के बारे में चारु मजुमदार की "वाम" दुस्साहसवादी लाइन से पूरी तरह मेल खाता है। यही नहीं, चारु मजुमदार के आह्वान के ही सुर में सुर मिलाते हुए प्रस्ताव में यह आह्वान किया गया था कि पार्टी शहरों में जारी सशस्त्र क्रान्तिकारी संघर्षों को गाँवों में जारी संघर्षों से जोड़कर लोक जनवादी क्रान्ति करके 1970 के दशक को साम्राज्यवाद और सामन्तवाद की जकड़ से मुक्ति का दशक बना दे।

तब फिर सहज ही यह सवाल उठता है कि बिहार राज्य कमेटी का प्रस्ताव आख़िरकार किन मुद्दों पर "वाम" प्रवृत्तियों का विरोध कर रहा था? मुद्दा केवल एक था, और वह था धनी किसानों का सवाल। प्रस्ताव का कहना था कि भूस्वामियों और धनी किसानों के बीच का अन्तर मिटाकर "वाम" अवसरवाद क्रान्तिकारी मोर्चे का दायरा संकीर्ण बना रहा है और प्रतिक्रान्तिकारी मोर्चे को

मज़बूत बना रहा है। केवल वे थोड़े से धनी किसान ही हमारे शत्रु हैं जो सामन्ती प्रवृत्ति के हैं या सामन्ती भूस्वामियों के साथ हैं। सिद्धान्ततः देखें तो नवजनवादी क्रान्ति के चार वर्गों के रणनीतिक संश्रय के हिसाब से यह बात ठीक थी कि धनी किसान भी क्रान्ति के (ढुलमुल) दोस्त होते हैं। लेकिन इस मसले पर पार्टी की आधिकारिक अवस्थिति भी यही थी। समस्या ठोस परिस्थितियों के आकलन की ग़लती से पैदा हो रही थी। 1970 तक पुराने सामन्ती भूस्वामी भी अब लगानजीवी नहीं रह गये थे और बाज़ार के लिए पैदा करने की प्रवृत्ति उनके भीतर भी मज़बूत हो रही थी। दूसरी ओर, पुराने धनी और ख़ुशहाल मध्यम किसानों में से भी धनी मालिक किसानों का वह वर्ग पैदा हो चुका था जो गाँव के ग़रीबों-भूमिहीनों का शोषण-उत्पीड़न करता था और मुनाफ़े के लिए खेती करता था। इन नये-पुराने भूस्वामियों के बीच प्रायः जातिगत आधार पर टकराव भी होते थे। एक और तथ्य यह था कि पूँजीवादी खेती में अधिक माहिर नये भूस्वामी पुराने भूस्वामियों को पीछे छोड़ते जा रहे थे। पार्टी सामन्ती भूस्वामी और धनी किसान में नवजनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के अनुरूप भेद करने के लिए उत्पादन-सम्बन्धों की जगह इस पारिवारिक इतिहास को मानक बनाती थी कि कौन पहले ज़मींदार था और कौन काश्तकार। एक दूसरा अनुभवसंगत मानक जातिगत भेदभाव और उत्पीड़न था, क्योंकि सामन्ती पृष्ठभूमि वाले भूस्वामी प्रायः सवर्ण जातियों के थे, जबकि धनी किसान प्रायः मध्यजातियों से आते थे। गाँवों में जहाँ धनी किसान भी भूमिहीनों का उत्पीड़न करते थे, वहाँ उनके ख़िलाफ़ भी ग़रीबों में गहरा आक्रोश था और शत्रुवध को अंजाम देने वाली छापामार टुकड़ियाँ इन्हीं ग़रीबों के बीच संगठित हुई थीं। नतीजतन, छापामार टुकड़ियों की कार्रवाइयों का निशाना धनी किसान भी बनते रहते थे। इस स्थिति के बुनियादी कारण की तलाश उत्पादन-सम्बन्धों में आ रहे बदलावों में करने की जगह सत्यनारायण सिंह ने इसे पार्टी में "वाम" विचलन के प्रभाव के रूप में देखा। उत्तरवर्ती घटनाक्रम-विकास से ऐसा मानने के पर्याप्त आधार मिलते हैं कि सत्यनारायण सिंह ने इस मसले को अपनी राजनीतिक कैरियरवादी सोच के तहत उठाया था। यही उनका अवसरवाद था जिसके चलते "वाम" दुस्साहसवाद का धुरन्धर पैरोकार होने की स्थिति से खिसकते हुए और पैंतरापलट करते हुए कालान्तर में वे गम्भीर दक्षिणपन्थी भटकाव की अवस्थिति तक जा पहुँचे।

लेकिन बिहार कमेटी के प्रस्ताव ने कुछ सापेक्षतः सही अवस्थितियाँ भी अपनायी थीं और कुछ विचारणीय मुद्दे भी उठाये थे। भारतीय लोक जनवादी क्रान्ति के असमान और दीर्घकालिक चरित्र को देखते हुए दस्तावेज़ में गाँवों और शहरों में संघर्ष की प्रकृति में भेद न करने की आलोचना की गयी थी और इस बात पर बल दिया गया था कि वर्गयुद्ध की देशव्यापी उच्चतर अवस्था से पहले शहरों में छापामार कार्रवाइयों की प्रकृति प्रतिरक्षात्मक होनी चाहिए। यह वही समय था जब चारु गुट कलकत्ता के छात्र-युवा उभार के दिनों में कलकत्ता को मुक्त क्षेत्र बना देने के नारे देते हुए पुरानी अवस्थिति को छोड़ चुका था। बिहार कमेटी के दस्तावेज़ ने प्रकारान्तर से इस अवस्थिति का विरोध किया। नवजनवादी क्रान्ति की सोच के फ्रेमवर्क में उसकी अवस्थिति इस मुद्दे पर सापेक्षतः सही थी। बिहार कमेटी के दस्तावेज़ में तत्कालीन समय को चारु मजुमदार द्वारा 'आत्म-बलिदान

का युग' कहे जाने की भी सही आलोचना की गयी थी और कहा गया था कि ऐसा अलग से कोई युग नहीं होता, संघर्ष के हर दौर में आत्म-बलिदान और आत्म-परिरक्षण - दोनों एक ही चीज़ के दो पहलू होते हैं। सत्यनारायण सिंह के अवसरवादी प्रस्थान-बिन्दु के बावजूद, दस्तावेज़ में, पार्टी में बढ़ती प्राधिकारवादी प्रवृत्ति की और सामूहिक कार्य-प्रणाली के अभाव की सही आलोचना की गयी थी, पर इसके लिए अकेले 'केन्द्रीय नेतृत्व' (यानी चारु) को ज़िम्मेदार ठहराया गया था। सत्यनारायण सिंह वास्तव में प्राधिकारवाद और अतिकेन्द्रीयता के कितने 'जेनुइन' विरोधी थे, इसे उस घटना से भी समझा जा सकता है, जिसका उल्लेख सौरेन बसु और सुनीति कुमार घोष ने अलग-अलग जगहों पर किया है। कांग्रेस के पहले, फ़रवरी 1970 में सत्यनारायण सिंह जब चारु मजुमदार की बिहार यात्रा का इन्तज़ाम करने कलकत्ता गये थे तो सुनीति कुमार घोष ने चारु मजुमदार को 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' घोषित करने के पक्ष में सौरेन बसु द्वारा लिखे गये लेख के बारे में उनकी राय पूछी। सत्यनारायण सिंह का कहना था कि यह ठीक है लेकिन लेख की कमी यह है कि 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' के तौर पर चारु मजुमदार के उत्तराधिकारी के बारे में इसमें कुछ नहीं कहा गया है। ज़ाहिर है कि वे स्वयं को ही उस उत्तराधिकारी के रूप में देखने की आकांक्षा रखते थे। यह भी एक कारण था कि सुनीति कुमार घोष, सौरेन बसु, सरोज़ दत्त और असीम चटर्जी के चारु के निकटवर्ती "बंगाली गुट" को "चारु चौकड़ी" कहते हुए वे उसकी निन्दा-भर्त्सना तक करने लगे थे।

अक्टूबर 1970 में कलकत्ता में केन्द्रीय कमेटी के पोलित ब्यूरो की एक बैठक हुई जिसमें बिहार राज्य कमेटी के प्रस्ताव पर विचार किया जाना था। यह पोलित ब्यूरो की पहली और आख़िरी बैठक थी। इसमें ब्यूरो के नौ सदस्यों में से चार सदस्य ही शामिल हो सके। वे थे : चारु मजुमदार, शिव कुमार मिश्र, सत्यनारायण सिंह और सरोज़ दत्त। बैठक में शामिल होने के लिए आते समय ही तमिलनाडु में एक भूस्वामी गिरोह ने अप्पू की हत्या कर दी जिसकी जानकारी नेतृत्व को बाद में मिली। बैठक से पहले ही सत्यनारायण सिंह और शिव कुमार मिश्र की मुलाक़ात संयोगवश हुई और सत्यनारायण सिंह ने शिव कुमार मिश्र को अपना दस्तावेज़ दिखाया। सरसरी तौर पर दस्तावेज़ देखने के बाद शिव कुमार मिश्र ने उन्हें अपने समर्थन का वायदा किया। शिव कुमार मिश्र एक निहायत निश्छल कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी थे। उनकी धारणा बनी कि बिहार कमेटी का दस्तावेज़ "वाम" भटकाव विरोधी संघर्ष की उसी कड़ी को आगे बढ़ा रहा है, जो सवाल पार्टी कांग्रेस के पहले से ही उत्तर प्रदेश राज्य कमेटी में भी उठ चुके हैं (इनमें शिव कुमार मिश्र से भी आगे की भूमिका श्री नारायण तिवारी और रामनयन उपाध्याय की थी)। बैठक में सत्यनारायण सिंह ने दस्तावेज़ रखते हुए अपना वक्तव्य रखा। फिर शिव कुमार मिश्र ने भी वक्तव्य रखा। चारु और सरोज़ दत्त स्पष्टतः ही इसके विरुद्ध थे। चारु की आकस्मिक अस्वस्थता के कारण बैठक लम्बी नहीं चली। सदस्य भी नौ में से मात्र चार ही उपस्थित थे। अतः फ़ैसला लिया गया कि बिहार कमेटी के दस्तावेज़ को केन्द्रीय कमेटी के समक्ष रखा जायेगा। लेकिन इसके बाद केन्द्रीय कमेटी की कोई बैठक नहीं बुलायी गयी। बिहार कमेटी के दस्तावेज़ को जनवरी 1971 में आहूत पश्चिम

बंगाल राज्य कमेटी की बैठक के समक्ष विचार के लिए रखा गया। इस समय तक सुशीतल राय चौधुरी भी "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के विरुद्ध लेखों की अपनी प्रसिद्ध श्रृंखला की शुरुआत कर चुके थे (इसकी चर्चा निबन्ध में आगे की जायेगी) और कमेटी की इसी बैठक में उनके एक लेख पर भी बहस होनी थी। बहरहाल, बंगाल राज्य कमेटी ने बिहार कमेटी के प्रस्ताव को संशोधनवादी और प्रतिक्रान्तिकारी बताते हुए ख़ारिज़ कर दिया और केन्द्रीय कमेटी से माँग की कि प्रस्ताव तैयार करने वाले लोगों को पार्टी से निकाल बाहर किया जाये। इसके पूर्व ही, चारु मजुमदार 'देशव्रती' में बिहार प्रस्ताव के विरुद्ध विस्तार से लिख चुके थे। बहरहाल, इसके ठीक बाद, सत्यनारायण सिंह और उनके साथियों को पार्टी से निकाल दिया गया। इसके पूर्व न तो केन्द्रीय कमेटी की कोई बैठक हुई, न ही बाद में कोई बैठक करके इस निर्णय का अनुमोदन कराया गया। चारु और उनके विशेष समर्थकों का एक 'कॉकस' इस समय तक वस्तुतः एक 'डी फ़ैक्टो' केन्द्रीय कमेटी के रूप में काम करने लगा था। बिहार राज्य कमेटी भंग कर दी गयी और उसकी जगह एक तदर्थ (एडहॉक) कमेटी बैठा दी गयी।

तत्काल जवाबी कार्रवाई करते हुए सत्यनारायण सिंह ने बिहार राज्य कमेटी का पूर्णाधिवेशन (प्लेनम) बुलाया और उसमें 'भारतीय क्रान्ति की समस्याएँ और नवत्रात्स्कीपन्थी भटकाव' शीर्षक वाली 110 पृष्ठों की विस्तृत रिपोर्ट पेश की। संक्षेप में, उक्त रिपोर्ट के निष्कर्ष इस प्रकार थे : (1) नवत्रात्स्कीपन्थी चारु चौकड़ी जनवादी, समाजवादी और सांस्कृतिक क्रान्तियों का घालमेल करके सारी क्रान्तियों की सम्भावनाओं को नष्ट कर रही है। (2) वह विश्व परिस्थितियों के माओ के मूल्यांकन को नहीं मानती, जनता की जगह साम्राज्यवाद को निर्णायक शक्ति मानती है तथा क्रान्ति की जगह युद्ध को आज की दुनिया की मुख्य प्रवृत्ति मानती है। (3) वह दीर्घकालिक लोकयुद्ध की रणनीति एवं रणकौशल को स्वीकार नहीं करती, उसकी जगह द्रुत विजय, आम उभार और सर्वत्र खुली मुठभेड़ों की फेरी लगाती है तथा निरुद्देश्य कार्रवाइयों (ऐक्शंस) को बढ़ावा देती है और इस तरह क्रान्ति की विजय को सुनिश्चित मार्ग से भटकाती है। (4) क्रान्ति को नष्ट करने के लिए देहातों में आधार-इलाक़े बनाने की लाइन छोड़कर वह शहरों को गुरुत्वाकर्षण का मुख्य केन्द्र बना रही है। (5) मज़दूरों, किसानों, निम्न बुर्जुआ वर्ग और जनता के अन्य हिस्सों के आर्थिक एवं आंशिक संघर्षों का विरोध करके वह क्रान्ति के जनचरित्र को नष्ट कर रही है। (6) वह मार्क्सवाद में संशोधनवादी तोड़-मरोड़ करके उसे विकृत करना चाहती है जिसके उदाहरण हैं : जनवादी और समाजवादी क्रान्तियों, युद्ध और क्रान्ति तथा सशस्त्र संघर्ष और वर्ग संघर्ष के अन्य रूपों का समन्वय, लोकयुद्ध की रणनीति, रणकौशलों और राजनीतिक संघर्षों के साथ आर्थिक और आंशिक संघर्षों का समन्वय, तथा, पार्टी निर्माण और पार्टी कार्यशैली के बारे में उसकी ग़लत धारणाएँ। (7) यह चारु चौकड़ी माओ विचारधारा की जगह चारु विचारधारा को पार्टी का मार्गदर्शक सिद्धान्त बनाना चाहती है। रिपोर्ट में चारु मजुमदार द्वारा तीसरे महायुद्ध के आरम्भ के आकलन को माओ के आकलन के विपरीत बताते हुए इसकी खिल्ली उड़ायी गयी थी और अन्त में यह नतीजा पेश किया गया था कि चारु चौकड़ी अब भाकपा (मा-ले) का एक हिस्सा नहीं रह

गया है, यह पतित होकर प्रतिक्रान्तिकारी वर्गों का अग्रिम दस्ता बन गया है जो भारतीय क्रान्ति, पार्टी और विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन के नेतृत्व को क्षति पहुँचाने की जीतोड़ कोशिशें कर रहा है। इस प्लेनम में फूट की प्रक्रिया मुक़म्मिल हो गयी और सत्यनारायण सिंह ग्रुप एक समान्तर पार्टी-केन्द्र के रूप में काम करने लगा।

बिहार राज्य कमेटी के पूर्णाधिवेशन के समय तक शिव कुमार मिश्र गिरफ़्तार किये जा चुके थे। पार्टी के पोलित ब्यूरो की बैठक में उन्होंने बिहार कमेटी के प्रस्ताव का समर्थन किया था। वे "वामपन्थी" भटकाव को एक गम्भीर रणकौशलात्मक ग़लती मानते थे लेकिन चारु मजुमदार के नेतृत्व में उनकी अगाध आस्था थी (जो जीवनपर्यन्त बनी रही) और उन्हें पूरा विश्वास था कि चारु इस भटकाव को समय रहते ठीक कर लेंगे। पूर्णाधिवेशन में प्रस्तुत सत्यनारायण सिंह का दस्तावेज़ 'भारतीय क्रान्ति की समस्याएँ और नवत्रात्स्कीपन्थी भटकाव' उन्हें जेल में मिला। दस्तावेज़ से उनकी सख़्त असहमति थी। वे चारु के ऊपर त्रात्स्कीपन्थी का ठप्पा लगाने के सख़्त विरोधी थे। उनकी यह धारणा बनी कि सत्यनारायण सिंह की मंशा शुरू से ही चारु को किनारे लगाने की थी और यहाँ तक कि उत्तर प्रदेश कमेटी के कुछ साथी भी ऐसा ही चाहते थे। उनका मानना था कि सत्यनारायण सिंह ने फूटपरस्ती के उद्देश्य से किये गये छल-नियोजन के तहत, उनके विश्वास का लाभ उठाकर उन्हें इस्तेमाल किया (उनकी यह धारणा उनके जीवनपर्यन्त बनी रही)। इसके बाद उ.प्र. कमेटी ने सत्यनारायण सिंह के सांगठनिक प्रयासों से अपने को अलग कर लिया, लेकिन बिहार कमेटी के प्रस्ताव के समर्थन का ख़ामियाज़ा उन्हें भी भुगतना पड़ा। चारु मजुमदार ने उ.प्र. राज्य कमेटी को भंग कर दिया और शिव कुमार मिश्र और उनके साथी भी संगठन से निकाल दिये गये।

चारु मजुमदार के साथ अगले महत्वपूर्ण मतभेद और अलगाव की प्रक्रिया असीम चटर्जी के साथ घटित हुई। सत्यनारायण सिंह ने चारु मजुमदार पर सरोज़ दत्त, सौरेन बसु, सुनीति कुमार घोष और असीम चटर्जी की चौकड़ी से घिरे होने का आरोप लगाया था, लेकिन दरहक़ीक़त जब बिहार राज्य कमेटी का पूर्णाधिवेशन हो रहा था, उस समय तक चारु और असीम के बीच मतभेद पैदा हो चुके थे। जून 1971 में असीम चटर्जी के नेतृत्व में काम करने वाली 'बंगाल-बिहार-उड़ीसा सीमा क्षेत्रीय कमेटी' ने एक दस्तावेज़ जारी करके पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांगला देश) में जारी संघर्ष में पाकिस्तान के प्रति अपनायी जा रही आधिकारिक पार्टी-अवस्थिति की सख़्त आलोचना करते हुए इसे चीनी पार्टी की अवस्थिति के विरुद्ध बताया था। असीम चटर्जी का विचार था कि पाकिस्तान अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता, भौगोलिक अखण्डता और सम्प्रभुता की हिफ़ाज़त के लिए संघर्ष कर रहा है और चीन उसका समर्थन कर रहा है जबकि सोवियत सामाजिक साम्राज्यवाद और भारतीय विस्तारवादी अपने निहित स्वार्थों के लिए पाकिस्तान को बाँट देना चाहते हैं और पाकिस्तान की जनता के विरुद्ध हैं। यह सही है कि चीन दो अतिमहाशक्तियों में सोवियत साम्राज्यवाद को ज़्यादा आक्रामक और ज़्यादा ख़तरनाक (सामाजिक फ़ासीवादी) मानता था और भारतीय बुर्जुआ सत्ता को उसका विश्वस्त सहयोगी मानता था। इस दृष्टि से वह

पाकिस्तान के अन्दरूनी मामले में सोवियत समर्थित भारतीय हस्तक्षेप के ख़िलाफ़ था, लेकिन साथ ही उसका यह भी मानना था कि पूर्वी पाकिस्तान के सवाल को वहाँ की जनता की इच्छा के हिसाब से हल किया जाना चाहिए (एस. निहाल सिंह : 'द योगी एण्ड द बियर', पृ. 92, 172)। चीन पाकिस्तान का समर्थन करने और पूर्वी पाकिस्तान की जनता की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की लड़ाई के बीच दुविधा का शिकार था और पाकिस्तानी तानाशाह याह्या ख़ान को पूर्वी पाकिस्तान के मसले पर चीनी समर्थन न मिलने पर आश्चर्य था (सुल्तान एम. ख़ान की पुस्तक 'मेमोरीज़ एण्ड रिफ़्लेक्शंस ऑफ़ ए पाकिस्तानी डिप्लोमैट' की 'स्टेट्समैन', कलकत्ता संस्करण में प्रकाशित ए. जी. नूरानी की समीक्षा, 16 नवम्बर 1998)। निश्चय ही, इन सबके बावजूद उस दौर की चीनी विदेश नीति पर कुछ सवाल उठते हैं जो इस आकलन पर आधारित थी कि अधिक ख़तरनाक सोवियत साम्राज्यवाद की आक्रामकता के कारण तीसरे विश्वयुद्ध का ख़तरा बना हुआ है और इस स्थिति में तीसरी दुनिया के देशों की बुर्जुआ सत्ताओं और पश्चिमी देशों के साथ भी संयुक्त मोर्चा बनाया जा सकता है। यह मूल्यांकन ही बुनियादी तौर पर ग़लत था, समय ने इसे सिद्ध किया, पर इस विश्लेषण के लिए यह उपयुक्त स्थान नहीं है। असीम चटर्जी की मूल ग़लती यह थी कि वह देश-विशेष की पार्टी की नीति पूरी तरह एक समाजवादी देश की विदेश नीति और कूटनीति के आधार पर तय कर रहे थे। यह सही है कि क्षेत्रीय स्तर पर भारत और विश्व स्तर पर सोवियत संघ पूर्वी पाकिस्तान की स्थिति का अपने हित में लाभ उठाने के लिए हस्तक्षेपकारी और विस्तारवादी नीति अपना रहे थे, लेकिन मूल अन्तरविरोध पाकिस्तानी समाज का अपना अन्दरूनी अन्तरविरोध था। पूर्वी पाकिस्तान की बंगाली राष्ट्रीयता पाकिस्तान की केन्द्रीय सत्ता (जिस पर पंजाबी राष्ट्र का बुर्जुआ वर्ग हावी था) के विरुद्ध अपनी मुक्ति की बहादुराना लड़ाई लड़ रही थी और बर्बर दमन का सामना कर रही थी। ऐसी स्थिति में आत्मनिर्णय और आज़ादी की इस लड़ाई का समर्थन ही किसी कम्युनिस्ट पार्टी की नीति होनी चाहिए थी। ग़ौरतलब है कि अपनी कम ताक़त के बावजूद मुहम्मद तोहा के नेतृत्व वाली 'पूर्वी पाकिस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी (मा-ले)' उस समय पाकिस्तान की तानाशाह हुकूमत के विरुद्ध कुछ क्षेत्रों में छापामार संघर्ष चलाने के साथ ही सोवियत और भारतीय हस्तक्षेप का तथा इनके प्रति घुटनाटेकू रवैया अपनाने वाले अवामी लीग के बुर्जुआ नेतृत्व (शेख़ मुजीबुर्रहमान) का भी विरोध कर रही थी। लेकिन तथ्यों के प्रति एकांगी नज़रिया अपनाते हुए असीम चटर्जी उस सीमा तक चले गये थे कि जुल्फ़िकार अली भुट्टो और उसकी पार्टी को पाकिस्तान के राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग का प्रतिनिधि मानने लगे थे। इस प्रश्न पर, कुल मिलाकर, चारु मजुमदार की अवस्थिति सही थी। उनका कहना था कि सोवियत साम्राज्यवाद और भारतीय विस्तारवाद की नीतियों का विरोध करते हुए भी पार्टी का यह कर्तव्य है कि वह पूर्वी पाकिस्तान की जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार और उसके मुक्ति संघर्ष का पुरज़ोर समर्थन करे।

जल्दी ही, असीम चटर्जी ने 'बंगाल-बिहार-उड़ीसा क्षेत्रीय कमेटी' की ओर से 'वर्तमान पार्टी लाइन के सम्बन्ध में' शीर्षक वाला एक और दस्तावेज़ जारी किया। असीम चटर्जी ने बाद में एक

लघु पत्रिका में प्रकाशित लेख में स्वीकार किया था कि सौरेन बसु के जेल जाने के पहले उन्हें उनसे यह संक्षिप्त जानकारी मिल चुकी थी कि चीनी पार्टी के नेताओं ने भाकपा (मा-ले) की राजनीतिक लाइन के कुछ पहलुओं की गम्भीर आलोचना करते हुए कुछ सुझाव दिये हैं ('चीनी सुझावों' के प्रसंग की आगे विस्तार से चर्चा की जायेगी)। असीम चटर्जी के नये दस्तावेज़ के पीछे यही जानकारी निर्णायक उपादान के रूप में काम कर रही थी। इसी आलोक में अपने व्यावहारिक अनुभवों का समाहार करते हुए उन्होंने अपने नये दस्तावेज़ में पार्टी लाइन के विरुद्ध विद्रोह का परचम लहराया। यह दस्तावेज़ लिखने के लिए उन्हें प्रोत्साहित करते हुए सौरेन बसु ने उन्हें अलीपुर जेल से पत्र भी लिखा था (तब तक वे गिरफ़्तार हो चुके थे)। असीम ने अपने इस दूसरे दस्तावेज़ में मिदनापुर (प. बंगाल), सिंहभूम (तत्कालीन बिहार, आज का झारखण्ड) और मयूरभंज (ओडिशा) में 120 लोगों के सफाये और कई थानों पर हमले के बाद भी आधार क्षेत्र और जन मुक्ति सेना नहीं बन पाने पर सवाल उठाया था और इसके लिए चारु मजुमदार के उपेक्षात्मक रवैये और ग़लत सोच को ज़िम्मेदार ठहराया था। दस्तावेज़ में कहा गया था कि पार्टी के नेतृत्व में जारी सशस्त्र संघर्ष के अनुभवों का समाहार करके रणकौशलात्मक लाइन में परिवर्तन किया जाना चाहिए। दस्तावेज़ में भारतीय क्रान्ति के असमान विकास को सही रूप में इंगित किया गया था और एक हद तक "वाम" विचलन को सुधारते हुए यह सवाल भी उठाया गया था कि सशस्त्र संघर्ष को जनान्दोलनों और जन संगठनों के निर्माण से जोड़ा जाना चाहिए। हालाँकि सशस्त्र संघर्ष से यहाँ तात्पर्य वर्ग शत्रुओं के गुप्त सफाये से ही था और ऐसी कार्रवाइयाँ शहरी क्षेत्रों में भी करने की हिमायत की गयी थी। दस्तावेज़ में चीनी पार्टी के सुझावों को रोके रखने के लिए पार्टी नेतृत्व की कड़ी आलोचना की गयी थी। इसमें यह विचार रखा गया था कि देहात में आधार-क्षेत्र की स्थापना सशस्त्र भूमि संघर्ष का उच्चतम रूप है जिसके बिना हर सफाया निरर्थक है और लोकसत्ता, जन मुक्ति सेना और राज्य सत्ता पर अधिकार जैसी बातों का कोई मतलब नहीं है। इस तरह, जनदिशा की लाइन को खण्डित रूप में स्वीकार करते हुए भी यह दस्तावेज़ अपने अन्तिम निष्कर्ष में स्वयं "वाम" अवसरवाद का शिकार था क्योंकि शत्रुवध की लाइन और 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' को यह ज़रूरी मानता था। इस विचलन का एक घटिया रूप यह था कि इसमें, एक ऐसे समय में अपने नेतृत्व में एक शक्तिशाली जन मुक्ति सेना की मौजूदगी का दावा किया गया था, और आधार इलाक़े के निर्माण का आह्वान किया गया था, जबकि वास्तव में उक्त कमेटी के इलाक़े में संघर्ष बिखर चुका था और कमेटी के नेतृत्वकारी सदस्यों ने सुरक्षित शेल्टरों के लिए वह इलाक़ा ही छोड़ दिया था। असीम चटर्जी और उनके साथियों ने इस दस्तावेज़ में ही यह चेतावनी भी दी थी कि पार्टी के भीतर विचारधारात्मक-राजनीतिक बहस वे आगे नहीं चलायेंगे और स्वतन्त्र रूप से अपनी लाइन को अमल में लायेंगे। व्यवहारतः इसका मतलब पार्टी से अलग हो जाना ही था। इस तरह चारु मजुमदार के अन्धभक्त से अन्धविरोधी बन जाने तक की असीम चटर्जी की यात्रा सम्पन्न हुई।

असीम चटर्जी अपने कुछ युवा साथियों के साथ पार्टी में 1969 में, उस समय शामिल हुए थे जब चीन की पार्टी लगातार भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन और चारु मजुमदार के

पक्ष में लेख, टिप्पणी और वक्तव्य जारी कर रही थी। तब चारु उन्हें 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' नज़र आने लगे थे। जैसे ही उन्हें चीनी पार्टी द्वारा आलोचना की जानकारी मिली, चारु की लाइन का धुर-विरोधी होते और पार्टी छोड़ते उन्हें देर न लगी।

पार्टी से अलग होते ही असीम चटर्जी का सत्यनारायण सिंह से सम्पर्क स्थापित हो गया जो बिहार राज्य कमेटी के पूर्णाधिवेशन के बाद नयी पार्टी बनाने के लिए नवम्बर 1971 में एक बैठक करने जा रहे थे। दोनों के बीच चारु-विरोध पर सहमति की और नाटकीय पैंतरापलट की साझा ज़मीन मौजूद थी, अतः एक राय होते देर न लगी। नवम्बर 1971 की उस बैठक के लिए जाते समय ही 3 नवम्बर को देवघर (बिहार) में असीम चटर्जी गिरफ़्तार हो गये। कुछ समय बाद ही उनके अन्य दो साथी सन्तोष राणा और मिहिर राणा भी गिरफ़्तार हो गये, लेकिन एक अन्य साथी उक्त बैठक में शामिल हो पाने में सफल रहा। बैठक में एक नयी केन्द्रीय कमेटी का गठन किया गया और सत्यनारायण सिंह को पार्टी का महासचिव चुना गया। सन्तोष राणा और मिहिर राणा भी आगे चलकर सत्यनारायण सिंह की पार्टी में शामिल हो गये। सत्यनारायण सिंह ने भारत का 'वांग मिंग' बताते हुए चारु मजुमदार को और उनके साथ सुनीति कुमार घोष को पार्टी से निकालने की घोषणा की। असीम चटर्जी ने अपने कारावास की लम्बी अवधि के दौरान अलग राह पकड़ी और 1980 में जेल से बाहर आने के बाद, सत्यनारायण सिंह के साथ जाने के बजाय कानू सान्याल के साथ राजनीति की नयी पारी शुरू की। यह साथ कुछ समय का ही रहा। फिर उन्होंने एक अलग राह पकड़ी जो संशोधनवाद के घृणित पंककुण्ड तक जाती थी। इस यात्रा की चर्चा आगे यथास्थान आयेगी।

असीम चटर्जी के कार्यक्षेत्र में जो उनके साथी कार्यरत थे वे 1972 के मध्य तक अपने तरीक़े से काम खड़ा करने की कुछ कोशिश करते रहे। फिर वे बिखर गये और उनमें से भी कुछ सत्यनारायण सिंह के साथ हो गये।

सुशीतल राय चौधुरी के साथ चारु मजुमदार और उनके समर्थकों का मतभेद पार्टी कांग्रेस के बाद के एक वर्ष के दौरान का एक अन्य महत्वपूर्ण घटनाक्रम था। सुशीतल राय चौधुरी एक पुराने कम्युनिस्ट नेता और सम्मानित सिद्धान्तवेत्ता थे जो 'अखिल भारतीय तालमेल कमेटी' के महासचिव रह चुके थे और भाकपा (मा-ले) की केन्द्रीय कमेटी और पोलित ब्यूरो के सदस्य तथा प. बंगाल राज्य कमेटी के सचिव थे। जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है, पार्टी कांग्रेस के ठीक बाद हुई केन्द्रीय कमेटी की पहली और आख़िरी बैठक में सौरेन बसु, असीम चटर्जी और सरोज़ दत्त जब चारु मजुमदार को 'क्रान्तिकारी प्राधिकार' घोषित किये जाने के पक्ष में दलीलें दे रहे थे, उस समय पार्टी कमेटी के सुदृढ़ीकरण के बारे में माओ का उद्धरण पढ़कर सुशीतल राय चौधुरी ने उनका परोक्ष प्रतिवाद किया था। "वाम" दुस्साहसवाद के विरुद्ध, तालमेल कमेटी के दौर में डी वी राव-नागी रेड्डी, परिमल दासगुप्ता, असित सेन, प्रमोद सेनगुप्त आदि ने अलग-अलग समय में जब संघर्ष किया था, उस समय सुशीतल राय चौधुरी चारु की लाइन के साथ खड़े थे। उन्हें तथा उन जैसे बहुतेरे अन्य नेताओं ने "वाम दुस्साहसवाद" के विरोधियों के तर्कों पर उस समय ध्यान

ही नहीं दिया और बाद में, एक-एक करके, धीरे-धीरे वे स्वयं "वाम" भटकाव के विरोधी होते गये। पश्चदृष्टि से देखते हुए कहा जा सकता है कि इसका बुनियादी कारण यह था कि इन लोगों की विचारधारात्मक समझ काफ़ी हद तक कमज़ोर थी (जो भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन की ऐतिहासिक विरासत थी)। इसी कमजोरी के चलते अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व और बड़ी एवं अनुभवी पार्टी के प्रति इनमें अनालोचनात्मक अनुकरण का रवैया मौजूद था। इसीलिए, जब तक चीन की पार्टी के मुखपत्रों और चीनी मीडिया में तालमेल कमेटी, भाकपा (मा-ले) और चारु मजुमदार के समर्थन और प्रशंसा का शोर था, तब तक इन लोगों ने चारु की लाइन के किसी विरोधी तर्क या उस लाइन की व्यवहार में सामने आ रही विफलता पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। लेकिन हालात बदलते ही जिन लोगों ने आलोचनात्मक विवेक के साथ सोचना शुरू किया और क्रमशः सही अवस्थिति पर पहुँचते चले गये, उनमें सुशीतल राय चौधुरी का नाम प्रमुखता के साथ शामिल है।

कलकत्ता के छात्र-युवा उभार की चर्चा हम निबन्ध में पहले ही कर चुके हैं। पार्टी कांग्रेस (मई 1970) के बाद छात्रों-युवाओं के 'ऐक्शन-स्क्वाडों' ने जब स्कूलों-कॉलेजों-पुस्तकालयों पर हमलों का तथा बुर्जुआ राष्ट्रीय नेताओं की मूर्तियाँ तोड़ने का सिलसिला शुरू किया, तो इस दौर में चारु और उनके सहयोगियों के साथ सुशीतल राय चौधुरी के मतभेद तेज़ी से बढ़े। अक्टूबर 1970 में (यानी बिहार राज्य कमेटी द्वारा चारु लाइन के विरोध में प्रस्ताव पारित किये जाने की उपरोल्लिखित घटना के ठीक एक माह बाद) सुशीतल राय चौधुरी ने स्वास्थ्यगत कारणों से राज्य सचिव की ज़िम्मेदारी से एक माह की छुट्टी ली। इसी दौरान उन्होंने 'पूर्ण' छद्म नाम से एक दस्तावेज़ लिखा और उसे पार्टी के समक्ष प्रस्तुत किया। दस्तावेज़ में उन्होंने कलकत्ता के छात्र-युवा उभार के दौरान कलकत्ता और प. बंगाल के कुछ और शहरों में शैक्षिक संस्थानों पर हमले करने, परीक्षाओं को बाधित करने, पुस्तकालयों-प्रयोगशालाओं में तोड़फोड़ मचाने जैसी कार्रवाइयों की आलोचना करते हुए इन्हें 'लुड्डाइट टाइप ऐक्शंस' की संज्ञा दी थी। ज्ञातव्य है कि 'नेपोलियॉनिक युद्धों' की समाप्ति के बाद इंग्लैण्ड जब गम्भीर आर्थिक संकट, बेरोज़गारी और भूख की चपेट में था तो बहुतेरे औद्योगिक मज़दूर यह सोचकर अपना गुस्सा मशीनों पर उतार रहे थे और उन्हें तोड़ रहे थे कि मशीनें ही वह शैतानी बला हैं जो उनकी ज़िन्दगी को कुचल रही हैं। इन्हीं कार्रवाइयों को 'लुड्डाइट' नाम दिया गया था। सुशीतल राय चौधुरी का यह सही तर्क था कि छात्रों का शिक्षा संस्थानों को निशाना बनाना 'लुड्डाइट ऐक्शन' जैसा ही है क्योंकि शिक्षा संस्थान शोषकों-उत्पीड़कों के हाथों में मात्र ऐसे उपकरण हैं जो प्रतिक्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था को बनाये रखने और संचालित करने का काम करते हैं।

सुशीतल राय चौधुरी ने मूर्तिभंजन की कार्रवाई की भी एक "वाम" अतिरेकी कार्रवाई के रूप में आलोचना की थी, लेकिन इस सन्दर्भ में उनकी तर्कप्रणाली विसंगतिपूर्ण थी। उनका कहना था कि राममोहन राय, विद्यासागर और टैगोर जैसों की मूर्तियाँ तोड़ना ग़लत है क्योंकि ये लोग देश की पुरानी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के ज़माने के बुद्धिजीवी थे। हाँ, गाँधी जैसे भारतीय बुर्जुआ वर्ग के प्रतिनिधियों की मूर्तियाँ अवश्य तोड़ी जानी चाहिए, ताकि लोगों के मानस से ऐसे लोगों की स्थापित

छवि हटायी जा सके। इस तर्क-प्रणाली की पहली विसंगति यह थी कि राजा राममोहन राय और विद्यासागर जैसे लोग किसी भी प्रकार की बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के ज़माने के बुद्धिजीवी नहीं थे। वे ब्रिटिश औपनिवेशिक सामाजिक-आर्थिक संरचना के गर्भ से जन्मे मध्यवर्ग के प्रतिनिधि थे जिनका अस्तित्व औपनिवेशिक सत्ता पर निर्भर था। इस विसंगति को चारु मजुमदार ने अपने प्रत्युत्तर में बख़ूबी पकड़ा था और यह सवाल उठाया था कि क्या मूर्तियाँ चुनकर तोड़ी जायें? बुनियादी मुद्दा यह था कि मूर्तिभंजन किसी भी सूरत में ग़लत था क्योंकि मूर्तियाँ तोड़ने और तस्वीरें जलाने से जनमानस में अंकित किसी व्यक्ति की छवि को क़तई नहीं मिटाया जा सकता। इसके लिए विचारधारात्मक कार्य की लम्बी प्रक्रिया अनिवार्य होती है। माओ त्से-तुंग ने 'हुनान किसान आन्दोलन की जाँच-पड़ताल रिपोर्ट' में यह स्पष्ट कहा था कि जो किसान आने हाथों से मूर्तियाँ बनाते हैं, वे ही समय आने पर अपने ही हाथों से उन्हें किनारे हटा देंगे, अतः वक़्त से पहले किसी को यह काम करने की ज़रूरत नहीं है। कम्युनिस्ट पार्टी जन समुदाय की राजनीतिक चेतना को ऊपर उठाने का काम करती है, और मूर्तिपूजा, अन्य अन्धविश्वासों और मिथ्या धारणाओं से छुटकारा पाने की ज़िम्मेदारी लोगों पर छोड़ देती है। ज़ाहिर है कि लोगों की राजनीतिक चेतना का स्तर उठाये बिना और पर्याप्त विचारधारात्मक कार्य किये बिना ऐसे लोगों की मूर्तियाँ तोड़ना, जो घर-घर के जाने-पहचाने नाम थे, एक अतिवादी कार्रवाई थी। यह उस शहरी निम्न बुर्जुआ वर्ग को नाराज़ करके उसे शत्रु के शिविर में धकेल देने जैसी कार्रवाई भी थी, जो भारतीय क्रान्ति में मेहनतकश वर्गों का रणनीतिक मित्र था। सुशीतल राय चौधुरी ने इस मुद्दे पर अपनी आपत्ति तो रखी, लेकिन उनके तर्क खण्डित और विसंगतिपूर्ण थे।

सुशीतल राय चौधुरी अपने दस्तावेज़ की प्रस्तुति के साथ ही अलग-थलग पड़ गये। बंगाल राज्य कमेटी और बंगाल के केन्द्रीय कमेटी सदस्यों में से किसी ने उनका साथ नहीं दिया। जनवरी 1971 की राज्य कमेटी की बैठक में स्थिति यह थी कि बेहद आक्रामक सौरेन बसु और असीम चटर्जी जैसे कुछ सदस्य सुशीतल राय चौधुरी को पार्टी से निकाल देने का प्रस्ताव रख रहे थे। सरोज़ दत्त और सुनीति कुमार घोष ने मौन धारण कर रखने का रास्ता चुना था। लेकिन चूँकि चारु मजुमदार जानते थे कि सुशीतल राय चौधुरी जैसे बुजुर्ग, लोकप्रिय और सम्मानित नेता के निष्कासन का बंगाल में कितना प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा, इसलिए बीच-बचाव करते हुए उन्होंने कहा कि सुशीतल बाबू को कोई पार्टी से नहीं निकाल सकता और उनकी इच्छा के हिसाब से राज्य कमेटी पार्टी इकाइयों की बैठक बुलायेगी जिसमें अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए वे स्वतन्त्र होंगे। लेकिन व्यवहार में जो हुआ वह यह कि सुशीतल राय चौधुरी को पार्टी में रहते हुए ही पूरी तरह अलग-थलग कर दिया गया। इन्हीं स्थितियों में मार्च 1971 में उनका निधन हो गया।

निधन से पूर्व बांग्ला भाषा में उन्होंने एक दस्तावेज़ लिखा था : 'भारतीय क्रान्ति की समस्याएँ और संकट'। इसे निधनोपरान्त उनके कुछ समर्थकों ने प्रकाशित कराया। इसमें दस्तावेज़ पर नवम्बर 1970 का लेखन-समय दिया गया है, लेकिन सुनीति कुमार घोष ('नक्सलबाड़ी : बिफ़ोर एण्ड आफ़्टर', पृ. 264) के अनुसार, यह ग़लत है क्योंकि दस्तावेज़ में चारु मजुमदार द्वारा जन

मुक्ति सेना के गठन की घोषणा का उल्लेख है। यह घोषणा 7 दिसम्बर 1970 को हुई थी। यानी यह दस्तावेज़ इस तिथि के बाद ही कभी लिखा गया था। बहुत मुमकिन है कि यह दस्तावेज़ सुशीतल राय चौधुरी ने जनवरी 1971 की राज्य कमेटी की उपरोक्त बैठक के बाद तैयार किया हो।

इस निबन्ध में सुशीतल राय चौधुरी ने चारु मजुमदार की राजनीतिक लाइन की अधिक सांगोपांग और मुखर आलोचना करते हुए उसे 'अति दुस्साहसवादी' क़रार दिया था। उन्होंने लिखा था कि पहले पार्टी की सोच थी कि भारतीय क्रान्ति का रास्ता श्रमसाध्य और दीर्घकालिक होगा। फिर चारु मजुमदार ने लाइन को बदल दिया और यह ज्योतिषीनुमा भविष्यवाणी कर दी गयी कि 1975 तक क्रान्ति विजयी हो जायेगी। इससे काम के तौर-तरीक़े बदल गये और 'द्रुतवाद' चतुर्दिक हावी हो गया। 'सफाये' या 'ख़ात्मे' (एनिहिलेशन) शब्द की चारु मजुमदार की व्याख्या को माओ विचारधारा विरोधी बताते हुए निबन्ध में लिखा गया था कि माओ के लिए इस शब्द का मतलब था शत्रु वर्ग को उसकी 'प्रतिरोध करने की शक्ति' से वंचित कर देना जबकि चारु मजुमदार के लिए इसका अर्थ शत्रु वर्ग के व्यक्तियों की हत्या करना था और इस कार्रवाई को गुप्त तौर पर गुप्त दस्ते अंजाम देते थे। सुशीतल राय चौधुरी के अनुसार, शहरी कार्रवाइयों के दौरान बाद के दौर में 'ऐक्शंस' को अत्यधिक महत्व दिया गया और राजनीतिक प्रोपेगैण्डा के महत्व को नकार दिया गया जो संशोधनवादी सोच की अभिव्यक्ति था। निबन्ध में यह आलोचना रखी गयी थी कि चारु मजुमदार की लाइन के हावी होने के बाद क्रान्ति के दौरान वर्ग संघर्ष के ज़रिये जनता को जागृत और लामबन्द करने के कार्यभार की उपेक्षा की गयी, पूर्व अवस्थिति को छोड़ते हुए आर्थिक संघर्षों को तिलांजलि दे दी गयी और मित्र वर्गों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की प्रक्रिया को हाथ में ही नहीं लिया गया, बल्कि इसके विपरीत, शहरी इलाक़ों में 'सफाया अभियान' के दौरान छोटे दुकानदारों और ऐसे ही लोगों को निशाना बनाया गया जो क्रान्ति में मज़दूर वर्ग के सम्भावित संश्रयकारी थे।

सुशीतल राय चौधुरी का कहना था कि पार्टी के सर्वहारा आधार का निर्माण, सभी न्यायसंगत और लाभकारी जन संघर्षों का निर्माण और उन संघर्षों को धैर्य एवं सूझबूझ के साथ चलाते हुए अपनी ताक़त बचाये रखना तथा इन्तज़ार करना - माओ के अनुसार शहरी क्षेत्रों में पार्टी का यही कार्यभार था, जिसे चारु और पार्टी नेतृत्व ने हाथ में ही नहीं लिया। चारु की नौकरशाहाना कार्यशैली की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था कि प्राधिकारवाद अपनी उन ऊँचाइयों तक जा पहुँचा था कि पार्टी कमेटियाँ काम ही नहीं करती थीं और सारी शक्तियाँ चारु ने अपने हाथों में केन्द्रित कर ली थीं। यहाँ तक कि मागुरजान की घटना के बाद बिना किसी से राय-मशविरा किये ही उन्होंने जन मुक्ति सेना की घोषणा कर दी। चारु की घोषणा के विपरीत सुशीतल राय चौधुरी ने अपना यह विचार भी निबन्ध में रखा था कि कोई भी युग अपने आप में 'आत्म-बलिदान का युग' नहीं होता। जैसा कि माओ ने कहा था कि युद्ध का लक्ष्य हमेशा स्वयं को बचाना और शत्रु को नष्ट करना होता है, पर ज़ाहिर है कि युद्ध में क़ुर्बानी भी देनी पड़ती है।

सुशीतल राय चौधुरी के अन्तिम लेखन में "वाम" दुस्साहसवादी लाइन की सांगोपांग और

कुशाग्र आलोचना प्रस्तुत की गयी थी लेकिन अफ़सोसनाक बात यह थी कि निधनोपरान्त प्रकाशन के बावजूद पार्टी के भीतर की नौकरशाहाना कार्यशैली के वर्चस्व और अपारदर्शिता के कारण यह दस्तावेज़ उस समय पूरा देश तो दूर, पश्चिम बंगाल की पार्टी क़तारों तक भी नहीं पहुँच पाया। वर्षों बाद धीरे-धीरे लोग किसी हद तक सुशीतल राय चौधुरी के विचारों के विकास और उनके वैचारिक संघर्ष से परिचित हो पाये।

जनदिशा की अवस्थिति से चारु की लाइन की आलोचना रखने वालों में सुशीतल राय चौधुरी अन्तिम नहीं थे। इसके बाद, एक के बाद एक, चारु के बचे हुए विश्वसनीय साथी भी उनका साथ छोड़ते गये और "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के कटु आलोचक बनते चले गये। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

(अगले अंक में जारी...)

माकपा के भीतर फ़ासीवाद पर बहस

चुनावी जोड़-जुगाड़ के लिए सामाजिक जनवाद की बेशर्म क़वायद

● आनन्द सिंह

हाल ही में संसदीय वामपन्थ की सिरमौर मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) के भीतर प्रकाश करात धड़े और सीताराम येचुरी धड़े के बीच फ़ासीवाद पर चल रही बहस सुर्ख़ियों में रही। ग़ौरतलब है कि फ़ासीवाद जैसे गम्भीर मुद्दे पर सामाजिक जनवाद की दो धाराओं के बीच की इस बहस का केन्द्र बिन्दु यह है कि चुनावों में कांग्रेस के साथ गठबन्धन बनाया जाये या नहीं। संसद के सुअरबाड़े में लोट लगाने के लिए अपने रहे-सहे कोने के भी छिनने की सम्भावना से तिलमिलाये सामाजिक जनवादी आने वाले चुनावों में अपनी लुटिया डूबने से बचाने के लिए जोड़-जुगाड़ के मौक़े तलाशने की क़वायद में लगे हैं। बेशर्मी भरी इस क़वायद पर गम्भीरता का आवरण डालने के लिए वे इसे फ़ासीवाद पर बहस का नाम दे रहे हैं। मज़दूर वर्ग के इन विश्वासघातियों से इससे ज़्यादा उम्मीद नहीं की जा सकती, लेकिन चूँकि इस क़वायद की आड़ में ये सामाजिक जनवादी फ़ासीवाद को लेकर भ्रम का धुँआ छोड़ रहे हैं इसलिए इस पर स्पष्टता बेहद ज़रूरी है।

प्रकाश करात का वैचारिक दिवालियापन: फ़ासीवाद नहीं निरंकुशता

गुज़रे 6 सितम्बर को अंग्रेज़ी दैनिक 'इण्डियन एक्सप्रेस' में लिखे अपने एक लेख में माकपा के पोलित ब्यूरो सदस्य और पूर्व महासचिव प्रकाश करात ने दलील दी कि नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा के सत्ता में आने के बाद भी भारत में फ़ासीवाद की कोई सम्भावना नहीं है, हालाँकि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आर.एस.एस.) से सम्बन्ध रखने की वजह से वह समय आने पर निरंकुश राज्यसत्ता थोप सकती है। संघ परिवार को क्लीन चिट देते हुए करात लिखते हैं कि भाजपा फ़ासीवादी पार्टी नहीं है बल्कि वह बहुसंख्यकवादी साम्प्रदायिकता से लैस एक दक्षिणपन्थी पार्टी है। करात के अनुसार आर.एस.एस. की विचारधारा भी फ़ासीवादी नहीं बल्कि अर्द्ध-फ़ासीवादी है, हालाँकि वे इसका कोई कारण बताने की जहमत नहीं उठाते कि इस विचारधारा को फ़ासीवादी क्यों न कहा जाये। ज़ाहिरा तौर पर फ़ासीवाद के सन्दर्भ में करात के ज्ञानचक्षु हाल ही में खुले हैं, क्योंकि इस लेख से पहले तक माकपा के तमाम प्रकाशनों में संघ व भाजपा को फ़ासीवादी ही कहा जाता रहा है।

करात के इस लेख को पढ़ने से सामाजिक उथल-पुथल से दूर अपने आरामगाह में बैठे एक कुर्सीतोड़ नौकरशाह बुद्धिजीवी की निश्चिन्तता साफ़ उभरकर आती है। नरेन्द्र मोदी के कार्यकाल के ढाई वर्षों में जिस तरह से संघ परिवार ने पूरे देश में भय और आतंक का माहौल लगातार बनाया हुआ है, जिस तरीक़े से मज़दूरों के अधिकार छीने जा रहे हैं और जनता के जनवादी अधिकारों पर धड़ल्ले से हमले हो रहे हैं, जिस क़दर अन्ध-राष्ट्रवादी जुनून सुनियोजित ढंग से पूरे देश में फैलाया जा रहा है, जिस तरह से संघी गुण्डावाहिनियाँ अल्पसंख्यकों, दलितों, प्रगतिशील व धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों, पत्रकारों और भाजपा व मोदी के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि रखने वालों पर हमले कर रही हैं, जिस तरह से नरेन्द्र मोदी की व्यक्तिपूजा की संस्कृति फल-फूल रही है उसे देखने के बाद भी अगर कोई व्यक्ति फ़ासीवाद की आहट तक नहीं सुन पा रहा है तो उसे निठल्ला नौकरशाह बुद्धिजीवी नहीं तो और क्या कहा जाये!

अपने निश्चिन्त नतीजे के पक्ष में दलील देते हुए करात 1935 में हुई कोमिण्टर्न की सातवीं कांग्रेस द्वारा दिये गये सूत्रीकरण को उद्धृत करते हैं जिसमें कहा गया था कि "फ़ासीवाद वित्तीय पूँजी के सबसे प्रतिक्रियावादी, सबसे अन्धराष्ट्रवादी, सबसे साम्राज्यवादी तत्वों की खुली आतंकी तानाशाही होती है"। करात के अनुसार भारत में ऐसी आर्थिक, राजनीतिक व वर्गीय परिस्थितियाँ नहीं हैं और इस समय ऐसा कोई संकट नहीं है जिससे पूँजीवादी व्यवस्था ढहने वाली हो एवं भारत का शासक वर्गों के वर्गीय शासन के ख़त्म होने का कोई ख़तरा नहीं है। उनके अनुसार शासक वर्ग का कोई भी हिस्सा बुर्जुआ संसदीय व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए कार्यरत नहीं है। करात की माने तो शासक वर्ग अपने वर्गीय हितों के लिए फ़ासीवाद नहीं बल्कि केवल निरंकुशता के रूपों को ही आज़माना चाह रहे हैं।

करात के लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कोमिण्टर्न के सूत्रीकरण के अतिरिक्त द्वितीय

विश्वयुद्ध के पहले और बाद के तमाम मार्क्सवादी क्रान्तिकारियों और मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों ने फ़ासीवाद की सैद्धान्तिकी विकसित करने का जो उत्कृष्ट काम किया है, उसको पढ़ने की जहमत नहीं उठायी है और फ़ासीवाद की पूरी परिघटना को महज़ एक उद्धरण में समेट दिया है। यानी उन्होंने एक कुर्सीतोड़ बुद्धिजीवी जितनी मेहनत भी नहीं की है, बस परीक्षा में नम्बर पाने वाले रट्टू छात्र की तरह एक उद्धरण रटकर फ़ासीवाद पर बहस करने उतर गये हैं।

अगर करात ने कोमिण्टर्न के सूत्रीकरण के उस सुप्रसिद्ध उद्धरण (जो दिमित्रोव थीसिस के नाम से भी जाना जाता है) के अलावा भी फ़ासीवाद की सैद्धान्तिकी पर तमाम मार्क्सवादियों ने जो काम किया है उसे पढ़ने की जहमत उठाई होती तो वे ऐसी बचकानी उद्धरणबाज़ी की बजाय फ़ासीवाद की परिघटना की बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं को समझने की कोशिश करते और वे पाते कि सत्ता में पहुँचने से पहले फ़ासीवाद एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन के रूप में समाज में मौजूद रहता है, जिसका एक व्यापक सामाजिक आधार होता है जो मुख्य रूप से टटपुँजिया वर्ग और मज़दूर वर्ग के एक हिस्से से निर्मित होता है। फ़ासीवाद मुख्यत: टटपुँजिया वर्ग का एक रूमानी और रहस्यमयी उभार होता है जिसका नेतृत्व फ़ासीवाद की आधुनिक विचारधारा से लैस एक काडर आधारित फ़ासिस्ट पार्टी करती है। फ़ासीवाद बड़ी पूँजी के ही हितों को साधता है क्योंकि मुनाफ़े की गिरती दर से आने वाले पूँजीवाद के संकट की परिस्थिति में जब इज़ारेदार पूँजीपति वर्ग बुर्जुआ लोकतन्त्र के पुराने तरीक़े से सत्ता नहीं चला पाता तो वह फ़ासिस्ट विकल्प को चुनता है और इस प्रकार फ़ासीवादी आन्दोलन सत्ता तक पहुँच जाता है।

करात फ़ासीवाद की बुनियादी अभिलाक्षणिकताओं को समझकर दिक् और काल में आये बदलावों के अनुसार उसमें आये बदलावों को समझने की बजाय दो विश्वयुद्धों के बीच जर्मनी और इटली की परिस्थिति का आज के भारत की परिस्थिति से सादृश्य निरूपण करते हैं और चूँकि ये परिस्थितियाँ हूबहू मेल नहीं खातीं, इसलिए उनका शान्त चित निश्चिन्त हो जाता है कि चलो भारत में फ़ासीवाद का कोई ख़तरा नहीं है। अगर वे दिमित्रोव थीसिस को भी पूरा पढ़ने की जहमत उठाते तो पाते कि उसमें भी यह लिखा था कि फ़ासीवाद अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग रूप धारण कर सकता है।

21वीं सदी के भारत की तुलना दो विश्वयुद्धों के बीच जर्मनी और इटली की परिस्थितियों से करने पर हम कुछ समानताओं के अतिरिक्त तमाम असमानताएँ भी पाते हैं। इन दोनों कालखण्डों में एक समानता यह है कि ये दोनों इज़ारेदार पूँजीवाद के संकट के दौर हैं, हालाँकि आज के दौर के पूँजीवादी संकट पहले के मुक़ाबले ढाँचागत है और इसमें आकस्मिकता के पहलू की बजाय सततता का पहलू हावी है। विश्व पूँजीवाद 1970 के दशक से ही इस ढाँचागत मन्दी का शिकार है जिसके बाद से उसने कोई तेज़ी का दौर नहीं देखा है, इस दौर में मन्दी की तीव्रता कभी बढ़ जाती है तो कभी कम। 2007 में अमेरिका में आवासीय बुलबुला फूटने से विश्वव्यापी मन्दी का जो मौजूदा चरण शुरू हुआ है उसकी तुलना 1930 के दशक की मन्दी से की जा रही है, हालाँकि पूँजीवाद को आज के दौर की मन्दी से निजात पाने के कोई आसार नहीं नज़र आ रहे हैं। ऐसे में दुनिया के

विभिन्न हिस्सों में धुर-दक्षिणपन्थी उभार की विभिन्न क़िस्में देखने में आ रही हैं।

भारत में धुर-दक्षिणपन्थी का जो उभार देखने में आया है वह फ़ासीवादी इसलिए है क्योंकि इसके पीछे टटपुँजिया वर्ग का एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन है जिसका नेतृत्व संघ के रूप में फ़ासीवादी विचारधारा वाला एक काडर आधारित संगठन कर रहा है। यह सच है कि 2014 में जब नरेन्द्र मोदी के रूप में भाजपा सत्ता में आयी उस समय भारत के पूँजीपति वर्ग के समक्ष अपने वर्गीय शासन के अस्तित्व का संकट नहीं था, लेकिन यह भी सच है कि मुनाफ़े की गिरती दर और आम जनता का कांग्रेस के भ्रष्टाचार से तंग आकर मोहभंग होने की स्थिति में भारत के पूँजीपति वर्ग के पास भाजपा का विकल्प ही सबसे कारगर विकल्प था जो सबसे अधिक मुस्तैदी से उसके हितों में नीतियाँ बनाकर उसके मुनाफ़े की दर को बढ़ा सकती थी और मज़दूर वर्ग के अधिकारों को सबसे बर्बर तरीक़े से छीन सकती थी। ऐसे में केवल इस आधार पर इस शासन को फ़ासीवादी न कहना जड़मति की निशानी ही कही जायेगी कि भारत के पूँजीपति वर्ग ने समय से पहले ही इस विकल्प को चुन लिया। करात जैसे लोग फ़ासीवाद की प्रक्रिया को समझने की बजाय महज़ उसके अन्त-उत्पाद को ही फ़ासीवाद मान बैठते हैं। ऐसे लोग फ़ासीवाद के अस्तित्व को तब तक स्वीकार नहीं करेंगे जब तक कि बुर्जुआ लोकतन्त्र का ढाँचा पूरी तरह विसर्जित न कर दिया जाये और जब लोग गैस चैम्बरों में न भेजे जाने लगें। ग़ौरतलब है कि फ़ासीवाद ने भी अपने अतीत से सबक़ लिया है और आज उसे अपनी घृणित करतूतों को अंजाम देने के लिए बुर्जुआ लोकतन्त्र का औपचारिक ढाँचा गिराने की ज़रूरत ही नहीं है। ऊपर से इस औपचारिक ढाँचे को क़ायम रखते हुए लोगों के अधिकारों को छीनकर और राज्यसत्ता को ज़्यादा से ज़्यादा ताक़त देकर इसे भीतर से खोखला करके वो सब कुछ किया जा सकता है जो एक नंगी तानाशाही में किया जा सकता है। नौकरशाही, न्यायपालिका और फ़ौज में फ़ासीवादियों की घुसपैठ से ये काम करना और भी आसान हो गया है। ऐसे में बुर्जुआ लोकतन्त्र का औपचारिक ढाँचा दरअसल फ़ासिस्टों की करतूतों के आवरण का काम करता है। इसी आवरण को देखकर प्रकाश करात और उनका धड़ा आश्वस्त है कि भारत में फ़ासीवाद न तो आया है और न ही इसके आने की कोई सम्भावना है। ज़्यादा से ज़्यादा करात इस ख़तरे को निरंकुशता का नाम देते हैं। लेकिन वे यह नहीं बताते कि अगर यह निरंकुशता है तो नवउदारवादी युग में ग़ैर-भाजपा दलों के नेतृत्व में बनी सरकारें क्या थीं? इसका कारण समझना मुश्किल नहीं है। आख़िर माकपा ने भी इस दौर में कांग्रेस-नीत संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन को समर्थन दिया था तो वो निरंकुश कैसे हो सकती है। करात को अच्छी तरह पता होगा कि अगर नवउदारवादी दौर में अन्य सरकारों की निरंकुश कहने का जोख़िम उठायेंगे तो उन्हें नन्दीग्राम और सिंगूर को अंजाम देने वाली पश्चिम बंगाल की माकपा सरकार को भी निरंकुश कहना होगा।

फ़ासीवाद पर येचुरी की लाइन : कांग्रेस से चुनावी गठबन्धन की तैयारी

प्रकाश करात के लेख के बाद माकपा महासचिव सीताराम ने उनकी लाइन से मतभेद ज़ाहिर

करते हुए कहा कि भाजपा भले ही क्लासिकीय अर्थों में फ़ासिस्ट न हो लेकिन वह आर.एस.एस. की राजनीतिक धड़ा है जो फ़ासिस्ट एजेण्डे पर काम कर रही है। येचुरी ने यह भी कहा कि भले ही आज भारत की परिस्थितियाँ हिटलर के जर्मनी जैसी नहीं हैं, लेकिन भविष्य में ऐसी परिस्थितियाँ बन भी सकती हैं। उन्होंने पार्टी की हालिया कांग्रेस में पारित पार्टी कार्यक्रम को उद्धृत करते हुए कहा कि उसमें स्पष्ट रूप से आर.एस.एस-भाजपा को साम्प्रदायिक फ़ासीवादी कहा गया है। येचुरी ने यह भी कहा केन्द्रीय कमेटी ने लोकतान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष ताक़तों के साथ साम्प्रदायिकता-विरोधी मंच बनाने का फ़ैसला लिया था। ज़ाहिर है येचुरी का इशारा इस ओर था कि करात ने पार्टी लाइन के ख़िलाफ़ लिखा है।

किसी को यह भ्रम हो सकता है कि इस मुद्दे पर येचुरी जैसे व्यवहारवादी ने सैद्धान्तिक रूप से सापेक्षत: सही अवस्थिति अपनायी है। लेकिन सच तो यह है कि येचुरी की इस अवस्थिति के पीछे भी उनका व्यवहारवाद ही काम कर रहा है। पार्टी कार्यक्रम का हवाला देते हुए भाजपा-विरोधी जिस लोकतान्त्रिक और धर्मनिरपेक्ष ताक़तों के मंच की बात येचुरी कर रहे थे उसको सरल राजनीतिक शब्दावली में समझा जाये तो उनका मतलब कांग्रेस के साथ गठबन्धन बनाने से था। दरअसल जिसे फ़ासीवाद पर बहस का नाम दिया जा रहा है उसके मूल में कोई सैद्धान्तिक सवाल नहीं बल्कि यह सामाजिक जनवाद के दो धड़ों के बीच इस सवाल पर चल रही धींगामुश्ती है कि चुनावों में माकपा को कांग्रेस से गठबन्धन बनाना चाहिए या नहीं। येचुरी धड़े का मानना है कि कांग्रेस के साथ गठबन्धन बनाना चाहिए जबकि करात का धड़ा ऐसे गठबन्धन के ख़िलाफ़ है। माकपा की पश्चिम बंगाल इकाई येचुरी की लाइन के समर्थन में है, जबकि केरल इकाई करात की लाइन के समर्थन में है क्योंकि केरल में कांग्रेस मुख्य विरोधी पार्टी है। इस चुनावी तिकड़म में येचुरी के पलड़े में उस समय एक बड़ा बटखरा पड़ा जब करात के लेख के कुछ दिन बाद ही प्रख्यात मार्क्सवादी इतिहासकार इरफ़ान हबीब ने माकपा के नेतृत्व को पत्र लिखकर भाजपा के ख़िलाफ़ कांग्रेस के साथ गठबन्धन बनाने की पुरज़ोर वकालत की। इरफ़ान हबीब जब तक मध्यकाल के इतिहास पर लिखते हैं तब तक तो वे मार्क्सवादी उपकरणों का शानदार इस्तेमाल करते हैं, लेकिन जैसे-जैसे आधुनिक काल से होते हुए समकालीन इतिहास पर आते हैं तो मार्क्सवादी उपकरणों के इस्तेमाल की उनकी क्षमता आश्चर्यजनक रूप से गुम हो जाती है और वे भोथरी अकादमिक मार्क्सवादी रचनाओं से सामाजिक जनवाद की सेवा करते प्रतीत होते हैं।

येचुरी धड़े के समर्थन में दलील देने वाले अक्सर 1935 में कोमिण्टर्न की सातवीं कांग्रेस में पारित 'पॉपुलर फ्रण्ट' की लाइन का हवाला देते हैं जिसमें उदार पूँजीवाद और फ़ासिस्ट तानाशाही के बीच फ़र्क किया गया था और फ़ासीवाद से लड़ने के लिए मज़दूर वर्ग की ताक़तों को उदार बुर्जुआ ताक़तों के साथ मिलकर मोर्चा बनाना चाहिए। लेकिन ऐसी दलील देने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि पॉपुलर फ्रण्ट की लाइन कोई ऐसी सार्वभौमिक लाइन नहीं है जो फ़ासीवाद से लड़ाई के हर मुक़ाम और हर समय लागू करनी ही करनी है। कोमिण्टर्न की ख़ुद की लाइन भी हमेशा 'पॉपुलर फ़्रण्ट' की नहीं थी। 1921-28 तक कोमिण्टर्न की लाइन 'यूनाइटेड फ़्रण्ट' की थी

जिसमें केवल मज़दूर वर्ग की शक्तियों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की बात की गयी थी। 1924 में कोमिण्टर्न की पाँचवीं कांग्रेस में फ़ासीवाद के उभार में सामाजिक जनवादियों की भूमिका भी चिह्नित की गयी थी और उन्हें सामाजिक फ़ासीवादी कहते हुए बेनक़ाब करने की भी बात की गयी थी।

'पॉपुलर फ्रण्ट' की लाइन एक विशेष परिस्थिति में अनुमोदित की गयी थी जब यूरोप के तमाम देशों में मज़दूर आन्दोलन निर्णायक तौर पर परास्त हो चुका था और जर्मनी व इटली में फ़ासीवादी तानाशाही मज़बूती से जड़ें चुकी थी और मानवता के ऊपर भीषण नरसंहार व विनाश का ख़तरा आसन्न था। वैसे अभी यह भी पक्के दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि 'पॉपुलर फ्रण्ट' बना वहाँ उदार बुर्जुआ ताक़तों ने फ़ासीवाद-विरोधी गतिविधियों में बढ़चढ़ भागीदारी की थी जिससे फ़ासीवाद को हराने में विचारणीय मदद मिली हो।

ग़ौर करने की बात यह भी है कि पॉपुलर फ्रण्ट की लाइन भी चुनावी मोर्चे के सम्बन्ध में नहीं बल्कि फ़ासीवाद-विरोधी कार्रवाइयों के सम्बन्ध में थी। वैसे भी इज़ारेदार पूँजीवाद आज जिस अवस्था में पहुँच चुका है उसमें उदार पूँजीपति वर्ग की थोड़ी भी प्रगतिशीलता पर बहुत बड़ा प्रश्नचिह्न है। भारत की बात करें तो नवउदारवादी नीतियों को लागू करने की शुरुआत कांग्रेस की सरकार ने की थी। इन नीतियों ने फ़ासीवाद के लिए उपजाऊ ज़मीन मुहैया की जिसकी बदौलत ही आज फ़ासिस्ट सत्ता में पहुँचे हैं। ग़ौरतलब है कि नवउदारवादी नीतियों पर सभी चुनावी पार्टियों में आम-सहमति है। संसदीय वामपन्थी भी थोड़ी ना-नुकुर करने के बाद इन्हीं नीतियों को लागू करने पर अपनी सहमति जताते हैं और केरल व पश्चिम बंगाल में शासन करने के दौरान वे इन्हीं नीतियों को लागू करते हैं। ऐसे में आज की परिस्थितियों में 'पॉपुलर फ्रण्ट' की लाइन के कारगर होने की सम्भावना नगण्य है। सामाजिक जनवाद से यह उम्मीद करना बेमानी होगा कि वे परिस्थितियों का द्वन्द्वात्मक विश्लेषण करके अपनी कार्यदिशा तय करेंगे, लेकिन क्रान्तिकारी ताक़तों को इस विषय में अपनी दृष्टि स्पष्ट रखनी चाहिए।

मोदी सरकार द्वारा नोटबन्दी का राजनीतिक अर्थशास्त्र

● शिशिर

8 नवम्बर की आधी रात से मोदी सरकार ने अपने अचानक लिये फ़ैसले में 500 रुपये और 1000 रुपये के नोटों का प्रचलन बन्द करने का ऐलान किया। यह ऐलान नोटों के प्रचलन के बन्द होने के मात्र 4 घण्टे पहले किया गया। इसके बाद से पूरे देश में जो अफ़रा-तफ़री मची वह अभी तक जारी है। इस तानाशाहाना फ़रमान के बाद से मोदी सरकार ने नोटबन्दी के ही विषय में कई सर्कुलर जारी किये हैं, जिन्होंने इस अफ़रा-तफ़री को बढ़ावा ही दिया है। मसलन, पुराने नोटों को बदलने की सीमा को घटाते जाने और साप्ताहिक नक़द निकासी पर सीमा निर्धारित करना आदि। अपने इस फ़रमान को सही ठहराने के लिए मोदी सरकार ने जो तर्क पेश किये वे इस प्रकार थे : इस प्रकार अचानक नोटबन्दी से काले धन की अर्थव्यवस्था पर एक 'सर्जिकल स्ट्राइक' की गयी है; नक़ली नोटों का लेन-देन इस नोटबन्दी की वजह से बन्द हो जायेगा; चूँकि नक़ली नोटों का प्रयोग आतंकवाद समेत तमाम किस्म की आपराधिक गतिविधियों में होता है, इसलिए इन गतिविधियों को चलाने वाले संगठनों/व्यक्तियों के वित्त की भी कमर टूट जायेगी; जो काला धन लौटकर सरकार के पास आयेगा उससे सरकार अवसंरचना का विकास करेगी जिससे कि निवेश बढ़ेगा और रोज़गार पैदा होंगे। ये सरकार के दावे थे। अभी हम उन अफ़वाहों की बात नहीं कर रहे हैं जो कि फ़ासीवादी मोदी

सरकार के तलवे चाटने वाले कॉरपोरेट मीडिया ने नोटबन्दी के बाद फैलायी। मसलन, एक अग्रणी समाचार चैनल 'आज तक' ने इस विषय पर एक घण्टे का कार्यक्रम पेश किया कि नये नोटों में कोई चिप लगा हुआ है, जिससे सभी नोटों को इलेक्ट्रॉनिक रूप से ट्रैक किया जा सकेगा। वैसे तो ऐसी अफ़वाहों और झूठी ख़बरों के लिए इन चैनलों पर मुक़दमा किया जाना चाहिए क्योंकि जनता को गुमराह करके ये मीडिया की बुनियादी नैतिकता और निष्पक्षता के उसूलों का उल्लंघन कर रहे हैं। लेकिन यहाँ हम केवल सरकार के दावों और हक़ीक़त पर अपनी बात केन्द्रित करेंगे और इस प्रक्रिया में दिखलाने का प्रयास करेंगे कि नोटबन्दी के राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्या मायने हैं। नोटबन्दी भारतीय इतिहास में पहली बार नहीं की गयी है। इससे पहले 1946 में सरकार ने 1000 और 10000 के नोटों का प्रचलन बन्द किया था। और उसके बाद मोरारजी देसाई की सरकार ने जनवरी 1978 में 1000, 5000 और 10000 के नोटों पर पाबन्दी लगायी थी। लेकिन उस समय और आज की नोटबन्दी में एक फ़र्क़ है। पहले जो नोटबन्दी हुई थी, उसमें वे नोट बन्द हुए थे जिन्हें आमतौर पर 80 फ़ीसदी जनता कभी देखती भी नहीं है, या कम-से-कम छू तो कभी नहीं पाती। 1946 में 1000 रुपये एक बहुत बड़ी रक़म थी जिसे देश के 90 फ़ीसदी से ज़्यादा लोग कभी देखते भी नहीं थे। 1978 में 1000 रुपये से आप जो कुछ ख़रीद सकते थे, उसे ख़रीदने के लिए आपको आज 25000 रुपयों की आवश्यकता होगी। ज़ाहिर है, आज अगर 25,000 रुपये का कोई नोट होता तो वह धन्नासेठों की तिजोरियों में ही पाया जाता क्योंकि देश की 77 फ़ीसदी आबादी की पारिवारिक मासिक आय 5000 रुपये से कम बैठती है। ऐसे में, 1978 में हुई नोटबन्दी या 1946 में हुई नोटबन्दी से आम मेहनतकश अवाम और मध्यवर्ग के निम्नवर्ती संस्तरों पर कोई विशेष असर नहीं पड़ा था। 1978 में रिज़र्व बैंक के गवर्नर आई. जी. पटेल ने तभी कहा था कि "इस प्रकार की कवायद से बिरले ही कोई नतीजा निकलता है...क्योंकि जिनके पास काला धन होता है वे इसे नक़द में नहीं रखते। यह सोचना नादानी है कि जिनके पास काला धन होता है वे उसे नोटों के रूप में सूटकेसों या गिलाफ़ों में ठूँसकर रखते हैं।" आगे हम काले धन की इस अवधारणा की चीर-फाड़ करेंगे जिसे कि पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकारों ने समाज में हावी बना रखा है।

लेकिन 2016 में 500 रुपये और 1000 रुपये के नोटों को बन्द करने से इन वर्गों के जीवन पर गहरा नकारात्मक असर पड़ा है। परिचलन में मौजूद कुल मूल्य का 86 प्रतिशत और नोटों की संख्या के अनुसार क़रीब 25 प्रतिशत नोट 500 और 1000 के थे। मज़दूर वर्ग और मध्य वर्ग की बहुसंख्यक आबादी की वेतन, मज़दूरी या आमदनी और साथ ही उनकी थोड़ी-बहुत बचत मुख्य रूप से इन्हीं नोटों के रूप में थी। सरकार ने यह नोटबन्दी करने से पहले कोई आर्थिक चिन्तन या विश्लेषण नहीं किया है, इसका प्रमाण यह है कि सरकार अभी तक परिचलन से हटाये गये नोटों का आधा हिस्सा भी अर्थव्यवस्था में वापस नहीं डाल पायी है, जिससे कि नक़दी के अभाव की समस्या विकराल रूप में बनी हुई है। वास्तव में, ऐसा सम्भव ही नहीं था क्योंकि मोदी सरकार ने 8 नवम्बर को 22 अरब नोटों को यानी कुल नोटों के 25 प्रतिशत को परिचलन से हटाया था। यदि सरकार के सभी नोट छापने वाले प्रेस अन्य सभी नोटों को छापना बन्द करके केवल नये 2000

और 500 के नोटों को छापें तो 86 प्रतिशत मूल्य परिचलन की कमी और 25 प्रतिशत नोटों की कमी को पूरा करने में एक वर्ष का समय लगेगा। मोदी सरकार का दावा था कि वह इस फ़ैसले पर लम्बे समय से विचार कर रही थी लेकिन उसने इसे गोपनीय रखा था ताकि जिन लोगों के पास "काला धन" है वे उसे ठिकाने न लगा पायें। यह तर्क मज़ाक़िया है क्योंकि मोदी सरकार यदि वाक़ई ऐसे लोगों को पकड़ना चाहती थी तो उसे नोटबन्दी का ऐलान करने के बाद कुछेक महीनों की मोहलत देनी चाहिए थी और उसके बाद अपने कर विभाग व आर्थिक चौकसी के लिए ज़िम्मेदार विभागों को निर्देश देना चाहिए था कि वह प्रॉपर्टी, सोने, जवाहरात आदि की ख़रीद पर निगाह रखे। ज़ाहिर है, ऐसे सभी काले धन के स्वामी आनन-फ़ानन में अपने काले धन को समृद्धि के अन्य रूपों में बदलते और फिर उन्हें एक प्रभावी और सक्षम कर प्रशासन द्वारा पकड़ा जा सकता था। लेकिन मूल बात यह है ही नहीं।

मूल बात यह है कि काले धन की जिस अवधारणा के चलते कुछ लोगों में मोदी सरकार की दलील शुरुआती दौर में असरदार हुई थी कि नोटबन्दी से काले धन पर फ़र्क़ पड़ेगा, वह अवधारणा ही बुरी तरह से ग़लत है। अव्वलन तो काले धन और सफ़ेद धन के बीच का बँटवारा ही ग़लत है। यह शुरू से ही ग़लत था लेकिन वित्तीय सट्टेबाज़ पूँजी के युग में तो यह एकदम मज़ाक़िया है। लेकिन अभी हम केवल काले धन के बारे में और उसके बारे में प्रचलित अवधारणा के बारे में बात करते हैं।

काला धन बोरियों, तकिये के गिलाफ़ों, रज़ाइयों, दीवानों और अलमारियों के छिपाया हुआ या ज़मीन में दबाया हुआ धन नहीं होता है। बहुत से लोगों को यह भी लगता है कि काला धन बैंकों में जमा नहीं होता। यह भी ग़लत है। काला धन हर व्यावहारिक मसले में सफ़ेद धन के समान ही होता है। इसे मरकूरी अवदेविच के समान लोग तकियों में छिपाकर नहीं रखते और न ही समुद्री लुटेरों की तरह किसी द्वीप में ज़मीन के नीचे छिपाकर रखते हैं। यह काला धन किसी भी धन की तरह लोग लगातार निवेश करते हैं। वे उसे अचल सम्पत्ति (रियल एस्टेट), शेयरों, सोने-चाँदी या जवाहरात आदि में लगाते हैं, उससे विदेशी मुद्रा ख़रीदते हैं और हवाला के रास्ते उसे विदेशी बैंकों में जमा करते हैं, तमाम कर चोरी के लिए उपयुक्त देशों में फ़र्ज़ी कम्पनियों में लगाते हैं, और अन्य तमाम प्रकार की आर्थिक गतिविधियों में लगाते हैं। प्रभात पटनायक ने इस मामले में बिल्कुल सही कहा है कि काले धन के स्वामी भी वास्तव में पूँजीपति ही हैं जो अपनी पूँजी को मूल्य संवर्धन के लिए सतत निवेश करते रहते हैं। मार्क्स के शब्दों में वे कंजूस नहीं हैं, बल्कि तार्किक कंजूस हैं। पूँजीपति एक तार्किक कंजूस होता है और कंजूस एक ऐसा पूँजीपति होता है जो कि पागल हो चुका होता है। इसलिए काले धन का अर्थ नोटों के छिपे हुए भण्डार नहीं होते, बल्कि वे तमाम आर्थिक गतिविधियाँ होती हैं, जिनके बारे में सरकारी एजेंसियों और कर प्रशासन के अधिकारियों को रिपोर्ट नहीं की जाती। रिश्वतखोरी वग़ैरह इसका बहुत ही छोटा हिस्सा होती है। मुख्य तौर पर, काले धन के ये लेन-देन बहुत ही सुनियोजित और संगठित रूप से तमाम पूँजीपति, कम्पनियाँ, बड़े दुकानदार आदि करते हैं। इनमें मुख्य तौर पर ये गतिविधियाँ होती हैं : ओवर-इनवॉइसिंग/

अण्डर इनवॉसिंग, बिकवाली के मूल्य को कम करके रिपोर्ट करना, लागत को ज़्यादा करके दिखाना, ग़लत या ऐसे लेन-देन को दिखाना जो कि हुए ही नहीं हैं और हर प्रकार की आपराधिक गतिविधियाँ जैसे स्मगलिंग, ड्रग्स व्यापार आदि। मिसाल के तौर पर, यदि किसी कम्पनी को खनिज या तेल निकालने का ठेका मिला है और वह ज़्यादा खनिज या तेल निकालकर उसके उत्पादन को लेखांकन में कम दिखलाये और इस तरीक़े से अपनी देनदारियों (तमाम प्रकार के कर आदि) को कम करके दिखाये तो यह काला धन पैदा करने वाली आर्थिक गतिविधि की श्रेणी में आयेगा। यह काम तो दुनिया भर में सारे बड़े कॉरपोरेट घराने करते हैं। इनमें से भी बहुत से लेन-देन के लिए वस्तुत: नक़दी की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। इस विषय पर आगे आयेंगे कि यह एक भ्रामक धारणा है कि भ्रष्टाचार और काले धन के लिए नक़दी की ही आवश्यकता पड़ती है। जो भी हो, काला धन वास्तव में नक़दी के भण्डारों के रूप में नहीं होता है। अगर आँकड़ों की बात करें तो देश में काले धन की कुल अर्थव्यवस्था का मात्र 6 प्रतिशत ही नक़द के रूप में है, बाक़ी काला धन विदेशी बैंकों व कर चोरी के अड्डों में रखा गया है (वहाँ भी वह लगातार परिचलन में है), रियल एस्टेट में, सोने-जवाहरात में और शेयरों/बाण्ड्स आदि में रूपान्तरित करके रखा गया है। काले धन को शेयरों या बॉण्ड्स में रूपान्तरित करना तो सबसे आसान है और सरकार ने स्वयं इसके लिए उपयुक्त वित्तीय उपकरण मुहैया करा रखा है : पार्टिसिपेटरी नोट्स। यह एक ऐसा वित्तीय उपकरण है जिसके ज़रिये शेयर/बॉण्ड्स आदि की ख़रीद करने वाला व्यक्ति अपनी पहचान को छिपाकर रख सकता है। यूपीए के दोनों कार्यकालों में इन पार्टिसिपेटरी नोट्स पर प्रतिबन्ध लगाने की माँग उठायी गयी थी और मोदी सरकार के कार्यकाल में भी ऐसी माँगें उठती रही हैं। लेकिन इन दोनों ही सरकारों ने इस पर प्रतिबन्ध न लगाकर काले धन की अर्थव्यवस्था को ख़त्म करने के प्रति अपनी कटिबद्धता को पहले ही जता दिया था।

इसलिए काला धन किसी भी अन्य प्रकार का धन है जिसे ग़ैर-क़ानूनी और अप्रेतिवेदित आर्थिक क्रियाकलाप द्वारा अर्जित किया जाता है और इसे अर्जित करके बोरों और अलमारियों में नहीं रखा जाता है, बल्कि इससे सतत निवेशित किया जाता है ताकि इस पूँजी का मूल्य-संवर्धन किया जा सके। यदि मार्क्स के शब्दों में कोई पूँजीपति, यानी तार्किक कंजूस, पागल होकर ठेठ कंजूस में तब्दील हो जाये, तो उसके धन के ढेर का कुछ महीनों या ज़्यादा से ज़्यादा कुछ वर्षों के बाद ही वह मूल्य नहीं रह जायेगा जो कि उसका आरम्भ में था। इसलिए कोई भी काले धन का स्वामी अपने सभी आर्थिक क्रियाकलापों में किसी भी अन्य पूँजीपति के समान होता है और अपने इस धन को लगातार निवेशित करता रहता है। इसलिए काले धन को पकड़ने के लिए नोटबन्दी किसी भी रूप में प्रभावी नहीं होने वाली थी। जिसे काला धन कहा जाता है, यदि सरकार उसे पकड़ना ही चाहती थी तो उसे अपना यह वायदा पूरा करना चाहिए था कि विदेशी बैंकों में जमा काला धन वह वापस लाती। अब सरकार के पास स्विस बैंकों व टैक्स हैवेन्स में काला धन रखने वालों की सूची भी है और वह चाहे तो उन पर कार्रवाई कर सकती है, मगर मोदी सरकार ने इन खाताधारकों के नाम उजागर करने तक से इंकार कर दिया है। साथ ही, मोदी सरकार को काले

धन की अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण करना ही था, तो उसे कर प्रशासन में तमाम ऐसे सुधार करने चाहिए थे जो कि कर चोरी रोकने को सम्भव बना पाता। अगर मोदी सरकार वास्तव में काले धन की अर्थव्यवस्था को लेकर संजीदा होती तो उसे चुनावी पार्टियों के चन्दे व अन्य लेन-देन को सूचना अधिकार के तहत लाना चाहिए था। लेकिन इसकी बजाय मोदी सरकार ने क्या किया? मोदी सरकार ने कॉरपोरेट घरानों के 1.14 लाख करोड़ रुपये की बैंक देनदारी माफ़ कर दी। साथ ही, लाखों-करोड़ों रुपये की कर देनदारी भी माफ़ कर दी। इसके अलावा, सबसे बड़े करचोर और बैंकों का पैसा गबन करने वाले विजय माल्या को बड़ी ही सुगमता से देश से भागने की इजाज़त दे दी गयी। पार्टिसिपेटरी नोट्स को बढ़ावा देकर शेयर बाज़ार में काले धन की अर्थव्यवस्था को और बढ़ावा दिया गया। स्पष्ट है, कि काले धन पर सर्जिकल स्ट्राइक एक और जुमला था। कुछ आँकड़ों पर नज़र डालें तो भी यह बात साफ़ हो जाती है कि नोटबन्दी का असली लक्ष्य काले धन की अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण पाना था ही नहीं। क्योंकि नोटबन्दी से काले धन की समानान्तर अर्थव्यवस्था पर कोई विशेष असर नहीं पड़ने वाला है।

देश में काले धन की अर्थव्यवस्था का आकार क्या है? अलग-अलग स्रोतों के अनुसार इसका आकार सकल घरेलू उत्पाद के 25 प्रतिशत से लेकर 75 प्रतिशत तक है। एक निजी शोध समूह ऐम्बिट कैपिटल रिसर्च के अनुसार यह 25 प्रतिशत है जबकि राष्ट्रीय सार्वजनिक वित्त व नीति संस्थान के अनुसार यह 75 प्रतिशत है। देश के कुल सकल घरेलू उत्पाद का सुचारू रूप से विनिमय हो सके इसके लिए उसमें कितना नक़दी मौजूद है? कुल मौजूद नक़दी सकल घरेलू उत्पाद का 12 प्रतिशत है जो कि सतत विनिमय के लिए पर्याप्त है। इस कुल नक़दी का 86.2 प्रतिशत 500 और 1000 रुपये के नोटों के रूप में था। अब यदि हम मानते हैं कि काले धन की अर्थव्यवस्था सकल घरेलू उत्पाद का 25 से 75 फ़ीसदी है, और सकल घरेलू उत्पाद का 12 प्रतिशत नक़दी के रूप में है, और नक़दी का 86 प्रतिशत 500 रुपये और 1000 रुपये के नोटों के रूप में था, तो स्पष्ट है कि 500 और 1000 रुपये के नोटों को बन्द करने से नक़दी में मौजूद काले धन पर ही असर पड़ सकता है जो कि कुल काले धन का मात्र 2.3 से 5.2 प्रतिशत तक हुआ। दूसरी बात यह कि यह काला धन भी तभी पकड़ा जायेगा, जबकि इसके स्वामी बेहद नादान और मूर्ख हों। नोटबन्दी के बाद के दो महीनों में यह तो स्पष्ट हो गया है कि काले धन की अर्थव्यवस्था के बड़े खिलाड़ी इसमें कहीं भी हत्थे नहीं चढ़ने वाले क्योंकि उनका काला धन नक़दी में है ही नहीं। दूसरी बात यह कि छोटे और मध्यवर्ती आकार के खिलाड़ियों ने भी अपने नक़दी में रखे काले धन को ठिकाने लगाने के तरीक़े तुरन्त ही निकाल लिये। गुजरात के व्यापारियों ने तो अपनी नक़दी को 8 नवम्बर की रात ही बड़े पैमाने पर ज्यूलरी में तब्दील कर लिया था। और बाद में भी अवैध कारख़ानों के मालिकों, दुकानों के मालिकों ने अपने कारिन्दों, मज़दूरों को बैंकों की लाइन में लगवाकर नोट बदले और अपने नौकरों, ड्राइवरों, मालियों आदि के खातों में पैसे डलवाकर बाद में उसे निकलवा लिया। कुछ मामलों में उन्होंने इसके लिए कुछ कमीशन भी दिया लेकिन ज़्यादातर मामलों में तो उन्हें यह ख़र्च भी नहीं उठाना पड़ा क्योंकि ऐसे छोटे उद्यमियों के यहाँ काम

करने वाले ये मज़दूर आमतौर पर बेहद अरक्षित स्थिति में होते हैं, मालिकों पर निर्भर होते हैं और सौदेबाज़ी करने या कोई शर्त रखने की स्थिति में नहीं होते हैं। इसलिए काले धन की अर्थव्यवस्था का जो बेहद मामूली सा हिस्सा नक़दी में है, उस पर भी नोटबन्दी से कोइ असर नहीं पड़ने वाला है। उल्टे इस नोटबन्दी से देश के आम ग़रीब लोगों की ज़िन्दगी तबाह हो गयी है। इसका कारण यह है कि हमारे देश की अर्थव्यवस्था में अनौपचारिक क्षेत्र का काफ़ी महत्व है। देश की कार्यशक्ति का क़रीब 85 फ़ीसदी अनौपचारिक क्षेत्र में नौकरी करता है या किसी न किसी रूप में उसकी आय अनौपचारिक क्षेत्र पर निर्भर करती है। सकल घरेलू उत्पाद का क़रीब 47 प्रतिशत हिस्सा इसी अनौपचारिक क्षेत्र से आता है। इस क्षेत्र में लगभग सभी लेन-देन नक़दी में होते हैं क्योंकि उनका आकार आमतौर पर छोटा ही होता है। इससे आमदनी पाने वाले लोगों का धन कोई काला धन नहीं होता है। उनकी आमदनी आमतौर पर इतनी छोटी होती है कि वह प्रत्यक्ष कर के दायरे में नहीं आती है और अप्रत्यक्ष कर के तमाम रूपों का भुगतान तो वे करते ही हैं। ऐसे में, उनकी छोटी-सी आमदनी और सम्भवत: छोटी-सी बचत कोई काला धन नहीं होती। लेकिन नोटबन्दी के बाद इनमें से ज़्यादातर के पास जो भी जमा धन था वह रद्दी काग़ज़ बन गये। दिहाड़ी मज़दूरों को दिहाड़ी नहीं मिल रही, कारख़ाना मज़दूरों को मज़दूरी नहीं मिल रही या फिर मालिक उन्हें पुराने नोटों में भुगतान करने का प्रयास कर रहा है। और इनमें से अधिकांश के पास कोई बैंक खाता नहीं है। ऐसे में वे कुछ नहीं कर सकते। तमाम औद्योगिक केन्द्रों में कारख़ाने बन्द हो रहे हैं और मज़दूर गाँव लौट रहे हैं। जो मज़दूर लौट नहीं रहे हैं, उन्होंने अपनी ख़रीद में बेहद कमी कर दी है और वे नोट बचाकर रख रहे हैं। इससे मज़दूर इलाक़ों के छोटे व्यापारी और दुकानदार भी तबाह हो रहे हैं क्योंकि ख़रीद न होने के कारण और कुल उपभोग में कमी आने के कारण उनके पास भी नक़दी नहीं आ रही कि वे बड़ी थोक मण्डियों से माल ले सकें। नतीजतन, बड़ी थोक मण्डियों में भी माल पटा पड़ा सड़ रहा है। दिल्ली की सब्ज़ी मण्डी व फल मण्डी इसका उदाहरण है। फ़सल मण्डियों में जो ख़रीफ़ की फ़सल कटकर पहुँची उसे ख़रीदार नहीं मिल रहे हैं क्योंकि भुगतान के लिए नक़दी ही नहीं है।

जो मज़दूर गाँव लौट रहे हैं उन्हें गाँव में भी नोटबन्दी के कहर से कोई राहत नहीं है। किसानों और विशेषकर ग़रीब किसानों की स्थिति सबसे बुरी है। जब नोटबन्दी का फ़ैसला मोदी सरकार ने सुनाया तो उस समय ख़रीफ़ की फ़सल की कटाई का वक़्त आ रहा था और रबी की बुआई की तैयारी होनी थी। लेकिन ये दोनों कार्य ही बाधित हो गये हैं। किसानों की बहुसंख्या की पहुँच बैंकों तक नहीं है। बैंकों को गाँवों-गाँवों में पहुँचाने की लम्बी-चौड़ी बातों के बावजूद मोदी सरकार (और उसके पहले की सरकारों की) नवउदारवादी नीतियों के कारण बैंकों तक ग़रीब किसान आबादी की प्रत्यक्ष पहुँच कम होती गयी है। भारतीय राज्यसत्ता की पुरानी नीति थी कि किसानों को ऋण देने को प्राथमिकता श्रेणी में रखा जायेगा और इसके लिए सभी निजी बैंकों व सरकारी बैंकों के लिए ऋण की एक न्यूनतम सीमा तय की गयी थी जो कि ग्रामीण क्षेत्रों में किसानों को दिया जायेगा। लेकिन सभी निजी बैंक इसका खुले तौर पर उल्लंघन करते हैं और सरकारी बैंकों ने

भी इस विनियमन से बचने के कई रास्ते निकाल लिये हैं। मिसाल के तौर पर, एग्रो आधारित व सम्बन्धित क्षेत्र की कम्पनियों को अपने बीज या उर्वरक के कारख़ानों या अन्य प्रकार के निवेशों के लिए भारी-भरकम ऋण दिये जाते हैं और इसे भी उस प्राथमिकता सेगमेण्ट में दर्ज कर दिया जाता है। निजी से लेकर सरकारी बैंकों तक ने पब्लिक सेक्टर पूँजीवाद के पतन के बाद से बड़ी संख्या में किसानों के साथ लेन-देन करने में असमर्थता ज़ाहिर कर दी है और वे तमाम प्रकार के मध्यस्थों, यानी, सूदखोरों के ज़रिये किसानों तक ऋण की पहुँच बनाने के हामी हो गये हैं। नतीजतन, बैंकों और अन्य प्रकार के खातों की जितनी पहुँच आज से तीस वर्ष पहले सीधे किसानों तक थी, आज वह भी नहीं है और सरकारी से लेकर निजी बैंक तक तमाम प्रकार के निजी व्यक्तियों (सूदखोरों और मध्यस्थों) के ज़रिये अपना काम करते हैं। नतीजतन, एक बड़ी किसान आबादी सीधे-सीधे नक़द प्राप्ति के लिए इन मध्यस्थों पर निर्भर है। यही कारण था कि रबी की बुआई के लिए बीजों व अन्य चीज़ों की ख़रीद तक करने में किसानों को भारी दिक़्क़तों का सामना करना पड़ा है। इस तरह हम देख सकते हैं कि मोदी सरकार के नोटबन्दी के क़दम ने वास्तव में काले धन की अर्थव्यवस्था पर कोई ख़ास असर नहीं डाला, लेकिन आम ग़रीब मेहनतकश अवाम के जीवन को नर्क बना दिया। यहाँ तक कि शहरी मध्यवर्ग का भी एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा इससे बेहद परेशान हुआ है। जब यह बात स्पष्ट तौर पर सामने आ गयी तो फिर मोदी सरकार और उसके तलवे चाटने वाला कॉरपोरेट मीडिया दूसरी बीन बजाने लगा है। अब वह कह रहा है कि नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था का निर्माण किया जा रहा है, जिससे कि लोगों को डिजिटल दुनिया में जीने के सारे फ़ायदे मिलेंगे और साथ ही भविष्य में भ्रष्टाचार होने के कारण ही ख़त्म हो जायेंगे। पहली बात तो यह है कि भ्रष्टाचार और काले धन का नक़दी पर निर्भरता का सिद्धान्त ही मूर्खतापूर्ण है। अब हम मोदी सरकार के इस दावे पर आते हैं कि नोटबन्दी के ज़रिये नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था पैदा हो सकती है। सच है कि आबादी का ऊपर का छोटा-सा अमीर और खाता-पीता मध्यवर्ग और विशेष कर शहरों में, नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था के कुछ लाभ उठा सकता है क्योंकि उसके पास क्रेडिट कार्ड और इण्टरनेट की सुविधा है। मगर आबादी का बड़ा हिस्सा इस नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था का कोई लाभ नहीं उठा सकता है। इसके कारण समझने के लिए हमें समझना होगा कि नक़दी मुद्रा आख़िर क्या होती है। नक़दी मुद्रा और कुछ नहीं बल्कि रिज़र्व बैंक ऑफ़ इण्डिया पर धारक का एक दावा होता है। नक़दी के रूप मे दावा केवल रिज़र्व बैंक के ऊपर होता है क्योंकि भारत में सभी नक़दी दावों के लिए केवल रिज़र्व बैंक ही ज़िम्मेदार होता है। अन्य बैंक केवल नक़दी-रहित दावों या ग़ैर-करेंसी डिपॉजिट को सँभालते हैं, यानी वे दावों को एक पक्ष से दूसरे पक्ष पर स्थानान्तरित करने का काम करते हैं। जहाँ भी ये दावे नक़दी के रूप में वास्तवीकृत होते हैं, वहाँ यह दावा वास्तव में रिज़र्व बैंक के ऊपर स्थानान्तरित हो जाता है। यानी जब हम नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था की बात करते हैं तो इसका अर्थ होता है दावों को रोकने और फिर रिज़र्व बैंक पर स्थानान्तरित करने की बजाय, हम इन दावों को साधारण बैंकों पर स्थानान्तरित करते हैं। मिसाल के तौर पर, अगर कोई चेक के ज़रिये आपके खाते में पैसा डाल रहा है तो वह बैंक के ऊपर अपने

दावे को आपको स्थानान्तरित कर रहा है; दूसरे शब्दों में वह अपनी लेनदारी आपको दे रहा है। आप अपनी लेनदारी किसी अन्य पक्ष को स्थानान्तरित करके तमाम उत्पादों अथवा सेवाओं के लिए भुगतान कर सकते हैं। नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था का अर्थ यह हुआ कि सारे आर्थिक विनिमय (उत्पादों अथवा सेवाओं, अथवा शुल्कों, करों, बिलों आदि के लिए भुगतान) अब साधारण बैंकों पर अपने दावों/लेनदारियों को स्थानान्तरित करके किये जायेंगे। साधारण बैंकों पर आपके दावे या लेनदारी दो प्रकार की हो सकती है। पहला है ऋण अथवा क्रेडिट के रूप में, यानी बैंक आपको पहले से जमा किसी राशि के बिना ही आपको ख़र्च करने के लिए एक राशि ऋण के तौर पर देता है, मसलन क्रेडिट कार्ड के रूप में। दूसरा है जब आप चेक अथवा किसी अन्य माध्यम से अपने खाते में कोई राशि डालते हैं तब उतनी राशि का आपका दावा/लेनदारी बैंक पर बनती है। अब अगर सरकार यह उम्मीद करती है कि देश में सारे आर्थिक क्रिया व्यापार इन दो प्रकार के दावों के एक से दूसरे पक्ष को स्थानान्तरण के ज़रिये हो तो इसके लिए दो शर्तें पूरी होनी चाहिए। आबादी की भारी बहुसंख्या क्रेडिट हेतु विश्वसनीयता की श्रेणी में आनी चाहिए; दूसरे शब्दों में, उसके पास पर्याप्त धन होना चाहिए, उसके खाते में पर्याप्त राशि में नियमित रूप से आना-जाना चाहिए। अगर ऐसा नहीं होता तो आपको ऋण हेतु अच्छा पात्र नहीं माना जायेगा और बैंक के लिए आपको क्रेडिट कार्ड हेतु उपयुक्त नहीं माना जायेगा। यह सच है कि शहरी खाते-पीते मध्य वर्ग के पीछे बैंक आज क्रेडिट कार्ड देने के लिए भाग रहे हैं, ताकि उपभोग बढ़े और पूँजीवादी व्यवस्था का संकट कुछ निपटे और साथ ही वित्तीय संस्थान सूद के ज़रिये अच्छी कमाई कर सकें। संकट से पैदा हुई हताशा में बैंक कई बार अच्छा क्रेडिट इतिहास न रखने वाले शहरी मध्यवर्ग को भी क्रेडिट कार्ड दे देता है। लेकिन यह एक विच्युति के तौर पर होता है। जब भी यह नियम के तौर पर होगा तो अन्ततः उसका नतीजा कुछ वैसा ही होगा जैसा कि अमेरिका में सबप्राइम संकट में हुआ था। इसलिए आमतौर पर क्रेडिट के रूप में लेनदारी के लिए आबादी का मुश्किल से 10 से 12 फ़ीसदी हिस्सा ही योग्य है। ऐसे में, भारत की 90 फ़ीसदी आबादी का पहले किस्म की यानी क्रेडिट के रूप में बैंकों पर कोई लेनदारी/दावा नहीं बनेगा और जब दावा बनेगा ही नहीं तो उसको स्थानान्तरित करके कोई आर्थिक विनिमय कर पाने का सवाल ही नहीं पैदा होता है। दूसरे प्रकार के दावों यानी कि खातों में पहले से जमा राशि के स्थानान्तरण के ज़रिये सारी आबादी अपना आर्थिक क्रिया-व्यापार के लिए यह ज़रूरी है कि सभी के पास बैंक खाते हों। भारत में मुश्किल से एक-तिहाई आबादी के पास बैंक खाते हैं। ऐसे में, यह कल्पना करना कि सारी आबादी इन नक़दी-रहित दावों को साधारण बैंकों के ज़रिये स्थानान्तरित करके अपने तमाम आर्थिक विनिमय करेंगे, एक शेखचिल्ली का सपना है। इस तरीक़े से हम देख सकते हैं कि मोदी सरकार द्वारा नक़दी-रहित अर्थव्यवस्था के लिए मचाया जा रहा हल्ला बेकार है और जनता को मूर्ख बनाने की एक चाल है। फिर सवाल उठता है कि नोटबन्दी का क़दम मोदी सरकार ने क्यों उठाया है और इससे किसे लाभ हुआ है। पहली बात तो यह है कि यह मुख्य तौर पर एक राजनीतिक क़दम है। मोदी ने चुनाव प्रचार के दौरान दावा किया था कि वह स्विस बैंकों में जमा काले धन को वापस लायेगा और सभी

भारतीयों के खाते में 15 लाख रुपये डाले जायेंगे। इसी प्रकार भ्रष्टाचार के अन्य रूपों पर रोकथाम के लिए भी मोदी ने बड़े-बड़े दावे किये थे। जैसा कि हमने पहले बताया कि बुर्जुआ दायरे के भीतर भी अगर कोई सरकार भ्रष्टाचार और काले धन की अर्थव्यवस्था पर लगाम लगाना चाहेगी तो जो कार्य वह सबसे पहले करेगी वह है करचोरी के अड्डों से और स्विस बैंकों में जमा धन को वापस लाना, करचोरी करने वाले कॉरपोरेट डिफॉल्टर्स पर कार्रवाई करना और पार्टिसिपेटरी नोट्स पर रोक लगाना। लेकिन चूँकि मोदी सरकार इन सारे कामों को करने का कोई इरादा नहीं रखती और अपने तमाम अन्य वायदों पर भी वह बुरी तरह नाकाम हुई है, इसलिए उसने एक राजनीतिक स्टण्ट किया है जिससे कि लोगों का ध्यान बढ़ती महँगाई, भाजपाइयों के भ्रष्टाचार, बेरोज़गारी से हट जाये। मोदी की छवि एक ताक़तवर नेता की बन सके जो कि परिणामों की परवाह किये बिना मज़बूत क़दम उठाने का साहस रखता है। यह बात कि यह क़दम किस क़दर जनविरोधी और मूर्खतापूर्ण है, इस पर कॉरपोरेट मीडिया के मोदी-समर्थक शोर में कोई ध्यान नहीं देगा। लेकिन वास्तव में ऐसा हो नहीं रहा है। जनता में इसके ख़िलाफ़ माहौल बना हुआ है और आने वाले समय में मोदी सरकार को इसकी भारी क़ीमत चुकानी पड़ेगी। उत्तर प्रदेश और पंजाब के चुनावों में भाजपा की हार तय थी। यह क़दम इसलिए भी उठाया गया कि इसके ज़रिये एक ओर मोदी और भाजपा की छवि सँवारी जा सके और दूसरी ओर अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों को शिकस्त दी जा सके। अब यह तथ्य सामने आ चुका है कि इस नोटबन्दी में भी एक बड़ा घोटाला हुआ है। भाजपा नेताओं और भाजपा की क्षेत्रीय इकाइयों को पहले से ही इस फ़ैसले की सूचना दे दी गयी थी जिसके बाद भाजपाइयों ने बड़े पैमाने पर अपने काले धन को सफ़ेद किया। बैंकों में भारी राशियाँ जमा की गयीं, ज़मीनें ख़रीदी गयीं, चुनाव प्रचार के लिए गाड़ियाँ आदि ख़रीदी गयीं। वहीं दूसरे विपक्षी दल अपने काले धन के भण्डार को ठिकाने नहीं लगा सके। बाद में, शासक वर्ग की तमाम चुनावी पार्टियों ने भाजपा के इस क़दम पर काफ़ी शोर मचाया।

एक अन्य मंशा जो ऐसा लगता है कि मोदी सरकार की थी वह था खुदरा व्यापार के क्षेत्र में बड़ी पूँजी को फ़ायदा पहुँचाना और खाते-पीते मध्यवर्ग के उपभोग के स्तर को बढ़ाना। नोटबन्दी के बाद से शहरों में मध्यवर्ग का वह हिस्सा जो क्रेडिट कार्ड आदि रखता है, मगर रोज़मर्रा की ज़रूरत की तमाम चीज़ें सामान्य परचून की दुकानों से ख़रीदता था, वह भी अब इन सामानों के लिए बड़ी खुदरा व्यापार कम्पनियों की दुकानों जैसे रिलायंस रीटेल, नाइन-इलेवेन, बिग बाज़ार, फ़ेयर प्राइस आदि से ख़रीद रहा है। इससे इन कम्पनियों को भारी फ़ायदा पहुँचा है क्योंकि पहले भी इनके पास खाते-पीते मध्य वर्ग के ग्राहक ही आते थे, और अब उनका कहीं ज़्यादा बड़ा हिस्सा इन दुकानों से ख़रीदारी कर रहा है जिन पर कार्ड से भुगतान हो सकता है। वहीं दूसरी ओर कार्ड से भुगतान यदि बाध्यता हो तो आप छोटी ख़रीद नहीं कर सकते। ऐसे में, लोग अपनी ज़रूरत से ज़्यादा सामान भी ख़रीद रहे हैं। ऐसे में, एक ओर बड़ी पूँजी की इज़ारेदारी खुदरा व्यापार के क्षेत्र में बढ़ेगी और छोटे व्यापारी और दुकानदार साफ़ होंगे। यही कारण है कि भाजपा के पारम्परिक समर्थक रहे छोटे और मँझोले व्यापारी नोटबन्दी पर काफ़ी छाती पीट रहे हैं। वहीं उपभोक्ता वर्ग

(खाते-पीते मध्यवर्ग) के उपभोग का स्तर भी बढ़ेगा। इस रूप में नोटबन्दी ने बड़ी पूँजी को किसी प्रकार का सीधा नुक़सान नहीं पहुँचाया है। निश्चित तौर पर, इसके दूरगामी प्रभाव के तौर पर जो आर्थिक दिक़्क़तें पैदा होंगी आगे उनका असर बड़ी पूँजी पर भी पड़ सकता है लेकिन तात्कालिक तौर पर उन्हें कोई विशेष हानि नहीं है और अगर कोई है तो भी इससे होने वाले फ़ायदे नुक़सान से बड़े हैं। ऐसे में, मोदी सरकार के इस क़दम का लाभ अमीरों और बड़ी पूँजी को होगा। लेकिन आम मेहनतकश अवाम पर इस क़दम का भारी नुक़सानदेह असर पड़ा है, जैसा कि हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। लेकिन मोदी सरकार का यह क़दम उसके लिए नुक़सानदेह ही साबित होगा। शुरुआती दौर में सरकारी प्रचार और कॉरपोरेट मीडिया के शोर ने नोटबन्दी के पक्ष में जो माहौल बनाया था और जिस तरीक़े से कुछ दिनों की असुविधा के बदले काले धन से निजात का जो सपना दिखाया था, वह हर बीतते दिन के साथ फीका पड़ता जा रहा है। मोदी की प्रतिक्रियाओं में भाजपा की घबराहट को देखा जा सकता है। मोदी जिस प्रकार की 'नी-जर्क' प्रतिक्रियाएँ दे रहा है, उससे समझ में आ रहा है कि उसका आत्मविश्वास डगमगा गया है और वह अनसेटल हो चुका है। आत्मविश्वास अब केवल दिखावे के स्तर पर है। दूसरे भाजपा के ही अन्य नेताओं ने मोदी के लिए इस क़दम को वापस लेने के रास्ते बन्द कर दिये हैं। मिसाल के तौर पर, वेंकैया नायडू ने बयान दिया था, "फ़ैसले वापस लेना मोदी जी के ख़ून में नहीं है।" उत्तर प्रदेश और पंजाब चुनावों में हार के ख़तरे को देखते हुए बीच में भाजपा ने चुनाव आयोग से चुनाव टालने की भी बात की थी। लेकिन तय है कि इस ग़लती की क़ीमत मोदी को चुकानी पड़ेगी। निराशा के माहौल में क्रान्तिकारियों में यह प्रवृत्ति होती है कि शासक वर्ग के हर क़दम के पीछे वे कोई बहुत ही युक्तिपूर्ण षड्यन्त्र या योजना तलाशते हैं। ऐसे में, कई बार उनका ध्यान इस बात पर नहीं जाता कि फ़ासीवादी शासक और आमतौर पर शासक वर्ग भी ग़लती करते हैं। मोदी का नोटबन्दी का क़दम ऐसी ही एक ग़लती है।

मराठा मूक मोर्चों के पीछे मौजूद सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक गतिकी : एक मूल्यांकन

● शिवार्थ

13 जुलाई 2016 को महाराष्ट्र के अहमदनगर ज़िले के कोपर्दी गाँव में मराठा जाति की एक 14 वर्षीय बालिका के साथ सामूहिक बलात्कार एवं उसके पश्चात बेहद निर्ममता से उसकी हत्या किये जाने का मामला सामने आया। ग़ौरतलब है कि इसके तीनों पुरुष अभियुक्त दलित जातियों से आते हैं। घटना के तात्कालिक प्रभाव के तौर पर मराठा आबादी के साथ व्यापक जनता का इस घटना को लेकर रोष मुखर तौर पर सामने आया। दलित आबादी ने भी आरोपियों को कड़ी से कड़ी सज़ा देने की माँग उठायी। कई जगहों पर बड़े-बड़े प्रदर्शन हुए जिनकी प्रमुख माँग थी, इन दोषियों की फ़ास्ट ट्रैक कोर्ट के अन्तर्गत सुनवाई करवाना और इन्हें मृत्युदण्ड दिलवाना। जल्द ही मराठा जातिगत राजनीति करने वालों ने इसे जातिगत मसला भी बना दिया। इसी के साथ ही कई जगह पर इस घटना की प्रतिक्रिया स्वरूप दलित आबादी पर हमले किये गये। जातिगत आधार पर संगठित मराठा आबादी के इन प्रदर्शनों की एक और अहम माँग जो सामने आयी वह यह थी कि दलित उत्पीड़न निरोधी क़ानून, 1989 में संशोधन किया जाये ताकि दलित इसका 'दुरूपयोग' न कर सके। एक तात्कालिक घटना की प्रतिक्रियास्वरुप और जातिगत वर्चस्ववादी मराठा राजनीति करने वालों के सहयोग से संगठित इन

तात्कालिक प्रदर्शनों ने अगस्त और सितम्बर आते-आते प्रदेशव्यापी स्तर पर गाँवों, क़स्बों से लकर राजधानी मुम्बई तक मराठा आबादी के व्यापक प्रदर्शनों का स्वरुप ग्रहण कर लिया। इन प्रदर्शनों में हज़ारों की संख्या में लोगों की भागीदारी नज़र आयी। रूप के धरातल पर इनका नेतृत्व करने वाली या उन्हें आयोजित करने वाली कोई चुनावी पार्टी या किसी एन.जी.ओ. इत्यादि के लोग नज़र नहीं आये। यह भी देखने में आया कि नौजवान लड़के-लड़कियों से लेकर बुज़ुर्गों और महिलाओं तक ने बड़ी संख्या में इनमें भागीदारी की और इनका आयोजन शुरुआती घटनाओं को छोड़कर शान्तिपूर्ण ही रहा है। यहाँ तक कि इन्हें 'मूक प्रदर्शनों' की संज्ञा भी दी गयी, क्योंकि आम प्रदर्शनों के मुक़ाबले इनमें नारे इत्यादि कम ही देखने को मिले। माँगें भी बदलती गयीं और उन्होंने अधिक से अधिक राजनीतिक स्वरुप ग्रहण करना शुरू कर दिया। अब सिर्फ़ अभियुक्तों को जल्द से जल्द सज़ा दिलाने के इतर जो तीन प्रमुख माँगें उभरकर सामने आईं, वे थीं - दलित उत्पीड़न निरोधी क़ानून में संशोधन कराया जाये, अन्य पिछड़ा वर्ग के अन्तर्गत मराठा आबादी के लिए सरकारी नौकरी एवं शिक्षा में आरक्षण दिया जाये एवं राज्य द्वारा किसानों से अनाज ख़रीदने के मूल्य, यानी न्यूनतम समर्थन मूल्य (एम.एस.पी.) में बढ़ोतरी की जाये।

इन प्रदर्शनों की व्यापकता देखकर, दो मत उभरकर सामने आ रहे हैं जिनकी पड़ताल करना ज़रूरी है। दलित चिन्तकों से लेकर कई चुनावी दलों तक का यह मत है कि इनके आयोजन के लिए होने वाले ख़र्च से लेकर इनको अप्रत्यक्ष तौर पर नेतृत्व प्रदान करने का काम प्रदेश की मराठा आबादी के बीच सबसे लोकप्रिय और विगत लोकसभा और विधानसभा चुनावों में बुरी तरह असफल रहने वाली एन.सी.पी. यानी राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी कर रही है। तथ्य के तौर पर यह बात भी है कि पार्टी के अध्यक्ष और महाराष्ट्र के सबसे विख्यात (कुख्यात भी पढ़ सकते हैं) नेताओं में से एक शरद पवार और एन.सी.पी. के लगभग हर छोटे-बड़े नेता ने बिना किसी गाजे-बाजे के इन प्रदर्शनों में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी है। अन्य चुनावी पार्टियों का भी रुख़ अपने वोट-बैंक के मूल्यांकन के आधार पर कमोबेश इसी प्रकार रहा है और भाजपा व शिवसेना में भी हावी मराठा लॉबी ने अपनी तरह से इसका लाभ उठाने का प्रयास किया है। वहीं दूसरी ओर चर्चित अख़बारों-पत्रिकाओं से लेकर बुद्धिजीवियों के एक धड़े का मानना है कि यह स्वतःस्फूर्त आधार पर उभरा एक जनआन्दोलन है जो, बावजूद इसके कि जातिगत आधार पर उभरकर सामने आया है, अपने अन्तर्य में लम्बे समय से मराठा आबादी के बहुलांश के बीच सरकार और चुनावी पार्टियों की नीतियों के विरुद्ध जनता में पनप रहे गुस्से और आक्रोश का परिचायक है। इस आन्दोलन के इस पहलू को, जिसकी हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे, ख़ारिज़ तो नहीं किया जा सकता। लेकिन यह भी ग़ौरतलब है कि तीन-चार महीनों तक चलने वाले आन्दोलन के पीछे कोई चालक शक्ति तो होगी और दूसरे जहाँ तक चुनावी गणित का सवाल है तो इनसे सबसे अधिक फ़ायदा एन.सी.पी. को और एक हद तक भाजपा को ही मिलेगा।

अगर इस आन्दोलन के केन्द्र में उपस्थित माँगों की रोशनी में देश के अन्य कृषि आधारित क्षेत्रों पर नज़र दौडाई जाये, तो दिखाई देता है कि पिछले 2-3 सालों में गुजरात, उत्तर प्रदेश,

हरियाणा एवं आन्ध्र प्रदेश में भी इस तरह के आन्दोलन हुए हैं जिसमें उभरती मँझोली किसान जातियों ने आरक्षण की माँग उठायी है और जातिगत गोलबन्दी की है। जुलाई 2015 के दौरान गुजरात में पटीदार आबादी द्वारा पिछड़ा एवं अन्य पिछड़ी जातियों में शामिल होने और शिक्षा एवं सरकारी नौकरियों में आरक्षण प्राप्त करने को लेकर एक आन्दोलन की शुरुआत हुई। भले ही फ़ौरी तौर पर इससे कुछ ख़ास न अर्जित हुआ हो, लेकिन इतना तो ज़रूर हुआ कि मुख्यमन्त्री आनन्दीबेन पटेल को इस्तीफ़ा देना पड़ा और गुजरात की चुनावी राजनीति के जातिगत समीकरणों में परिवर्तन आया। अप्रैल 2016 में हरियाणा में जाट आबादी द्वारा मुख्यतः इसी माँग को लेकर प्रदेश स्तर पर एक बड़ा आन्दोलन देखने में आया, जिसमें कि जल्द ही लूट-पाट, बलात्कार और हत्याओं जैसी घटनाएँ भी सामने आने लगीं। फ़रवरी 2016 में आन्ध्र प्रदेश की कापू आबादी द्वारा आन्दोलन भी इस मुद्दे को लेकर ही संगठित हुआ था, हालाँकि वह पिछले एक दशक से ज़्यादा समय से आरक्षण-सम्बन्धी माँगों को लेकर प्रदर्शन करते रहे हैं।

महाराष्ट्र में पिछले पाँच महीनों से जारी मराठा आबादी के 'मूक मोर्चों' से इन सभी आन्दोलनों का बिल्कुल सादृश्य निरूपण तो नहीं किया जा सकता, लेकिन एक बात जो इनमें समान है, वह यह है कि ये सारे आन्दोलन पारम्परिक तौर पर कृषि पर निर्भर मध्य जातियों की बहुलांश आबादी के आन्दोलन हैं। उदारीकरण-निजीकरण के पिछले तीस वर्षों ने जहाँ एक ओर कृषि में लगी हुई आबादी के बीच वर्ग-विभेदीकरण की प्रक्रिया को अप्रत्याशित ढंग से तेज़ किया है और कृषि क्षेत्र से एक अच्छी-ख़ासी आबादी को उजाड़ा है, वहीं ग़ैर-कृषि क्षेत्रों में रोज़गार के अवसरों में हुई बढ़ोत्तरी बेशी आबादी में हुई बढ़ोत्तरी की तुलना में लगभग न के बराबर है उल्टे बेशी आबादी के सापेक्ष रोज़गार के अवसर घटे हैं। अगर आँकड़ों की बात करें तो 2010-11 में कृषि मन्त्रालय द्वारा जारी कृषि जनगणना के आँकड़ों के अनुसार 2001-02 के मुक़ाबले 2010-11 में 25 एकड़ से अधिक कृषि-योग्य भूमि रखने वाली आबादी 1 प्रतिशत से घटकर 0.7 प्रतिशत तक आ गयी है, वहीं 2.5 एकड़ से कम भूमि रखने वाली आबादी 62.1 प्रतिशत से बढ़कर 67 प्रतिशत तक पहुँच गयी है। 10 एकड़ से लेकर 25 एकड़ के बीच कृषि-योग्य भूमि रखने वाली किसान आबादी 2001-02 के मुक़ाबले 2010-11 में 5.3 प्रतिशत से सिकुड़कर 4.3 प्रतिशत तक पहुँच गयी है। वहीं दूसरी ओर धनी किसानों व कुलकों के हाथों में कृषि-योग्य-भूमि का संकेन्द्रण तेज़ी से बढ़ा है। यानी कुल मिलाकर कहा जाये तो देश की कृषि-योग्य भूमि का एक तिहाई से ज़्यादा हिस्सा खेती में लगी 5 प्रतिशत आबादी के पास है, वही 85 प्रतिशत आबादी के पास कुल भूमि का 40 प्रतिशत से भी कम है। कृषि में लगी हुई आबादी के बीच वर्ग-विभेदीकरण की प्रक्रिया 2010-11 से लेकर अब तक और तेज़ रफ़्तार से आगे बढ़ी है। वर्ग विभेदीकरण की इस प्रक्रिया के साथ (या कहें कि इसके फलस्वरूप) ही पिछले दो दशकों के दौरान कृषि संकट भी लगतार गहराता रहा है। इस दौरान पूरे देश में क़रीब तीन लाख से अधिक किसान आत्महत्या करने के लिए मजबूर हुए हैं। सिर्फ़ महाराष्ट्र में ही इसकी संख्या बीस हज़ार से अधिक है। अगर अर्थव्यवस्था में कृषि की भागीदारी की बात की जाये तो सकल घरेलू उत्पाद का 15 प्रतिशत से भी कम कृषि और उससे

जुड़ी हुई गतिविधियों से आता है, वहीं आबादी का एक बड़ा हिस्सा अपने जीविकोपार्जन के लिए इस पर निर्भर है, हालाँकि कृषि कार्यों में लगी आबादी का हिस्सा गाँवों तक में पिछले एक दशक में बेहद तेज़ी से कम हुआ है और गैर-कृषि कार्यों में लगी आबादी का हिस्सा बढ़ा है। कृषि से इतर मैन्युफ़ैक्चरिंग और प्रत्यक्ष उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में रोज़गार का सृजन नकारात्मक दरों में है। सरकारी एवं प्राइवेट क्षेत्रों में भी यही हालत है और जो नयी भर्ती हो भी रही है वह अधिकतर ठेका-केज़ुअल-एडहॉक के अन्तर्गत ही हो रही है।

यही कारण है कि पारम्परिक तौर पर खेती-किसानी में लगे हुए घरों के नौजवान जो कभी नौकरी इत्यादि को हिक़ारत की नज़र से देखते थे, उनके सामने आज अस्तित्व का संकट पैदा हो गया है। आज से क़रीब बीस साल पहले के मुक़ाबले आज उन्हें इसकी कहीं ज़्यादा ज़रूरत महसूस हो रही है कि डिग्री इत्यादि हासिल कर किसी भी तरह प्राइवेट सेक्टर की या सरकारी नौकरी प्राप्त कर ली जाये। कई प्रदेशों में तो किसान संकटग्रस्त कृषि के मद्देनज़र अपनी ज़मीनें बेचकर चपरासी व खलासी की सरकारी नौकरी के लिए रिश्वत देने को तैयार है। सबसे धनी कृषि प्रदेशों यानी हरियाणा और पंजाब में क़रीब 40 प्रतिशत किसान पहला मौक़ा मिलते कृषि छोड़ कोई अन्य रोज़गार अपना लेना चाहते हैं। महाराष्ट्र में पूँजीवादी कृषि संकट और उसके साथ सूखा के पूँजीवाद-जनित संकट ने भी ऐसी ही स्थिति पैदा कर दी है। इस सामान्य कारक के बावजूद महाराष्ट्र में जारी, लगभग प्रदेशव्यापी स्तर पर मराठा आबादी का जन आक्रोश अपने आप में विशिष्ट पड़ताल की माँग करता है। इसके माध्यम से जहाँ एक ओर हम नवउदारवादी नीतियों के चलते मज़दूरों के बीच पिछले कुछ समय से जारी स्वतःस्फूर्त आन्दोलनों के बाद अब क़स्बों एवं गाँवों की ग़रीब आबादी को भी सड़कों पर उतरने के लिए मजबूर होने की प्रक्रिया को देख पायेंगे, तो वहीं दूसरी ओर हम नये सिरे से जातिगत आधार पर संगठित होने वाले आन्दोलनों की सीमाएँ एवं उनके वर्गीय लक्षणों की भी चर्चा कर सकेंगे।

अगर महाराष्ट्र के भीतर, जनसंख्या के आधार पर देखा जाये तो आबादी का क़रीब एक-तिहाई हिस्सा और कुछ आँकड़ों के अनुसार 35-38 फ़ीसदी मराठा आबादी का है। 27 फ़ीसदी अन्य पिछड़ी जातियों जिसमें कुनबी, धनगर जातियाँ आदि हैं और 10-12 फ़ीसदी आबादी दलितों की है। मराठा आबादी की बात की जाये तो अन्य जातियों की अपेक्षा इसमें काफ़ी विविधता है। मुख्यतः हम इन्हें पाँच प्रमुख प्रवर्गों में बाँट सकते हैं, सबसे ऊपर देख सकते हैं उन 200 कुलीन और अतिधनाढ्य मराठा परिवारों को जिनका आज प्रदेश के लगभग सारे मुख्य आर्थिक संसाधनों और राजनीतिक सत्ता के केन्द्रों पर कब्ज़ा है। यह मराठा आबादी का सबसे कुलीन वर्ग है, जिसके पास अप्रत्याशित रूप से राजनीतिक और आर्थिक ताक़त का संकेन्द्रण है। प्रदेश के क़रीब 54 प्रतिशत शिक्षा संस्थानों पर इनका क़ब्ज़ा है, प्रदेश की 105 चीनी मीलों में से क़रीब 86 का मालिकाना इनके पास है, प्रदेश के क़रीब 23 सहकारी बैंकों के यही खाते-पीते मराठा प्रबन्धक हैं, प्रदेश के विश्वविद्यालयों में क़रीब 60-75 प्रतिशत प्रबन्धन इनके क़ब्ज़े में है। क़रीब 71 फ़ीसदी सहकारी समितियाँ इनके पास हैं। जहाँ तक राजनीतिक ताक़त की बात

है तो 1962 से लेकर 2004 तक चुनकर आये 2430 विधायकों में 1336 (यानी 55 फ़ीसदी) मराठा हैं, जिनमें अधिकांश इन्हीं परिवारों से आते हैं। 1960 से लेकर अब तक महाराष्ट्र के 19 मुख्यमन्त्रियों में से 10 इनके बीच से ही हैं।

इनके ठीक नीचे है मराठा आबादी का दूसरा वर्ग - धनी किसान या 'बागायती' वर्ग जो नक़दी फ़सलें पैदा करता है और गाँवों का पूँजीपति वर्ग है। महाराष्ट्र में क़रीब 80-90 प्रतिशत कृषि-योग्य भूमि के हिस्से का मालिकाना मराठा जाति के पास है। इनमें से क़रीबी एक-तिहाई से ज़्यादा इसी धनी किसान वर्ग के पास है। यह वर्ग ऊपर के धनी घरानों जैसी आर्थिक शक्तिमत्ता तो नहीं रखता, लेकिन यह महाराष्ट्र की चुनावी राजनीति का एक प्रमुख राजनीतिक प्रेशर ग्रुप है, जिसका नीति-निर्धारण पर असर है। इनके नीचे आता है मँझोले किसानों का वर्ग जिनके पास 2.5 एकड़ से लेकर 10 एकड़ तक की ज़मीनें हैं। यह न तो पूरी तरह ख़ुशहाल है, न ही बर्बादी के क़गार पर खड़े हैं। ये अनिश्चितता में जीते हैं और अपनी खेती में काफ़ी हद तक मौसम-बारिश जैसे प्राकृतिक कारकों और सरकारी नीतियों पर निर्भर होते हैं। ये धनी किसानों की क़तार में शामिल होने के लगातार सपने सँजोते हैं, और जब ऐसा करने में आर्थिक तौर पर नाकामयाब होते हैं, तो हताशा और रोष का शिकार होते हैं। ये सूदखोरों और बैंकों द्वारा तंग किये जाने पर आत्महत्याएँ कर लेते हैं। मँझोले किसानों के इस वर्ग का अच्छा ख़ासा हिस्सा पिछले दशकों में खेतिहर मज़दूरों की क़तार में भी शामिल हुआ है। इसके नीचे आने वाला चौथा वर्ग है ग़रीब मराठा आबादी का जो कि केवल खेती से जीविकोपार्जन नहीं कर पाते और उनका अच्छा-ख़ासा हिस्सा बड़े किसानों के खेतों पर मज़दूरी भी करता है। इनकी स्थिति काफ़ी हद तक खेतिहर मज़दूरों जैसी होती है। ये अपने बच्चों को स्तरीय शिक्षा नहीं दिला सकते। डिग्री इत्यादि के अभाव में शहरों तक पहुँच रोज़गार प्राप्त कर सकने की इनकी स्थिति नहीं होती। इनमें सांस्कृतिक और शैक्षणिक पिछड़ापन बुरी तरह व्याप्त है। पाँचवाँ वर्ग सबसे ग़रीब मराठा आबादी का यानी खेतिहर मज़दूरों का है, जो दूसरे के खेतों पर मज़दूरी करने या सरकार की रोज़गार गारण्टी योजनाओं पर निर्भर रहने को बाध्य हैं। यह आबादी सबसे भयंकर ग़रीबी में जीवनयापन कर रही है। कुछ नमूना सर्वेक्षणों के अनुसार कुल मराठा आबादी का क़रीब 35-40 हिस्सा खेतिहर मज़दूरों का है।

इसमें नीचे के विशेषकर तीन वर्गों का गुस्सा ग़रीबी, बेरोज़गारी और असमानता के ख़िलाफ़ लम्बे समय से संचित हो रहा है। इस गुस्से का निशाना मराठा जातियों की नुमाइन्दगी करने वाली प्रमुख पार्टियाँ बन सकती हैं, जो कि वास्तव में मराठों के बीच मौजूद अतिधनाढ्य वर्गों की नुमाइन्दगी करता है। यह वर्ग अन्तरविरोध अपने आपको इस रूप में अभिव्यक्त करने की सम्भावना-सम्पन्नता रखता है। लेकिन यह सम्भावना-सम्पन्नता स्वत: एक यथार्थ में तब्दील हो, इसकी गुंजाइश कम है। ग़रीब मेहनतकश मराठा आबादी में भी जातिगत पूर्वाग्रह गहराई से जड़ जमाये हुए हैं। ब्राह्मणवादी वर्चस्ववाद की सोच उनमें भी अलग-अलग मात्रा में मौजूद है। ऐसे में, मराठों के बीच मौजूद जो शासक वर्ग है और उसकी नुमाइन्दगी करने वाली मराठा पहचान की राजनीति करने वाली बुर्जुआ पार्टियाँ मराठा जातियों के व्यापक मेहनतकश वर्ग के वर्गीय गुस्से

को एक जातिगत स्वरूप दे सकती हैं और देती रही हैं। इन आबादी को इस बात पर भरमाया जा सकता है कि उसकी ग़रीबी और बेरोज़गारी का मूल कारण दलित हैं जो कि आरक्षण के ज़रिये रोज़गार के मौक़े हड़प जा रहे हैं। इसी के साथ दलित आबादी के बीच जो एक मध्यवर्ग पैदा हुआ है, वह भी अस्मितावादी राजनीति के प्रभाव में होने के चलते जातीय तौर पर अपने आपको एसर्ट कर रहा है, जिससे कि वर्गीय अन्तरविरोधों को जातिगत स्वरूप देने की सम्भावनाएँ प्रबल हो जाती हैं। जब भी वर्गीय अन्तरविरोध सही रूप में तन्तुबद्धीकृत होकर अभिव्यक्त (आर्टिकुलेट) नहीं होते, तो वे किसी न किसी प्रकार की विकृत अभिव्यक्ति पाते हैं। यह विकृत अभिव्यक्ति अलग-अलग ऐतिहासिक सन्दर्भों और परिप्रेक्ष्यों में अलग-अलग रूप धारण कर सकती है। कभी ये नस्लीय स्वरूप ले सकती है, कभी ये प्रवासी-विरोध (ज़ेनोफोबिया) के रूप में सामने आ सकती है, कभी ये साम्प्रदायिक चोला ओढ़कर आ सकती है और भारत में अक्सर ये जातिगत अन्तरविरोध का स्वरूप धारण करती है। चाहे ये जो भी स्वरूप धारण करे, इसके मूल में वर्गीय अन्तरविरोध ही प्रवाहित होते रहते हैं।

ऐसे में यह समझना महत्वपूर्ण है कि, इस पूरे आन्दोलन को अगर महज़ जातिगत फ्रेमवर्क में देखा जाये तो हम मराठा आबादी के बहुलांश का सत्ता प्रतिष्ठानों आर सरकारी मशीनरी के विरुद्ध लम्बे समय से पनप रहे गुस्से और असन्तोष को नहीं समझ पायेंगे और यह भी नहीं समझ पायेंगे कि ये "मूक मोर्चे" जिस दौर में हुए उसी दौर में क्यों हुए। इसी रोशनी में यह देखना दिलचस्प और ज़रूरी होगा कि इस आन्दोलन के केन्द्र में उपस्थित माँगों का वर्गीय चरित्र क्या है। जैसे कि हमने पहले ही इंगित किया कि हत्या और बलात्कार के दोषियों को जल्द से जल्द मृत्युदण्ड दिलाने (जिस पर तमाम दलित भी माँग उठा रहे थे) के अलावा जो तीन प्रमुख माँगें उभरकर सामने आयी हैं, वे हैं दलित उत्पीड़न निरोधी क़ानून, 1989 के प्रावधानों को ढीला किया जाये, या इस क़ानून को ही पूरी तरह वापस कराया जाये; शिक्षा संस्थानों व सरकारी एवं प्राइवेट सेक्टर की नौकरियों में आरक्षण दिया जाये; एवं न्यूनतम समर्थन मूल्य (एम.एस.पी.) को बढ़ाया जाये।

अगर सिर्फ़ चिन्हित हुई घटनाओं से जुटाये गये आँकड़ों के आधार पर भी बात की जाये तो, पूरे महाराष्ट्र में ही और विशेषकर अहमदनगर ज़िले में दलितों के ख़िलाफ़ सबसे जघन्य अपराध मराठा जाति से आने वाले दबंगों धनी किसानों द्वारा ही होता है। अक्सर ये दलित खेतिहर मज़दूरों के बीच से आते हैं। वैसे तो पूरे देश भर में ही दलित आबादी के विरुद्ध होने वाले अपराधों में पिछड़ी जातियाँ, किसी भी रूप में ब्राह्मणों-क्षत्रियों से पीछे नहीं हैं बल्कि कहना चाहिए कि पिछले कई दशकों से दलितों के विरुद्ध प्रमुख दमनकारी जाति की भूमिका में ये मध्य किसान जातियाँ हैं (जिनसे एकता के आधार पर 'बहुजन समाज' निर्मित करने और ब्राह्मणवाद से लड़ने का दिवास्वप्न दिखलाया जाता है)। महाराष्ट्र में तो इस तरह की नब्बे फ़ीसदी उत्पीड़न की घटनाएँ मराठा जाति से आने वाले धनी वर्ग के लोगों द्वारा ही की जाती हैं। अगर कुछ प्रतीक घटनाओं की बात की जाये तो अहमदनगर ज़िले के जवखेड़ तहसील में अक्टूबर 2014 में एक दलित परिवार के तीन लोगों को मार दिया गया था; अप्रैल 2014 में यहीं पर एक सत्रह वर्षीय दलित

लड़के को भीड़ द्वारा मार दिया गया; जनवरी 2013 में सोनई गाँव के एक ही दलित परिवार के तीन लोगों को मार दिया गया था। इन सभी घटनाओं में अभियुक्त मराठा जाति से आने वाले लोग ही थे। सवाल तो यह भी उठता है कि इन अपराधों पर व्यापक मराठा आबादी ने उस तरह रोष क्यों नहीं प्रकट किया जैसे वो इस हालिया घटना को लेकर कर रहे हैं। वहीं दूसरी और आँकड़ों के लिहाज़ से देखें तो पिछले पाँच सालों में यानी 2010 से लेकर 2015 के एफ़.आई.आर. या केस जो दलित उत्पीड़न निरोधी क़ानून के अन्तर्गत दर्ज कराये गये थे उनकी संख्या 319 से घटकर 290 तक पहुँच गयी है। इसमें अभियुक्त को सज़ा दिये जाने की दर भी महज़ 7 प्रतिशत है, यानी साल-भर में मुश्किल से 20-22 लोग पूरे महाराष्ट्र में इस क़ानून के अन्तर्गत दण्डित हुए होंगे। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान जैसे प्रदेशों के लिहाज़ से भी यह आँकड़ा बहुत कम है। यह बात बिल्कुल साफ़ है कि इस क़ानून का कितना 'दुरुपयोग' हो रहा है, और इसको संशोधित किये या वापस लिये जाने से आम मराठा आबादी को क्या मिल जायेगा! वहीं दूसरी तरफ़ ग़रीब दलितों के लिए इसके परिणाम भयंकर होंगे। एक बड़ा तबक़ा दलितों के विरुद्ध अपनी सीमाओं का उल्लंघन इसलिए नहीं करता कि, दलितों के लिए ऐसा क़ानून है जो कम से कम नाम मात्र के लिए ही सही कुछ संरक्षण मुहैया कराता है। वास्तव में यह कितना प्रभावी है, उसके आँकड़े तो हम देख ही चुके हैं। इस क़ानून के बावजूद अगर देशव्यापी स्तर पर दलितों के ख़िलाफ़ होनेवाले अपराधों की हालत यह है, तो इसके न होने पर स्थिति क्या होगी यह स्वतः ही समझा जा सकता है। अपवादस्वरूप अगर इसके दुरुपयोग के मामले हुए भी होंगे और इसके आधार पर अगर ऐसा कोई निर्णय लिया जाये, तो फिर देश के सभी क़ानूनों को रद्द करना पड़ेगा क्योंकि हमारे देश में किस क़ानून का दुरुपयोग नहीं होता।

अगर इस आन्दोलन में प्रमुखता से उठ रहे दूसरे मुद्दे यानी मराठा आबादी के लिए अन्य पिछड़ा वर्ग से अलग शिक्षा और रोज़गार में आरक्षण की बात की जाये तो इसके लिए महाराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमन्त्री फड़नवीस की एक दलील ही स्थिति काफ़ी साफ़ कर देती है। उनके अनुसार मराठा आबादी के लिए आरक्षण लागू करने के बाद कॉलेजों में क़रीब 900 सीटें उपलब्ध हो जायेंगी और सरकारी नौकरियों में क़रीब 7500 लोगों को रोज़गार मिल जायेगा। करोड़ों की संख्या में बेरोज़गार मराठी नौजवानों के लिए इससे क्या हासिल हो जायेगा? हम स्वत: ही समझ सकते हैं। दूसरी बात यह कि इन उपलब्ध हुए अवसरों का इस्तेमाल भी पैसे की ताक़त रखने वाले चन्द ऊपरी तबक़ों के लोग ही कर पायेंगे। इसका एक बड़ा कारण यह है कि अन्य पिछड़ी जातियों की अपेक्षा मराठा आबादी में विशेषकर महिलाओं के बीच शिक्षा का स्तर काफ़ी नीचे है। आरक्षण का यह झुनझुना केवल एक विभ्रम है और इससे व्यापक मेहनतकश मराठा आबादी की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों में कोई अन्तर नहीं आने वाला। यह एक उपकरण है जिसका शासक वर्ग मेहनतकश जनता को जातिगत आधार पर बाँटने के लिए करता है और अभी भी कर रहा है।

आज बुनियादी सवाल रोज़गार सृजन का है। उदारीकरण-निजीकरण के इस दौर में अगर

सरसरी तौर पर देखा जाये तो लेबर ब्यूरो द्वारा देश स्तर पर जारी हालिया आँकडे स्थिति काफ़ी स्पष्ट कर देते हैं। बेरोज़गारी की दर पिछले पाँच वर्षों के शिखर पर है - जहाँ 2011 में यह 3.8 फ़ीसदी और 2013 में 4.9 फ़ीसदी थी, वहीं 2015 में यह बढ़कर 7.3 फ़ीसदी तक पहुँच गयी है। रोज़गार प्राप्त व्यक्तियों से एक तिहाई के पास पूरे वर्ष काम नहीं रहता जबकि कुल परिवारों में से 68 फ़ीसदी परिवारों की मासिक आय 10,000 रुपये से कम है। ग्रामीण क्षेत्रों में हालत और भी ख़राब है यहाँ 42 फ़ीसदी लोगों के पास पूरे सालभर काम नहीं रहता और 72 फ़ीसदी परिवारों की मासिक आय 10,000 रुपये से कम है। जहाँ तक शिक्षा की बात है तो ज़्यादातर प्राइवेट इंजीनियरिंग और मैनेजमेंट कॉलेज मराठी धनकुबेरों के पास ही हैं, जहाँ शिक्षा इतनी महँगी है कि ग्रामीण मज़दूर तो दूर निम्न मध्यम वर्ग की और मध्यम वर्ग के घरों से आने वाले नौजवान मुश्किल से ही दाख़िला प्राप्त कर सकता है।

यह भी ग़ौर करने योग्य बात है कि सुप्रीम कोर्ट द्वारा तय किये गये मानकों के अनुसार नौकरियों और शिक्षा संस्थानों में 50 फ़ीसदी से अधिक आरक्षण नहीं दिया जा सकता। महाराष्ट्र में यह पहले ही 51 फ़ीसदी के क़रीब है। अब बिना किसी संशोधन के इसे बढ़ाना सम्भव नहीं है। वोट बैंक की राजनीति के चलते, 2014 में आम चुनावों से ठीक पहले ऐसी कोशिश की भी गयी थी, जब राज्य सरकार द्वारा एक अधिनियम के अन्तर्गत मराठा आबादी के लिए सरकारी नौकरियों और शिक्षण संस्थानों में 16 फ़ीसदी आरक्षण दे दिया गया था। लेकिन एक जनहित याचिका पर सुनवाई के दौरान बम्बई उच्च न्यायालय ने इसे स्थगित कर दिया। जहाँ तक रही संवैधानिक संशोधन जैसे किसी भी प्रयास के द्वारा आरक्षण देने की बात तो ऐसा करते ही अन्य पिछड़ी जातियाँ भी आरक्षण के लिए सड़कों पर उतर आयेंगी। कुल मिलाकर चुनावी राजनीति की गोटियाँ ही ऐसी फँसी हुई हैं कि, मराठी नौजवानों पर यह वाक्य ठीक ही जँचता है - 'तुम आरक्षण पा सको यह हो नहीं सकता और तुम इसे भूल जाओ यह हम होने नहीं देंगे!!' अगर निगमनात्मक पद्धति से भी उनकी हालत पर नज़र दौडाई जाये, जिन्हें आरक्षण मिला हुआ है उन जातियों से आने वाली क़रीब 90 फ़ीसदी आबादी भयंकर ग़रीबी और बदहाली में जीवन यापन करने के लिए मजबूर है। आज भी शैक्षणिक संस्थानों में आरक्षित सीटों का एक हिस्सा भरा ही नहीं जाता क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिए जिस न्यूनतम शैक्षणिक योग्यता की दरकार है, वह भी एक छोटा तबक़ा ही हासिल कर पाता है और दूसरी ओर इन सभी शिक्षण संस्थानों की नौकरशाही का चरित्र जातिवादी ब्राह्मणवादी है जो कि इन सीटों को भरने में जालसाजी करता है। आज की परिस्थितियों में न सिर्फ़ अन्य पिछड़ी जातियों बल्कि दलित घरों से आने वाले नौजवानों के लिए भी आरक्षण की नीति शासक वर्गों द्वारा जनता के बीच राज्य को लेकर एक विभ्रम कायम करने का पैंतरा मात्र है। यही कारण है कि दलित आबादी के बीच भी इसको लेकर झगड़ा पनपाया जाता है। नयी-नयी श्रेणियाँ खड़ी करके (जैसे महादलित, अति-पिछड़ा आदि) आरक्षण के लुकमे उछाले जाते हैं और स्वयं दलित जातियाँ आपस में लड़ पड़ती हैं, कभी आदिवासी और दलितों को आपस में भिड़ा दिया जाता है, कभी आदिवासियों और पिछड़ों को आपस में लड़ा दिया जाता है।

जहाँ तक न्यूनतम समर्थन मूल्य (एम.एस.पी.) की माँग का सम्बन्ध है, तो ग़रीब मराठा शहरी आबादी, ग़रीब किसानों और यहाँ तक की मध्यम किसानों के लिए भी यह एक प्रतिक्रियावादी माँग है। एम.एस.पी. बढ़ने से फ़ायदा उन्हीं किसानों को होगा जो मुख्यतः बाज़ार में बेचने के लिए उत्पादन करते हैं और जो मुख्य रूप से अनाज के ख़रीदार नहीं बल्कि अनाज को बेचने वाले हैं। इससे उन ग़रीब मराठा किसानों को कोई फ़ायदा नहीं मिलेगा जो उत्पादन मुख्यतः अपने भरण-पोषण के लिए एवं एक छोटा हिस्सा बाज़ार में बेचकर अपने जीवन-यापन के लिए ज़रूरी अन्य वस्तुएँ ख़रीदने में करते हैं। जो मराठा किसान मुख्य रूप से अनाज को बेचने वाले नहीं बल्कि मुख्य रूप से अनाज के ख़रीदार हैं, उनको एम.एस.पी. बढ़ने से फ़ायदा नहीं बल्कि नुक़सान होगा। एक मराठा किसान आबादी जो कि अमीर किसान तो नहीं मानी जायेगी, मगर वह अनाज पर्याप्त मात्रा में बेचती है, उसे भी एम.एस.पी. बढ़ने का लाभ नहीं मिलेगा क्योंकि बढ़ोत्तरी का पूरा लाभ बिचौलियों और आढ़तियों को जायेगा जो कि अक्सर स्वयं धनी किसान होते हैं। दूसरी बात यह कि एम.एस.पी. या लाभकारी मूल्य के बढ़ने से अनाज व अन्य वस्तुओं के दाम भी बढ़ जायेंगे जिसकी मार भी ग़रीब जनता पर ही पड़ेगी। इस विषय पर सही अवस्थिति, किसी भी राजनीतिक तौर पर सचेत व्यक्ति के लिए एक हल हुआ मुद्दा है। आज ग़रीब और निम्न मध्यम किसान आबादी भी राजनीतिक चेतना और स्वतन्त्र संगठन के अभाव में धनी किसानों की इस माँग को उठाते हुए उनके पीछे-पीछे चलती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि यह माँग उनके हक़ में है।

इस आन्दोलन के केन्द्र में प्रमुखता से रही इन तीन माँगों की वर्गीय दृष्टि से समीक्षा करने के पीछे जो हमारा मुख्य मक़सद था, वह यह दर्शाना है कि जातिगत आधार पर संगठित कोई भी आन्दोलन, अपने सार रूप में शासक वर्गों और उनके अलग-अलग धडों के बीच प्रेशर-टैक्टिस का ही काम करता है। आरक्षण से लेकर एम.एस.पी. बढ़ाने तक सभी माँगें मराठा आबादी के कुलीन तबक़े, गाँवों के पूँजीपति वर्ग यानी बड़े किसानों और एक हद तक मँझोले किसानों और शहरी उच्च मध्यम एवं मध्य वर्ग को ही लाभ पहुँचायेगी। इसका मराठा आबादी के ही बीच से आने वाले खेतिहर मज़दूरों से लेकर ग़रीब किसान आबादी और शहरी निम्न मध्यम वर्ग को कोई फ़ायदा नहीं मिलेगा। सारा फ़ायदा ऊपर के एक बेहद छोटे तबक़े तक ही सीमित रह जायेगा लेकिन इसके लिए अर्जी लगाने और सड़कों पर अपनी ताक़त का प्रदर्शन करने के लिए सबसे अधिक ग़रीब आबादी के लोगों का ही इस्तेमाल किया जा रहा है। हालाँकि दलित आन्दोलन को हूबहू इसी आधार पर सिरे से ख़ारिज नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों में ही मूलभूत फ़र्क़ है। लेकिन इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि जातिगत आधार पर संगठित किसी भी दलित आन्दोलन से, दलित आबादी के ग़रीब हिस्सों को जितना फ़ायदा होगा उससे ज़्यादा नुक़सान होगा, क्योंकि सिर्फ़ जातिगत आधार पर खड़ा हुआ कोई भी राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों पर केन्द्रित आन्दोलन, उन्हें अन्य जातियों से आने वाली ग़रीब जनता और उसके नौजवानों से काट देगा और इन जातियों के कुलीनों को मौक़ा देगा कि वे इन जातियों की ग़रीब आबादी को भी दलितों के ख़िलाफ़ खड़ा कर दें। ऐसी सम्भावना-सम्पन्नता ग़ैर-दलित मँझोली और उच्च जातियों

की ग़रीब आबादी में है क्योंकि उस पर भी ब्राह्मणवादी जातिवादी वर्चस्ववाद का गहरा असर है और जातिगत पूर्वाग्रह उसके भीतर भी मौजूद हैं। इसलिए अस्मिता के आधार पर संगठित किसी भी जाति का आन्दोलन चाहे वह दलित जातियों का हों या ग़ैर-दलित जातियों का, अन्ततः मेहनतकश आबादी की वर्ग एकजुटता को स्थापित करने में बाधा खड़ी करेगा। महाराष्ट्र की चुनावी राजनीति में रामदास अठावले की रिपब्लिकन पार्टी इस तर्क का इस्तेमाल कर लम्बे समय से अपनी चुनावी गोटियाँ लाल कर रही है। इसी का नतीजा है कि फ़िलहाल वह मोदी सरकार की गोद में बैठकर दलित हितों की 'रक्षा' कर रही है!

वैसे तो औपनिवेशिक काल (और उससे पहले भी) जातिगत बँटवारे और उसके अन्तर्गत होने वाली किसी भी गोलबन्दी का इस्तेमाल शासक वर्गों ने अपने हित साधन के लिए ही किया है लेकिन आज की परिस्थितियों में जातिगत या किसी भी अन्य अस्मिता पर खड़े किये आन्दोलन अपनी प्रकृति से ही जनविरोधी हैं और व्यापक जनता की वर्गीय एकजुटता पर प्राणान्तक चोट करते हैं। यह सच है कि यह वर्गीय एकजुटता पहले से बनी हुई नहीं है। वह भी एक सम्भावना-सम्पन्नता के तौर पर मौजूद है। जैसा कि आमतौर पर इतिहास में होता है, हमेशा प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी सम्भावना-सम्पन्नताएँ मौजूद होती हैं, प्रश्न यह होता है कि कौन-सा अभिकर्ता किस सम्भावना-सम्पन्नता को अपनी प्रैक्सिस के ज़रिये यथार्थ में रूपान्तरित कर सकता है। यह सच है कि विभिन्न जातियों के बीच ऐतिहासिक तौर पर जो अन्तर व्याप्त हैं वे वर्गीय एकजुटता क़ायम करने की राह में एक बाधा का काम करते हैं। हम कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि मराठा आबादी स्वतः इस बात के लिए तैयार हो जायेगी कि दलित जातियों के ग़रीब घरों से आने वाले नौजवान और ग़रीब मराठा नौजवानों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर अपनी माँगों को लेकर लड़ें। वैसे तो यह एक अत्यन्त पेचीदा विषय है, जिसको सीधे तौर पर सम्बोधित करना इस लेख की सीमा से परे है, लेकिन हम नुक्तेवार कुछ बातें कर सकते हैं।

आज शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों से और विशेषकर ग़रीब घर से आने वाले नौजवानों के लिए जातिगत पार्थक्य पहले के मुक़ाबले टूटा है। मिसाल के तौर पर, आनुवांशिक श्रम विभाजन और साथ खाने-पीने से जुड़े जातिगत पूर्वाग्रह काफ़ी हद तक कमज़ोर हो चुके हैं। जो एक चीज़ बनी हुई है वह है 'बेटी के रिश्ते' का सवाल जो कि आज भी बना हुआ है। कारण यह कि पहले दो गुण पूँजीवादी व्यवस्था के संचय के तर्क से मेल नहीं खाते और अन्तरजातीय विवाह का प्रश्न पूँजीवादी संचय के लिए कोई बाधा नहीं पैदा करता, उल्टे वह निजी सम्पत्ति को उससे भी ज़्यादा पवित्र बना देता है, जितना कि पूँजीवाद उसे बनाता है। पूँजी की चतुर्दिक मार ने दलितों और ग़ैर-दलित जातियों के नौजवानों को कॉल सेण्टरों से लेकर फ़ैक्टरियों में, खेतिहर मज़दूरों के रूप में बड़े-बड़े भूस्वामियों की ज़मीन पर, एक साथ खड़ा होने और काम करने को बाध्य कर दिया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जातिगत पार्थक्य इससे स्वतः ही टूट गया है। यह स्वतःस्फूर्त ढंग से होना बेहद मुश्किल है। इसके लिए क्रान्तिकारी 'सब्जेक्टिविटी' के सचेतन हस्तक्षेप की आवश्यकता है। लेकिन यह भी सही है कि पूँजीवाद द्वारा जाति व्यवस्था की दो

बुनियादी चारित्रिक आभिलाक्षणिकताओं और दिक् व काल के आयामों में मौजूद पार्थक्य को तोड़ने या कम कर देने के कारण एक क्रान्तिकारी हस्तक्षेप के ज़रिये जातियों को तोड़ने की ज़्यादा मुफ़ीद ज़मीन ज़रूर पैदा हो गयी है। यह ज़रूर है कि चुनाव इत्यादि में यही लोग विकल्पहीनता और मानसिक संकीर्णता के चलते अपना निर्णय जातिगत आधार पर ही करते हैं, और कई 'क्रूशियल' मसलों पर यही पैमाना इनको ज़्यादा सुलभ दिखाई देता है। लेकिन इसका एक प्रमुख कारण किसी क्रान्तिकारी विकल्प और हस्तक्षेप की अनुपस्थिति भी है। फिर भी, स्थितियाँ आज पहले से काफ़ी बदल चुकी हैं, हालाँकि पूरे भारत के बारे में एक सामान्यीकरण प्रस्तुत कर पाना सम्भव नहीं है। जातिगत बन्धनों से मुक्त होकर प्रेम विवाह करने के लिए और इसके अन्तर्गत हर ख़तरे को उठाने के लिए तैयार रहने की घटनाएँ आज अगर प्रचलन में नहीं तो अपवाद भी नहीं है, हालाँकि ऐसी घटनाएँ गाँवों में अपेक्षाकृत कम होती हैं।

राजनीतिक और आर्थिक मुद्दों को लेकर क्रान्तिकारी नेतृत्व में वर्ग आधारित सशक्त आन्दोलन इन्हें वह ज़मीन मुहैय्या करायेंगे जहाँ इस जातिगत अन्तरविरोध की परिघटना को भेदकर वर्गीय अन्तर्वस्तु तक पहुँचने की सम्भावना तैयार होगी। शासक वर्गों के रूप में विभिन्न जातियों से आने वाले अपने दुश्मनों को साथ खड़ा देखकर, उनकी पुलिस और फ़ौज से एक साथ ही सड़कों पर मुक़ाबला करते हुए उन्हें इस बात का अहसास होने की ज़मीन तैयार हो सकेगी कि उनके असली दोस्त और दुश्मन कौन हैं। ज़ाहिरा तौर पर यह बात करने वाला मैं कोई पहला व्यक्ति नहीं हूँ और न जाने कितनी बार ये सही बातें कही और लिखी गयी होंगी. लेकिन सही बातें कहते रहने में कोई हर्ज़ नहीं है और यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगा कि ज़मीन पर उतरकर इस तरह की कोशिशें कम ही हुई हैं। आज भी राजनीतिक दायरों में अस्मितावादी राजनीति का ही बोलबाला है और इसके ख़िलाफ़ पक्ष चुनने वालों को, या जनता के बीच इसकी असलियत उजागर करने वालों को 'कुलीनतावादी' का तमगा पहना दिया जाता है। वामपन्थी दायरों में भी अस्मितावाद और अम्बेडकरवाद के साथ मार्क्सवादी विज्ञान का मिश्रण करने या फिर अनजाने में दलितों के प्रति दयाभाव प्रदर्शित कर अस्मितावादी राजनीति के आग्रहों को 'दलितों की आह' बताकर सहयोजित करने की प्रवृत्ति मौजूद है।

इस पूरे आन्दोलन के केन्द्र में जो एक सबसे महत्वपूर्ण पहलू होना चाहिए था और चाहे-अनचाहे जिसे पूरी तरह नज़रअन्दाज किया गया, वह था स्त्री विरोधी अपराधों के विरुद्ध सरकार को कठघरे में खड़ा करना और इनके ख़िलाफ़ राज्य को कड़े क़दम उठाने के लिए बाध्य करना था। लेकिन दोषियों को मृत्युदण्ड दिलाये जाने की माँग से इतर, इस लिहाज़ से और कोई माँग नहीं उठायी गयी। 'दामिनी काण्ड' के विरोध में देशभर से लेकर राजधानी दिल्ली में बने जन-दबाव ने सरकार को 'बैकफुट' पर ला दिया था और जस्टिस वर्मा समिति गठित करने के लिए बाध्य कर दिया था। न सिर्फ़ इतना, बल्कि पूँजीवाद के अन्तर्गत लगातार खाद-पानी प्राप्त कर रही स्त्री विरोधी पूँजीवादी संस्कृति को आम जनता के बीच एक बहस के मुद्दे के तौर पर स्थापित कर दिया था। एन.सी.आर.बी. द्वारा जारी आँकड़ों के अनुसार महिलाओं के ख़िलाफ़ होने वाले अपराधों

में महाराष्ट्र उत्तरप्रदेश और पश्चिम बंगाल के बाद तीसरे नम्बर पर आता है। बलात्कार के मामलों में यह मध्य प्रदेश के बाद दूसरे नम्बर पर है। पिछले वर्ष यहाँ पर महिलाओं के विरुद्ध होने वाले अपराध, जो कि पुलिस रिकॉर्ड में दर्ज किये गये उनकी संख्या थी 33,218। ज़ाहिरा तौर पर कुल अपराधों की संख्या इससे कहीं ज़्यादा रही होगी। लेकिन सांस्कृतिक और शैक्षणिक तौर पर अत्यन्त पिछड़ी मराठा आबादी के जातिगत आधार पर उभरे आन्दोलन में ऐसी किसी माँग की अनुगूँज नहीं ही सुनाई देगी।

ग़ौरतलब है कि कोपर्दी में हुए इस बर्बर काण्ड का शिकार हुई लड़की, महज़ 14 साल की थी और हॉकी खेलने दूसरे गाँव जाती थी। उसका इस प्रकार 'मॉडर्न' होना कुछ लोगों को खटकने लगा। वे 'दलित' थे यह तो दर्ज किया गया लेकिन वे 'पुरुष' भी थे जिन्हें पूँजीवादी संस्कृति से प्राप्त खाद-पानी ने मानवद्रोही होने की कगार तक पहुँचा दिया था। इस तथ्य को नज़रअन्दाज़ कर दिया गया। हर अस्मितावादी आन्दोलन तमाम सारी जटिलताओं और अन्तरविरोधों को पृष्ठभूमि में ढकेल देता है, या कहें कि उन्हें 'लील' जाता है। स्त्री-विरोधी मानसिकता से लेकर जातिगत उत्पीड़न के केन्द्र में ये पूँजीवादी व्यवस्था और उसकी संस्कृति है, जो हर दिन इन्हें सहयोजित करती है और इनका पोषण करती है। इसकी मिसाल के तौर पर, गिन्नी माही नामक एक दलित गायक के बनाये हुए गीतों, जैसे कि 'डेंजर चमार' और 'फ़ैन बाबा साहेब दी' को देखकर आप समझ सकते हैं कि दमित जनता के प्रतिरोध की संस्कृति और संगीत किस प्रकार पूँजीवादी 'परवर्जन' का शिकार होता है। इसके म्यूज़िक वीडियो में ही आप पौरुषिकता के पूँजीवादी रूपों को अपने सबसे भौंडे रूपों में देख सकते हैं। ये म्यूज़िक वीडियो और इनका संगीत पंजाब के धनी जट्ट पॉप स्टारों की शैली की पूरी नक़ल करता है और वास्तव में यह संगीत स्वयं पंजाब में दलितों में पैदा हुए एक छोटे-से धनिक वर्ग के 'एसर्शन' को दिखलाता है, न कि ग़रीब दलितों के जीवन की तकलीफ़ों और संघर्षों को। लेकिन अस्मितावादी राजनीति के भँवर में फँसे कई वामपन्थी टिप्पणीकार भी गिन्नी माही जैसे गायकों को दलित 'एसर्शन' का प्रतीक मानते हैं। इसके बारे में जितना कम कहा जाये उतना बेहतर है। लुब्बेलुबाब यह कि अस्मितावादी ज़मीन पर खड़े होकर आज कोई भी आन्दोलन या सांस्कृतिक उत्पाद केवल शासक वर्गों की सेवा कर सकता है।

अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव

डोनाल्ड ट्रम्प की जीत के निहितार्थ

● आनन्द सिंह

अमेरिका में नवम्बर 2016 में हुए राष्ट्रपति चुनावों में नस्लवादी, स्त्रीद्वेषी, मुस्लिम-विरोधी व धुर-दक्षिणपन्थी ख़रबपति डोनाल्ड ट्रम्प की जीत के बाद पश्चिम जगत का उदारवादी तबक़ा स्तब्ध है। ग़ौरतलब है कि इन चुनावों में अमेरिका के पूँजीपति वर्ग के बड़े हिस्से ने हिलेरी क्लिंटन पर अपना दाँव लगाया था क्योंकि उनका मानना था कि क्लिंटन पूँजी के हितों की हिफ़ाज़त करने में ज़्यादा सक्षम उम्मीदवार थी। ट्रम्प एक पूँजीपति होते हुए भी वॉल स्ट्रीट के वित्तीय महाप्रभुओं का चहेता नहीं बन पाया था क्योंकि उनकी नज़रों में वह बहुत अस्थिर और अननुमेय था और उसके बड़बोलेपन से अमेरिकी शासक वर्ग के चेहरे से उदारवादी मुखौटे के उतरने का ख़तरा था जिसको उन्होंने साम्राज्यवाद की चौधराहट के पूरे कालखण्ड में लगाया हुआ था। अमेरिकी मीडिया का बड़ा हिस्सा भी अमेरिका के इतिहास में पहली बार एक महिला राष्ट्रपति बनने की भविष्यवाणियाँ कर रहा था। ऐसे में ट्रम्प की जीत ने अमेरिकी राजनीतिक समीकरणों में बहुत बड़ा उलटफेर कर दिया। ब्रिटेन के यूरोपीय संघ से बाहर निकलने के फ़ैसले (ब्रेक्ज़िट) के बाद अब ट्रम्प जैसे व्यक्ति के साम्राज्यवाद के नये सिरमौर के रूप में पदासीन होने के निहितार्थ अमेरिका ही नहीं समूचे विश्व के लिए गहरे हैं और इसीलिए दुनिया भर में तमाम राजनीतिक विश्लेषक इसकी तरह-तरह से व्याख्याएँ कर रहे हैं।

उदारवादी बुर्जुआ विश्लेषक ट्रम्प की इस अप्रत्याशित जीत के

लिए अमेरिका में बढ़ते नस्लभेद, मुस्लिम-विरोध और स्त्री-विरोधी मानसिकता को मुख्य रूप से ज़िम्मेदार मानते हैं। ग़ौरतलब है कि ये वही विश्लेषक हैं जो 8 साल पहले बराक ओबामा के राष्ट्रपति बनने के बाद अमेरिकी लोकतन्त्र की शान में कसीदे पढ़ रहे थे और यह दावा कर रहे थे कि अमेरिका में नस्लभेद इतिहास की चीज़ बन चुकी है क्योंकि उस चुनाव में बड़ी संख्या में गोरे अमेरिकियों ने ओबामा को वोट दिया था। दरअसल ऐसे विश्लेषकों के विश्लेषण में वर्ग-विश्लेषण सिरे से गायब होता है जिसकी वजह से वे कभी इस छोर तो कभी उस छोर पर दोलन करते रहते हैं। ज़ाहिरा तौर पर वर्ग-विश्लेषण के मार्क्सवादी उपकरण के द्वारा ही हम इस अन्तर्विरोधी परिघटना को समझ सकते हैं कि जिस समाज में अभी कुछ वर्षों पहले ही एक अश्वेत व्यक्ति राष्ट्रपति चुना गया था उसी समाज में एक घोर नस्लवादी व्यक्ति कैसे चुनाव जीत सकता है।

ट्रम्प की जीत की वजहें

ट्रम्प की जीत के कारणों को गहराई से समझने के लिए हमें इतिहास में थोड़ा पीछे जाना होगा क्योंकि अमेरिका की जिन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों ने ट्रम्प रूपी दानव को जन्म दिया है उनके समकालीन इतिहास की शुरुआत 2007 की मन्दी में देखी जा सकती है। ग़ौरतलब है कि 2007 में अमेरिका में आवासीय बुलबुले के फटने के साथ शुरू हुई विश्वव्यापी महामन्दी अभी तक जारी है। वैसे तो पूँजीवाद अपने जन्म से ही एक चक्रीय मन्दी का शिकार होता रहा है, लेकिन मौजूदा महामन्दी 1930 के दशक की महामन्दी के बाद से सबसे बड़ी मन्दी है और उससे उबरने की प्रक्रिया भी उस 1930 के दशक की उस महामन्दी के बाद से सबसे सुस्त रही है। मन्दी की मार से जहाँ एशिया, अफ्रीका और लातिन अमेरिका के मेहनतकश लोग कंगाली और भुखमरी की समस्या से जूझ रहे हैं वहीं अमेरिका और यूरोप के विकसित देशों का मज़दूर और मध्यवर्गीय तबक़ा भी इसकी चपेट में आ गया है। वैसे विकसित देशों की मेहनतकश जनता की समृद्धि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के कुछ वर्षों तक ही रही थी जिसे अमेरिकी पूँजीवाद का स्वर्ण युग कहा जाता है। 1960 के दशक से ही अमेरिका के मज़दूर वर्ग की आमदनी में कमी की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। 1980 के दशक में नवउदारवाद और भूमण्डलीकरण के प्रादुर्भाव ने अमेरिका के मेहनतकश वर्ग को और झटका दिया जब मुनाफ़े की गिरती दर को रोकने के लिए अमेरिकी पूँजीपति सस्ते श्रम के लालच में अपने कारख़ाने अमेरिका से हटाकर तीसरी दुनिया के देशों की ओर रुख़ करने लगे थे। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप अमेरिका का डेट्रॉयट जैसा शहर, जो कभी ऑटोमोबाइल मैन्युफ़ैक्चरिंग का गढ़ माना जाता था, उजाड़ हो गया।

हालाँकि मौजूदा विश्वव्यापी महामन्दी के दौरान अमेरिकी अर्थव्यवस्था अन्य विकसित अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में थोड़ा बेहतर प्रदर्शन किया है, लेकिन निरपेक्ष रूप में देखने पर यह प्रदर्शन बेहद फिसड्डी रहा है। इस मन्दी के बाद से अमेरिका में प्रति व्यक्ति वास्तविक जीडीपी वृद्धि दर मात्र 1.4 प्रतिशत रही जो इस मन्दी के पहले के दौर की तुलना में बेहद कम है। उससे भी भयावह बात यह है कि भविष्य में भी इससे उबरने के आसार नहीं नज़र आ रहे हैं। उल्टे कुछ

अर्थशास्त्री तो भविष्य में एक दूसरी मन्दी की बातें भी कर रहे हैं जो मौजूदा मन्दी से भी ख़तरनाक साबित हो सकती है।

जब मौजूदा मन्दी की शुरुआत हुई थी तब अमेरिका में रिपब्लिकन पार्टी का जॉर्ज बुश राष्ट्रपति था। 2008 के राष्ट्रपति चुनाव में अमेरिकी जनता ने रिपब्लिकन पार्टी को ख़ारिज़ कर डेमोक्रैटिक पार्टी के बराक ओबामा को इस उम्मीद में राष्ट्रपति चुना था कि उसकी नीतियाँ मन्दी से उबारेंगी। उस चुनाव में ओबामा बदलाव और आशा के खोखले नारे देकर अमेरिकी जनता के अच्छे-ख़ासे हिस्से को बरगलाने में क़ामयाब हो गया था क्योंकि अमेरिका के लोग मन्दी के असर से ख़ौफ़ज़दा थे। बुर्जुआ विश्लेषक जिसे नस्लवाद पर जीत की संज्ञा दे रहे थे वह दरअसल अमेरिकी जनता की मन्दी से निजात पाने की तड़प की अभिव्यक्ति थी। लेकिन ओबामा के दो कार्यकाल पूरा होने पर भी अमेरिकी अर्थव्यवस्था मन्दी के भँवरजाल से बाहर नहीं निकल पायी है। ओबामा ने जनता की गाढ़ी कमाई से कई ट्रिलियन डॉलर के बेलआउट पैकेज देकर बैंकों और वित्तीय महाप्रभुओं को जीवनदान दिया जिसका फ़ायदा बैंकों और उनके शीर्ष अधिकारियों को ही हुआ, जबकि आम लोगों की ज़िन्दगी की परेशानियाँ कम होने की बजाय बढ़ती ही गयीं।

ओबामा की नीतियों का फ़ायदा किस तरह से समाज की मुट्ठी भर रईस आबादी को हुआ, यह इस आँकड़े से स्पष्ट है कि अमेरिका में 2009-2012 के दौरान 95 प्रतिशत आय में बढ़ोतरी शीर्ष की 1 फ़ीसदी आबादी के खाते में गयी। 2015 में अमेरिका के शीर्ष 500 सीईओ की आय वहाँ के मज़दूरों की औसत आय का 335 गुना थी। यही नहीं अमेरिका में रोज़गार के नये अवसर नहीं पैदा हो रहे हैं और पिछले आठ वर्षों के दौरान मज़दूर वर्ग के साथ ही साथ टटपुँजिया मध्य वर्ग की भी आमदनी और क्रयशक्ति में तेज़ी से गिरावट देखने में आयी है। आर्थिक संकट की परिस्थिति में अमेरिकी राज्य के लिए जनता को सामाजिक सुरक्षा और बुनियादी सुविधाओं को जारी रखना मुमकिन नहीं रह गया और ‘ऑस्टेरिटी’ (किफ़ायतशाही) इन सुविधाओं में भी ज़बरदस्त कटौती की जानी लगी। इसका नतीजा अमेरिकी समाज में आर्थिक असमानता की खाई के चौड़ा होने के रूप में सामने आया। इस घोर आर्थिक असमानता की अभिव्यक्ति टटपुँजिया वर्ग के नेतृत्व में चले ‘ऑक्युपाई वॉल स्ट्रीट’ आन्दोलन में भी हुई थी जिसका निशाना कॉरपोरेट पूँजी थी। 2012 के राष्ट्रपति चुनाव में हालाँकि ओबामा को जीत हासिल हुई थी, लेकिन उसे 2008 के मुक़ाबले बहुत कम वोट मिले थे जो डेमोक्रैटिक पार्टी की घटती लोकप्रियता का ही संकेत था।

अमेरिका का बुर्जुआ लोकतन्त्र वहाँ के लोगों को राष्ट्रपति चुनने का जो अधिकार देता है उसका इस्तेमाल करके ज़्यादा से ज़्यादा लोग यह कर सकते हैं कि बुर्जुआ वर्ग के एक नुमाइन्दे से त्रस्त आकर बुर्जुआ वर्ग के दूसरे नुमाइन्दे को चुन लें। इस बार के अमेरिकी राष्ट्रपति चुनावों में अमेरिकी जनता का गुस्सा डेमोक्रैटिक पार्टी ही नहीं बल्कि पूरे बुर्जुआ लोकतन्त्र के ख़िलाफ़ देखने में आया। यह इस बात से समझा जा सकता है कि इस बार के चुनाव में 45 प्रतिशत मतदाताओं ने किसी भी उम्मीदवार के पक्ष में वोट नहीं डाला। हिलेरी क्लिंटन और डोनाल्ड ट्रम्प दोनों को महज़ 26-26 प्रतिशत के आसपास ही वोट मिले। हालाँकि ट्रम्प को पिछले चुनाव में

रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार मिट रॉमनी के मुक़ाबले ज़्यादा वोट नहीं मिले लेकिन वह अपने चुनाव प्रचार के दौरान कुशलतापूर्वक हिलेरी क्लिंटन को जो शासक कुलीन तबक़े के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत करने में और ख़ुद को उस कुलीन तबक़े से बाहर का आदमी साबित करने में सफल रहा। हिलेरी क्लिंटन की तमाम कोशिशों के बावजूद उसकी कॉरपोरेट-परस्ती जनता की निगाहों से नहीं छिप सकी। इसका नतीजा हिलेरी क्लिंटन और डेमोक्रैटिक पार्टी के पक्ष में डाले गये वोटों में ज़बरदस्त कमी के रूप में सामने आया जिसका लाभ ट्रम्प को हुआ। विस्कॉन्सिन, पेन्सिलवेनिया और मिशीगन जैसे राज्य जो कभी डेमोक्रैटिक पार्टी के गढ़ हुआ करते थे उनमें मज़दूर वर्ग का गुस्सा हिलेरी क्लिंटन और डेमोक्रैटिक पार्टी पर जमकर फूटा जिसका लाभ डोनाल्ड ट्रम्प को हुआ। ग़ौरतलब है कि ये वे राज्य हैं जो कभी अमेरिका के मैन्युफ़ैक्चरिंग के केन्द्र हुआ करते थे, लेकिन जो भूमण्डलीकरण के दौर में अब उजड़ चुके हैं। इन राज्यों को 'रस्ट बेल्ट' (जंग खाये इलाक़े) कहा जाता है क्योंकि भूमण्डलीकरण के दौर से पहले के ये समृद्ध राज्य अब तबाह हो चुके हैं।

हालाँकि ट्रम्प ख़ुद एक पूँजीपति और धनपशु है लेकिन उसने आर्थिक मुश्किलों से जूझ रहे अमेरिकी मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग के गुस्से को अपनी सस्ती लोकरंजक जुमलेबाज़ी के ज़रिये जमकर भुनाया। किसी क्रान्तिकारी ताक़त की अनुपस्थिति में अमेरिकी जनता के पास भविष्य के किसी विकल्प न होने की सूरत में ट्रम्प की बातें जँचीं। ट्रम्प ने उन्हें अमेरिका को फिर से महान बनाने के सब्ज़बाग दिखाये। जिस तरह 2008 में लोगों ने बदलाव की आशा में ओबामा को वोट दिया दिया था उसी तरह इस बार तमाम लोगों ने ट्रम्प को आज़माना चाहा है, हालाँकि ट्रम्प की जीत ओबामा की जीत से बहुत छोटी है। ट्रम्प ने मन्दी और छँटनी से जूझ रहे लोगों को यह यक़ीन दिलाया कि उनकी समस्याओं की वजह बाहर से आ रहे प्रवासी मज़दूर हैं जो मेक्सिको, चीन व एशिया-अफ़्रीका के देशों से आकर उनकी नौकरियाँ छीन रहे हैं। उसने यहाँ तक कहा कि राष्ट्रपति बनने के बाद आप्रवासन रोकने के लिए वह अमेरिका और मेक्सिको की सीमा पर ऊँची दीवार बनवायेगा और उसका ख़र्च मेक्सिको की सरकार से वसूलेगा। उसने मेक्सिको के लोगों को बलात्कारी और हत्यारा तक कहा। यही नहीं उसने मुसलमानों के ख़िलाफ़ नफ़रत को चरम पर ले जाते हुए कहा कि राष्ट्रपति बनने के बाद वह मुसलमानों को अमेरिका में आने पर प्रतिबन्ध लगा देगा। भूमण्डलीकरण की मार से कराह रही आम आबादी को उसने यक़ीन दिलाया कि सत्ता में आने के बाद वह ऐसी नीतियाँ लायेगा जिससे अमेरिकी कम्पनियाँ विदेशों में निवेश करने की बजाय अमेरिका में ही निवेश करेंगी जिससे कि वहाँ नये रोज़गार के अवसर पैदा होंगे। उसने लोगों को बताया कि अमेरिकी कम्पनियों का मुनाफ़ा इसलिए कम हो रहा है क्योंकि पर्यावरण सुरक्षा के नाम पर उनका ख़र्च बहुत बढ़ जाता है। उसने सत्ता में आने के बाद पर्यावरण सुरक्षा सम्बन्धी नीतियों को किनारे लगाकर पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़ाने के बात की और लोगों को यक़ीन दिलाया कि पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़ेगा तो उनकी ज़िन्दगी में भी बेहतरी आयेगी। उसने मध्य-पूर्व में अमेरिकी सैन्य कार्रवाइयों को और ज़्यादा आक्रामक करने की ज़रूरत पर बल देते हुए कहा

कि अमेरिका को फिर से महान बनाने के लिए दुनिया को डराकर रखना होगा। उसने मुस्लिमों, महिलाओं, अश्वेतों, प्रवासियों को निशाने पर लिया जो गोरे टटपुँजिया वर्ग और मज़दूर वर्ग के एक हिस्से के लिए 'पराये' थे। ट्रम्प ने उन्हें यक़ीन दिलाया कि वे 'पराये' ही दरअसल उनकी बरबादी के लिए ज़िम्मेदार हैं। उसने अपनी छवि एक "निर्णायक और सशक्त" नेता के तौर पर बनायी जो टटपुँजिया वर्ग को बहुत अपील करता है। वर्ग चेतना के अभाव, लम्बे समय से किसी सशक्त मज़दूर आन्दोलन की अनुपस्थिति और अमेरिकी ट्रेड यूनियन आन्दोलन में नस्लवाद के लम्बे इतिहास को देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अमेरिका के मज़दूर वर्ग के एक हिस्से को ट्रम्प की घनघोर मज़दूर-विरोधी बातें भी रास आयीं और उन्होंने ट्रम्प जैसे लम्पट और अय्याश पूँजीपति के पक्ष में वोट देने से भी गुरेज़ नहीं किया।

क्या ट्रम्प की जीत के साथ ही अमेरिका में फ़ासीवाद आ गया है?

ट्रम्प ने अपने चुनाव प्रचार के दौरान अन्धराष्ट्रवादी, मुस्लिम-विरोधी, प्रवासी-विरोधी और नस्लवादी बयान ख़ूब दिये, जिसको देखते हुए अमेरिका की उदारवादी बुद्धिजीवी जमात और कुछ वाम हलक़ों में ट्रम्प को फ़ासीवादी क़रार दिया जाने लगा है। ट्रम्प की जीत निश्चय ही अमेरिका में फ़ासीवाद की ज़मीन के उपजाऊ होने का सूचक है, लेकिन यह कहना सटीक नहीं होगा कि ट्रम्प की जीत से अमेरिका में फ़ासीवाद आ गया है। विश्वव्यापी महामन्दी के मौजूदा दौर में दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में प्रतिक्रियावादी एवं धुर-दक्षिणपन्थी राजनीति का उभार देखने में आया है। लेकिन हर प्रतिक्रियावादी उभार को फ़ासीवाद कहना भूल होगी। फ़ासीवाद एक काडर आधारित पार्टी के नेतृत्व में व्यापक सामाजिक आधार वाला टटपुँजिया वर्ग का एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन होता है जिसकी एक सुस्पष्ट विचारधारा होती है जो पूँजीवाद के संकट के काल में फलती-फूलती है और जिसके मुख्य निशाने पर मज़दूर आन्दोलन होता है। ट्रम्प के उभार में ये पहलू अनुपस्थित हैं। यह सच है टटपुँजिया वर्ग के बड़े हिस्से ने ट्रम्प की चुनावी लहर का समर्थन किया, लेकिन व्यापक साामाजिक आधार वाला ऐसा कोई प्रतिक्रियावादी आन्दोलन हो, यह नहीं कहा जा सकता। ट्रम्प की कोई गुण्डावाहिनी नहीं है जो हिटलर की 'एसए' या मुसोलिनी की 'ब्लैक शर्ट्स' की तरह सड़कों पर मज़दूर आन्दोलन और प्रगतिशीलों पर हमला करती हो। ट्रम्प एक पूँजीपति है जिसने रियल एस्टेट, शेयर बाज़ार, जुआघर, गोल्फ़ कोर्स और मनोरंजन उद्योग में निवेश किया है। अभी कुछ साल पहले तक वह राजनीति की दुनिया से बाहर था और रिपब्लिकन और डेमोक्रैट दोनों पार्टियों को चुनावों से पहले बतौर पूँजीपति फ़ण्ड देता रहा था। उसका किसी फ़ासीवादी संगठन या विचारधारा से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। अमेरिका में 'कू-क्लक्स-क्लैन' और 'ओथ टेकर्स' जैसे नव-फ़ासिस्ट और घोर-दक्षिणपन्थी समूह ज़रूर सक्रिय हैं और उन्होंने इन चुनावों में ट्रम्प को समर्थन भी दिया और उसकी जीत पर जश्न भी मनाया, लेकिन वे अभी भी हाशिये पर हैं।

अगर ट्रम्प फ़ासीवादी नहीं है तो फिर आख़िर उसकी राजनीति है क्या? क्या वह रिचर्ड

निक्सन, रोनाल्ड रीगन और जॉर्ज बुश की ही तरह एक और दक्षिणपन्थी नेता है? जवाब है नहीं! दरअसल ट्रम्प की राजनीति व्यवहारवादी (प्रैगमैटिस्ट) दर्शन की धुर-दक्षिणपन्थी अभिव्यक्ति है। व्यवहारवाद के अनुसार सत्य इस्तेमाल से ही पैदा होता है। अमूर्तन और नियमबद्धता को ख़ारिज़ करते हुए वह सिद्धान्त की बजाय कार्रवाई पर ज़ोर देता है ज़रूरत के अनुसार किसी भी पद्धति का इस्तेमाल करने की बात करता है। ट्रम्प रिपब्लिकन पार्टी के उस धुर-दक्षिणपन्थी धड़े का प्रतिनिधित्व करता है जिसका सामाजिक आधार गोरे टटपुँजिया वर्ग व मज़दूर वर्ग का एक हिस्सा है और जो अमेरिका के पूर्वी तट के वित्तीय महाप्रभुओं से उतनी ही नफ़रत करता है जितनी वह अश्वेतों और प्रवासियों से करता है।

ट्रम्प का उभार ऐसे दौर में हुआ है जब दुनिया के विभिन्न हिस्सों में आर्थिक संकट की परिस्थिति में जहाँ एक ओर शासक वर्ग पुराने तरीक़े से सत्ता नहीं चला पा रहा है और वहीं दूसरी ओर उसकी सत्ता को चुनौती देने वाला कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन भी अनुपस्थित है। ऐसी परिस्थिति में पूँजीवाद के भीतर से ही भाँति-भाँति की व्यवहारवादी-लोकरंजकतावादी (दक्षिणपन्थी और वामपन्थी दोनों क़िस्म के) ताक़तें उभर रही हैं। इस बार के अमेरिकी राष्ट्रपति चुनावों में दक्षिणपन्थी व वामपन्थी लोकरंजकतावाद की बानगी देखने को मिली। जहाँ ट्रम्प दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद का प्रतिनिधित्व कर रहा था वहीं बर्नी सैण्डर्स (जो डेमोक्रैटिक पार्टी के कन्वेंशन में हिलेरी क्लिंटन से हार गया था और जिसने बाद में क्लिंटन को अपना समर्थन दिया) वामपन्थी लोकरंजकतावाद की बानगी पेश कर रहा था। यूरोप में लोकरंजकतावाद की ये दोनों क़िस्में देखने में आ रही हैं। जहाँ यूनान में सिरिजा और स्पेन में पोदेमॉस के उभार में वामपन्थी लोकरंजकतावाद का उदाहरण देखने को आया वहीं फ़्रांस में फ़्रण्ट नेशनेल (एफ़एन) की मैरीन ली पेन, ब्रिटेन में यूकेआईपी के नाइज़ेल फ़ैराज़, जर्मनी में एएफ़डी का उभार दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावाद की बानगी पेश कर रहा है।

लेकिन साथ ही भविष्य में इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि ट्रम्प का उभार अमेरिका में फ़ासीवादी राजनीति के उपजाऊ होने का सूचक है। ट्रम्प के राष्ट्रपति बनने के बाद अमेरिका में फ़ासीवादी राजनीति की ज़मीन निश्चय ही मज़बूत होगी और जो रुझान अभी हाशिये पर हैं वे मुख्यधारा भी बन सकते हैं।

ट्रम्प की भावी नीतियाँ और मज़दूर आन्दोलन की चुनौतियाँ

हालाँकि अमेरिका के पूँजीपति वर्ग के बड़े हिस्से और वॉल स्ट्रीट ने ट्रम्प पर अपना दाँव नहीं लगाना श्रेयस्कर नहीं समझा था, लेकिन उसके राष्ट्रपति बनने के बाद उनको यह तसल्ली है कि ट्रम्प थोड़ा बड़बोला भले हो लेकिन उनका अपना ही आदमी है। इसके संकेत अमेरिकी शेयर बाज़ार से मिल रहे हैं, जोकि ट्रम्प की जीत के बाद से उछाल पर है। यही नहीं अमेरिकी डॉलर की क़ीमत में भी ट्रम्प की जीत के ठीक बाद उछाल देखने को आया है। यह लेख लिखे जाने तक ट्रम्प ने अपने मन्त्रालय में कैबिनेट पोस्ट के लिए जिन 17 लोगों को चुना है उनकी सम्पत्ति अमेरिका के

एक-तिहाई घरों की कुल सम्पत्ति से ज़्यादा है। ट्रम्प के मन्त्रिमण्डल में बैंकरों से लेकर हेज फ़ण्ड मैनेजर और राष्ट्रपारीय निगमों के पूर्व सीईओ तक शामिल हैं। मौक़े की नज़ाक़त को समझते हुए वित्तीय पूँजी ने ट्रम्प को अपने आगोश में लेना शुरू कर दिया है। ट्रम्प ने भी जीत के बाद अपने बयानों में कुछ विवादास्पद वायदों से पलटने के संकेत दे दिये हैं।

ट्रम्प ने जो वायदे किये हैं उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो अमेरिकी वित्तीय महाप्रभुओं के हितों से मेल खाते हैं। ज़ाहिरा तौर पर ऐसे वायदों को पूरा करने में ट्रम्प ज़रा भी देरी नहीं करेगा क्योंकि ऐसा करना वित्तीय पूँजी के भी हित में होगा। मसलन, उसका एक बड़ा वायदा कॉरपोरेट कर और आयकर में कटौती करने का है। ऐसी कोई भी कटौती अमेरिका के शीर्ष के 1 प्रतिशत धनपशुओं के हित में होगी जिसका पूँजीपति वर्ग पलक-पाँवड़े बिछाकर स्वागत करेगा। इसके अलावा ट्रम्प ने बैंकों के विनियमन और श्रम अधिकारों में कटौती करने का भी वायदा किया है जो पूँजीपति भी चाहते हैं। यही नहीं ट्रम्प ने यह भी कहा कि उसकी आने वाले 4 वर्षों में पूरे देश में नये इंफ्रास्ट्रक्चर और निवेश प्रोज़ेक्टों में 1 ट्रिलियन डॉलर ख़र्च करने की योजना है। ग़ौरतलब है कि ट्रम्प जिस ख़र्च की बात कर रहा है वह सरकारी नहीं निजी खिलाड़ियों की अगुवाई में होगा। सरकार बस ऐसे निवेश को प्रोत्साहन देगी। बड़ी निर्माण कम्पनियाँ व रियल एस्टेट कम्पनियाँ (ट्रम्प ख़ुद ऐसी कम्पनियों का मालिक है) इस घोषणा से बहुत ख़ुश हैं क्योंकि उनको मुनाफ़ा कूटने के नये अवसर मिलेंगे।

जिन मुद्दों पर ट्रम्प के वायदों और पूँजीपति वर्ग के हितों में टकराहट होने की सम्भावना है वे हैं व्यापार संरक्षणवाद और आप्रवासन में बन्दिशें। अमेरिका में नौकरियाँ बढ़ाने के नाम पर ट्रम्प जापान और एशिया के साथ क्षेत्रीय व्यापार समझौते ट्रांस-पेसिफ़िक पार्टनरशिप (टीपीपी) और यूरोप के साथ व्यापार समझौते ट्रांस एटलांटिक ट्रेड एण्ड इनवेस्टमेण्ट (टीटीआईपी) को ख़त्म करने की बात कर रहा है। यही नहीं वह मेक्सिको और कनाडा के साथ मुक्त व्यापार समझौते नॉर्थ अमेरिकन फ़्री ट्रेड एग्रीमेण्ट (नाफ़्टा) पर भी फिर से मोलभाव करने की बात कर रहा है। वह अमेरिकी कम्पनियों को दूसरे देशों में निवेश करने की बजाय अमेरिका में निवेश करने पर ज़ोर देने की भी बात कर रहा है। अपने चुनावी भाषणों में उसने दावा किया था कि वह एप्पल जैसी कम्पनी को कहेगा कि वह अपने कम्प्यूटर और आईफ़ोन चीन में बनाने की बजाय अमेरिका में बनाये ताकि अमेरिका के लोगों को रोज़गार मिल सके। उसने अमेरिका में चीनी उत्पादों के आयात पर 45 फ़ीसदी कर लगाने की भी बात की थी। ज़ाहिरा तौर पर ये वो जुमले थे जिनका इस्तेमाल ट्रम्प ने चुनाव जीतने के मक़सद से किया था। ख़ुद एक पूँजीपति होने के नाते ट्रम्प यह अच्छी तरह से जानता होगा कि अमेरिकी कम्पनियाँ विदेशों में निवेश इसलिए करती हैं क्योंकि उन्हें वहाँ सस्ता श्रम और कच्चा माल मिलता है जिससे उनका मुनाफ़ा बढ़ता है। ज़ाहिरा तौर पर अमेरिका का पूँजीपति वर्ग राष्ट्रप्रेम में इतना अन्धा नहीं हो जायेगा कि वह मुनाफ़े में कटौती करके अपनी कब्र ख़ुद ही खोदने की ग़लती करेगा। ऐसे मुद्दों पर ट्रम्प को वित्तीय महाप्रभुओं के सामने घुटने टेकने ही पड़ेंगे।

ट्रम्प एक ऐसे समय अमेरिका के राष्ट्रपति का पद सँभालने जा रहा है जब विश्व पूँजीवाद अपने अन्तकारी संकट से बिलबिला रहा है। ट्रम्प की नीतियों में ऐसा कुछ भी नहीं है जो इस संकट से छुटकारा दिला सकने में सक्षम हो। उस पर से तुर्रा यह कि अमेरिका में एक नयी मन्दी की भी सम्भावनाएँ जतायी जा रही हैं। ऐसे में ट्रम्प जैसे धूर-दक्षिणपन्थी व्यक्ति का अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर होने से नस्लीय नफ़रत व मुस्लिम-विरोधी दुष्प्रचार को बढ़ावा दिया जाना तय है। मन्दी की मार झेल रहा अमेरिका का पूँजीपति वर्ग ट्रम्प के ज़रिये दुनिया के विभिन्न हिस्सों को नये युद्धों की ओर झोंकने में कोई कसर नहीं छोड़ेगा ताकि उत्पादक शक्तियों को तबाह कर पूँजी के मुनाफ़े की नयी सम्भावनाओं के द्वार खुल सकें। जीत के बाद ट्रम्प ने पर्यावरण क़ानूनों को धता बताने और नाभिकीय होड़ को बढ़ावा देने के संकेत भी दिये हैं। स्पष्ट है कि आने वाले वर्ष समूची दुनिया में ज़बरदस्त तबाही, उथल-पुथल और भीषण रक्तपात के होने वाले हैं। ऐसे में बड़ा सवाल यह है कि क्या ये परिस्थितियाँ मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी उभार को जन्म देंगी। इस सवाल का जवाब भविष्य के गर्त में छिपा है।

फ़िलीपींस में दुतेर्ते परिघटना और उसके निहितार्थ

● तुहिन दास

पिछले साल दुनिया के विभिन्न हिस्सों में दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी राजनीति का उभार देखने में आया। अमेरिका में ट्रम्प का उभार, ब्रिटेन में बहुमत का यूरोपीय संघ से बाहर निकलने के पक्ष में वोट करना, फ़्रांस में मैरीन ली पेन की बढ़ती लोकप्रियता व जर्मनी में धुर-दक्षिणपन्थी पार्टी एएफ़डी का उभार इसी की बानगी थी। ऐसी ही एक परिघटना फ़िलीपींस में देखने में आयी जब पिछले साल 10 मई को फ़िलीपींस के राष्ट्रपति चुनाव में रोड्रिगो दुतेर्ते ने भारी बहुमत से जीत हासिल की। दुतेर्ते के राष्ट्रपति बनने से न सिर्फ़ फ़िलीपींस के राजनीतिक समीकरणों में बल्कि समूचे एशिया प्रशान्त क्षेत्र में अमेरिकी साम्राज्यवाद के दाँव-पेंच और दक्षिण चीन सागर के इलाक़े में अमेरिका व चीन के बीच चल रही अन्तर-साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा के पुराने सामरिक समीकरणों में बड़े बदलाव के आसार साफ़ नज़र आ रहे हैं। ऐसे में दुतेर्ते के उभार के सामाजिक-आर्थिक कारणों और साम्राज्यवादी समीकरणों में उसके निहितार्थों को समझना बेहद ज़रूरी हो जाता है।

कौन है रोड्रिगो दुतेर्ते?

पेशे से वकील रोड्रिगो दुतेर्ते राष्ट्रपति बनने से पहले फ़िलीपींस के मिंडानाओ द्वीप के दक्षिण में स्थित दवाओ शहर के महापौर और उप महापौर का पद सँभाल चुका था। 1986 में फ़र्डीनांड मार्कोस

की तानाशाही के पतन के बाद दुतेर्ते ने अपने राजनीतिक कॅरियर की शुरुआत दवाओ शहर से ही की थी। तब से लेकर अब तक अधिकांश समय में दवाओ शहर के प्रशासन की कमान दुतेर्ते और उसके परिवार के ही हाथों रही है। दवाओ में अपने कार्यकाल के दौरान दुतेर्ते अपने डेथ स्क्वाडों के ज़रिये नशीले पदार्थों की तस्करी करने वालों को निर्ममता से मरवाने के लिए कुख्यात था। राष्ट्रपति बनने के बाद उसने ये मुहिम पूरे फ़िलीपींस में छेड़ रखी है और अब तक इस मुहिम में 6000 से ज़्यादा लोग मारे जा चुके हैं। दुतेर्ते ने एक बेबाक, निर्णायक और सशक्त नेता के रूप में अपनी छवि बनायी है। हालाँकि नशीले पदार्थों की तस्करी के ख़िलाफ़ मुहिम में दुतेर्ते के अधिकांश शिकार ग़रीब व मेहनतकश पृष्ठभूमि के लोग रहे हैं, लेकिन मज़बूत नेता के रूप में उसकी छवि से उसे मध्यवर्ग और मज़दूर वर्ग के एक हिस्से का ज़बरदस्त समर्थन भी प्राप्त है। राष्ट्रपति बनने के बाद अमेरिका के ख़िलाफ़ अपने कई तीखे बयानों और चीन व रूस के प्रति नरम रवैया अपनाने की वजह से वह अक्सर अन्तरराष्ट्रीय मीडिया की सुर्ख़ियों में भी छाया रहता है। मीडिया के ज़रिये सनसनीखेज बयान देकर वह अपनी लोकप्रियता बढ़ाने में भी माहिर है। कभी वह ओबामा को भद्दी गाली देता है तो कभी यह आरोप लगाता है कि सीआईए उसकी हत्या करवाने की योजना बना रही है। वास्तव में वह फ़िलीपींस के बुर्जुआ वर्ग का ही प्रतिनिधि है, हालाँकि हर दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी की ही तरह तात्कालिक रूप से वह एक हद तक वर्ग से स्वायत्त प्रतीत होता है।

दुतेर्ते के राष्ट्रपति बनने के सामाजिक-आर्थिक कारण

दुतेर्ते जैसे दक्षिणपन्थी लोकरंजकतावादी व्यक्ति के फ़िलीपींस का राष्ट्रपति बनने के पीछे के सामाजिक-आर्थिक कारणों को जानने के लिए हमें वहाँ के हालिया इतिहास पर एक नज़र दौड़ानी होगी। 1986 में जनान्दोलन के दबाव में मार्कोस की तानाशाही के पतन के बाद फ़िलीपींस में बुर्जुआ लोकतन्त्र का औपचारिक ढाँचा तो पुनर्स्थापित हुआ लेकिन वहाँ की राजनीति और अर्थव्यवस्था में मुट्ठी भर प्रभुत्वशाली घरानों का दबदबा बना रहा। 1990 के दशक के बाद दुनिया के तमाम हिस्सों की तरह फ़िलीपींस में भी नवउदारवादी नीतियाँ लागू की गयीं जिनका नतीजा फ़िलीपींस में पहले से मौजूद आर्थिक असमानता की खाई के चौड़ा होने के रूप में देखने में आया। एक आँकड़े के अनुसार वर्ष 2011 में फ़िलीपींस के कुल सकल घरेलू उत्पाद के लगभग तीन चौथाई हिस्से का मालिकाना हक़ वहाँ के 40 सबसे अमीर घरानों का क़ब्ज़ा था।[1] इन घरानों का मालिकाना फ़िलीपींस के प्रमुख उद्योगों और कृषि-योग्य भूमि तक विस्तृत है। वहाँ की राजनीति में भी इन्हीं घरानों की दख़ल रही है। इन घरानों की अपनी निजी सेनाएँ हैं। वहाँ के चुनावों में बाहुबल और धनबल का धड़ल्ले से इस्तेमाल होता है।

पिछले 30 सालों में नवउदारवादी आर्थिक नीतियों और राजनीति में शासक घरानों के वर्चस्व की वजह से फ़िलीपींस की आम मेहनतकश आबादी ग़रीबी और बदहाली भरा जीवन बिताने मजबूर है। इन वर्षों में आर्थिक विकास की दर तो तेज़ रही लेकिन इस विकास का लाभ शासक

घरानों तक ही सीमित रहा। जहाँ मुट्ठी भर रईसों की विलासिता विकसित देशों के धनकुबेरों की विलासिता को टक्कर देती है वहीं आम लोग बड़ी मुश्किल से अपना जीवन-यापन कर पाते हैं। फ़िलीपींस के 'सोशल वेदर स्टेशन्स' के हालिया सर्वेक्षण के मुताबिक़ वहाँ ग़रीब परिवारों का अनुपात 46 प्रतिशत और कुपोषण के शिकार परिवारों का अनुपात 13 प्रतिशत है।[2] फ़िलीपींस के मेट्रो मनीला में दुनिया के सबसे ज़्यादा बेघर लोग रहते हैं। वहाँ का पूरा विकास राजधानी मनीला के कुछ समृद्ध इलाक़ों तक ही सीमित है। मनीला के विकसित इलाक़ों की तुलना में शेष फ़िलीपींस के अत्यन्त पिछड़ेपन के मद्देनज़र वहाँ के लोग उन विकसित इलाक़ों को व्यंग्यात्मक रूप से 'इम्पीरियल मनीला' बोलते हैं। इस 'इम्पीरियल मनीला' में ही लुज़ोन द्वीप का कुलीन तबक़ा विलासिता भरी ज़िन्दगी बिताता है।

भीषण आर्थिक असमानता और भयंकर क्षेत्रीय असन्तुलन और साथ ही साथ बढ़ते भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद एवं अपराध व तस्करी की वजह से फ़िलीपींस के आम लोगों में बड़े शासक घरानों के ख़िलाफ़ गुस्सा लम्बे समय से पक रहा था जिसका लाभ उठाने में दुतेर्ते क़ामयाब रहा। हालाँकि दुर्तेते ख़ुद एक धनी व राजनीतिक परिवार से आता है और उसने भी मिंडानाओ द्वीप में वंशवाद की राजनीति को ही बढ़ावा दिया, लेकिन अपने चुनावी अभियान में वह ख़ुद को लुज़ोन द्वीप और 'इम्पीरियल मनीला' के बाहर का प्रस्तुत करके लोगों को यह यक़ीन दिलाया कि वह कुलीन घरानों की सत्ता को चुनौती देगा, बदलाव लाएगा और लूज़ॉन द्वीप और मनीला शहर के अलावा भी फ़िलीपींस के अन्य इलाक़ों को विकसित करेगा। दुतेर्ते की लोकरंजक और बेबाक शैली ने मध्यवर्ग के बड़े हिस्से को उसकी ओर आकर्षित किया जो कुलीन शासक घरानों की विलासिता और भ्रष्टाचार से तंग आ चुका था। ये वो परिस्थितियाँ थीं जिनमें दुतेर्ते को केन्द्रीय सत्ता तक पहुँचा।

दुतेर्ते के अब तक के कार्यकाल का लेखा-जोखा और भविष्य की सम्भावनाएँ

रोड्रिगो दुतेर्ते के फ़िलीपींस के राष्ट्रपति पद का कार्यकाल सँभाले छह महीने से ज़्यादा का समय बीत चुका है। इन छह महीनों में उसके शासन की रूपरेखा समझी जा सकती है। हालाँकि वह ख़ुद को एक "वामपन्थी" और फ़िलीपींस का पहला "समाजवादी" राष्ट्रपति कहता है और वह फ़िलीपींस की कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक महासचिव होसे मारिया सिसों का छात्र भी रह चुका है, लेकिन उसकी कैबिनेट के संघटन और पिछले छह महीने में उसकी नीतियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ख़ुद का वामपन्थी कहना उसके लिए महज़ एक जुमला है जिसका इस्तेमाल वह आम मेहनतकशों का समर्थन हासिल करने के लिए करता है। ग़ौरतलब है कि फ़िलीपींस में पूँजीवादी विकास के पर्याप्त प्रमाण होने के बावजूद फ़िलीपींस की कम्युनिस्ट पार्टी 1963 की जनरल लाइन से अभी तक चिपकी हुई और और फ़िलीपींस को अर्द्ध-सामन्ती अर्द्ध-औपनिवेशिक मानते हुए दुतेर्ते को राष्ट्रीय बुर्जुआ का प्रतिनिधि बताकर उसके साथ सहयोग की नीति अपना रही है। दुतेर्ते ने भी उसको तुष्ट करने के लिए अपने मन्त्रिमण्डल में तीन कैबनेट पद – श्रम, भूमि सुधार और

समाज कल्याण - वामपन्थियों को दिये हैं और शान्ति वार्ता की प्रक्रिया भी शुरू की है। लेकिन ग़ौर करने वाली बात यह है कि दुतेर्ते ने प्रमुख आर्थिक मन्त्रालय घोर नवउदारवादियों को दिये हैं और अपने अब तक के कार्यकाल के दौरान उसने उन नवउदारवादी नीतियों का बदस्तूर जारी रखा है जिनकी वजह से फ़िलीपींस में आम लोगों की ज़िन्दगी नरक जैसी बन गयी है।

फ़िलीपींस की कम्युनिस्ट पार्टी यह उम्मीद बाँधे बैठी थी कि दुतेर्ते स्टील जैसे बुनियादी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके और छोटे व मंझोले उद्योगों को बढ़ावा देकर राष्ट्रीय उद्योगीकरण की दिशा में क़दम उठायेगा। लेकिन दुतेर्ते ने अब तक के अपने कार्यकाल में यह स्पष्ट कर दिया है कि उसका ऐसा कोई इरादा नहीं है और उसने फ़िलीपिनो लोगों के सस्ते श्रम को निचोड़ने की खुली आज़ादी का लालच देते हुए विदेशी निवेश आकर्षिक करने की पुरानी सरकार की नीतियों का बदस्तूर जारी रखा है। ग़ौरतलब है कि फ़िलीपींस भी भारत की ही तरह बिज़नेस प्रॉसेस आउटसोर्सिंग (बीपीओ) का एक गढ़ है जहाँ अमेरिकी और यूरोपीय कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर अपने बिज़नेस के एक हिस्से (मिसाल के लिए कॉल सेंटर, ट्रांसक्रिप्शन आदि) को आउटसोर्स करती हैं।

दुतेर्ते सरकार मज़दूरों की मज़दूरी बढ़ाने और ठेकाकरण ख़त्म करने के अपने वायदे से भी पलटती नज़र आ रही है। इसके अतिरिक्त रियल एस्टेट और एग्रीबिज़नेस कम्पनियों के दबाव में सरकार कृषि-योग्य भूमि के किसी अन्य इस्तेमाल पर रोक की किसानों की माँग की भी अनदेखी कर रही है। अवरचनागत (इंफ्रास्ट्रक्चर) विकास के लिए दुतेर्ते सरकार ने भी अपने पूर्ववर्ती सरकारों की ही तरह पब्लिक-प्राइवेट पार्टनरशिप का रास्ता अपनाकर सार्वजनिक कोष से सब्सिडी देकर पूँजीपतियों का मुनाफ़ा बढ़ाने की नीति को जारी रखा है। यही नहीं आयकर, एस्टेट कर, कैपिटल गेन्स कर, ट्रांजैक्शन कर जैसे प्रत्यक्ष करों को कम करने और वैट जैसे अप्रत्यक्ष कर को बढ़ाने की जो नवउदारवादी कर नीतियाँ दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बुर्जुआ शासकों द्वारा लागू की जा रही हैं उन्हीं को दुतेर्ते सरकार भी लागू कर रही है।

विदेश नीति के मामले में हालाँकि दुतेर्तो ने अमेरिका के ख़िलाफ़ कुछ तीखे बयान ज़रूर दिये (उसने अमेरिका के साथ सैन्य समझौते को रद्द करने और दक्षिण चीन सागर में अमेरिका की सैन्य चौकी तक हटाने तक की धमकी दी) और चीन व रूस की ओर मित्रता का हाथ भी बढ़ाया, लेकिन समय बीतने के साथ ही साथ यह स्पष्ट होता जा रहा है कि दुतेर्ते का अमेरिका से सम्बन्ध-विच्छेद का कोई इरादा नहीं है। दरअसल दुतेर्ते दक्षिण चीन सागर में फ़िलीपींस की भू-सामरिक स्थिति (फ़िलीपींस) और अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा का लाभ उठाकर फ़िलीपींस के आर्थिक और सामरिक विकल्पों को विस्तारित करने की फ़िलीपींस के बुर्जुआ वर्ग की आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति दे रहा है। जहाँ एक ओर वह चीन से क़रीबी बढ़ा रहा है, वहीं दूसरी ओर वह अमेरिका से पूरी तरह रिश्ता नहीं तोड़ रहा है। चीन अपनी महत्वाकांक्षी योजना 'वन बेल्ट वन रोड' के तहत यूरेशिया और अफ्रीका के 60 देशों को सड़कों, तीव्र गति की रेलों, फ़ाइबर ऑप्टिक लाइनों, ट्रांसकॉन्टिनेंटल सबमरीन ऑप्टिकल केबल प्रोज़ेक्टों और सैटेलाइट इन्फ़ॉर्मेशन पासवेज़ के ज़रिये जोड़ना चाहता है। दुतेर्ते फ़िलीपींस के विभिन्न द्वीपों और शहरों को जोड़ने के लिए इस योजना के तहत चीनी निवेश फ़िलीपींस की ओर आकर्षित करना चाहता है।

इसी मक़सद से उसने हाल ही में चीन की यात्रा भी की जिस दौरान वह फ़िलीपींस में 24 अरब डॉलर का चीनी निवेश आकर्षित करने में सफल भी रहा। चीन के प्रति नरम रुख़ अख़्तियार करते हुए दुतेर्ते ने दक्षिण चीन सागर में एक अन्तरराष्ट्रीय ट्राइब्यूनल के फ़ैसले को न मानने के चीन के फ़ैसले के ख़िलाफ़ कोई अपील नहीं करने का फ़ैसला किया। ग़ौरतलब है कि अन्तरराष्ट्रीय ट्राइब्यूनल में यह विवादित मामला फ़िलीपींस की ही पुरानी सरकार ले गयी थी।

हालाँकि सैन्य मामलों में लेकिन साथ ही दुतेर्ते अमेरिका द्वारा प्रस्तावित ट्रांस-पैसिफ़िक पार्टनरशिप (टीपीपी) नामक मुक्त व्यापार समझौते की ओर भी दिलचस्पी दिखा रहा है जिसमें चीन को छोड़कर एशिया-प्रशान्त क्षेत्र के सभी देश शामिल होंगे। इस समझौते की एक प्रमुख शर्त यह है कि इसमें शामिल सभी देशों को अपने यहाँ के उद्योगों में पूर्ण विदेशी स्वामित्व की मंज़ूरी देनी होगी। इसके लिए फ़िलीपींस के संविधान में संशोधन करना होगा। दुतेर्ते ने हाल ही में इस संविधान संशोधन के लिए एक कमेटी का गठन किया है। अमेरिका का अलावा दुतेर्ते जापान से भी सम्बन्ध बरक़रार रखना चाहता है। इसी मक़सद से उसने चीन के बाद जापान की भी यात्रा की। यही नहीं वह यूरोप के देशों के साथ मुक्त व्यापार समझौतों पर भी हस्ताक्षर करने की भी पहल की है।

स्पष्ट है कि दुतेर्ते भले ही स्वयं को वर्गों को बुर्जुआ वर्ग के हितों का ही प्रतिनिधित्व कर रहा है। नवउदारवादी नीतियों को लागू करने के लिए जिस निरंकुशता की ज़रूरत होती है वह दुतेर्ते में कूट-कूट कर भरी हुई है। उसकी कोशिशों के नतीजे के रूप में फ़िलीपींस में भले ही विदेशी पूँजी निवेश को बढ़ावा मिलेगा, लेकिन उसका फ़ायदा वहाँ के रईसों को ही होने वाला है और फ़िलीपींस की आम मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी की मुश्किलें बरक़रार रहेंगी क्योंकि नवउदारवादी नीतियाँ रोज़गारविहीन विकास ही दे सकती हैं, जिसके फलस्वरूप असमानता की खाई का चौड़ा होना और जारी रहेगा। । हाँ यह ज़रूर है कि फ़िलीपींस के इतिहास में पहली बार अमेरिकी साम्राज्यवादियों पर पूर्ण निर्भरता की बजाय फ़िलीपींस के भू-सामरिक स्थिति का लाभ उठाकर वह अमेरिका और चीन दोनों से मोलतोल करने की दिशा में आगे बढ़ेगा। देखना यह है कि अमेरिका में ट्रम्प के सत्ता में आने के बाद एशिया-प्रशान्त क्षेत्र में आए इस बड़े बदलाव और से इस इलाक़े पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इतना तो तय है कि दक्षिण चीन सागर में अमेरिकी व चीनी साम्राज्यवादियों के बीच जारी प्रतिस्पर्द्धा और तेज़ होगी जिससे वहाँ तनाव व अस्थिरता का माहौल भी पैदा होगा जिसका दुष्परिणाम फ़िलीपींस की आम आबादी को ही झेलना होगा।

सन्दर्भ सूची

1. https://business.inquirer.net/110413/philippines-elite-swallow-countrys-new-wealth

2. http://www.bworldonline.com/content.php?section=TopStory&title=poverty-statistics-at-multi-year-lows&id=128159

The Anvil

A Journal of Marxist Theory

We are living in a challenging time pregnant with unlimited possibilities. The unprecedented structural crisis plagues the world capitalist system and the caterwaul of 'End of History' has fallen silent. The crisis has led to the rise of different forms of bourgeois reaction, including Fascism, in a number of countries. However, the last decade has also been witness to revival of popular anti-capitalist movement and working class movement. The lull that had gripped working class movement is coming to an end. Nevertheless, the working class movements are scattered, spontaneous and in want of a revolutionary political leadership. The crisis of capitalist system is matched by the crisis of the working class movement. The latter is constituted by the unresolved questions facing the revolutionary communist movement. In such a scenario, 'The Anvil' presents a humble and modest initiative in the direction of responding to the ideological and political challenges of the movement, of problematizing the axiomatic and intuitive notions hindering the path of creative and critical thinking, of posing the right questions and initiating a fruitful debate among revolutionary communists.

Issue Number 1 • January 2007

In the First Issue...

— Naxalbari and Subsequest Four Decades: A Retrospection

— Resistible Rise of Fascism and the Challenges of the Working Class Movement

— Hands off Lenin: 'Patnaik Conjuncture' and the Travesty of Leninism

— Lessons for the Saner Segments Who Wish to Inhabit the Margins Forever

— Demonetisation and the Indian Left

— Kashmir: A Tragic Tale of the Betrayal of the Indian State

— Palestinian Liberation Struggle: Contradictions Within

Price: Rs. 100 Only

To buy the first issue, contact:

Janchetna, D-68, Nirala Nagar, Lucknow-226020

Phone: 0522-2786782, 8853093555,

Email: info@janchetnabooks.org

हिन्दी जगत के पाठकों के लिए एक बेहद ज़रूरी नयी पत्रिका

नान्दीपाठ

मीडिया, संस्कृति और समाज पर केन्द्रित

पिछले 25 वर्षों के दौरान, हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में जो बदलाव आये हैं, और इनमें जनसंचार माध्यमों, ख़ासकर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और 'नये मीडिया' का जो योगदान है, उस पर काफ़ी चर्चा होती रही है। सहमति और "असहमति" मैन्युफ़ैक्चर करने और विचार-निर्मिति के लिए शासक वर्गों के हाथों में यह एक बेहद प्रभावी हथियार है और इसकी प्रभाविता तथा पहुँच आज पहले से कई गुना बढ़ चुकी है। समाज के बौद्धिक तत्वों और उन्नत मस्तिष्कों को प्रभावित और अनुकूलित करने में इण्टरनेट-आधारित माध्यम बेहद कारगर साबित हो रहे हैं।

मीडिया की वैचारिकी पर आज काफ़ी काम हो रहा है, मार्क्सवादी दृष्टि से भी और 'उत्तर' सरणियों से पैदा हुई दृष्टि से भी। उन सभी की विवेचनाओं में जाना भी ज़रूरी है।

इस परिदृश्य में एक वैकल्पिक मीडिया खड़ा करने की ज़रूरत और चुनौतियाँ पहले से कहीं ज़्यादा हैं। लेकिन यह भी सच है कि सामाजिक परिवर्तन की परियोजनाओं के एक अंग के तौर पर वैकल्पिक मीडिया का ताना-बाना खड़ा करने की व्यापक सम्भावनाएँ भी आज मौजूद हैं। इस दृष्टि से नये मीडिया की नयी सम्भावनाओं के अन्वेषण और उपयोग के साथ ही इसकी सीमाओं-समस्याओं को भी विचार के दायरे में लाना होगा।...

हिन्दी में सुनिश्चित लक्ष्य पर केन्द्रित ऐसी एक विशिष्ट पत्रिका की शिद्दत के साथ ज़रूरत महसूस होती रही है। इस ज़रूरत को पूरा करने की यह एक विनम्र कोशिश है।

अब तक प्रकाशित तीन अंकों की सामग्री की जानकारी
पत्रिका की वेबसाइट पर उपलब्ध है

सम्पादक: **कात्यायनी, सत्यम**

मूल्य: 40 रुपये

वार्षिक सदस्यता : 160 रुपये (डाक व्यय अतिरिक्त), त्रैमासिक

सम्पादकीय पता: **69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006**

ईमेल: **naandipath@gmail.com**, फोन: **9936650658 / 8853093555**

वेबसाइट: **http://naandipath.in** फेसबुक: **www.facebook.com/naandipath**

Disha Sandhan January-March 2017
RNI Title Code: UPHIN 43949

चाहे कोई सिद्धान्तकार (लेनिन) को ऐतिहासिक विश्लेषण के प्रमाण के नीचे दफ़्न कर देने की कितनी भी कोशिश करे, यह एक इन्सान है जो हमेशा इतिहास और हमारी ज़िन्दगियों के धरातल पर खड़ा होता है, चिरकालिक 'वर्तमान स्थिति' में। वह शान्त भाव से या आवेग के साथ बात करता जाता है। वह किसी सरल-सी चीज के बारे में बात करता जाता है: उसका क्रान्तिकारी व्यवहार, वर्ग संघर्ष का व्यवहार, इस बारे में कि वह कौन सी चीज़ है जो इतिहास पर कार्रवाई करने को सम्भव बनाती है...यह दिखाने के लिए नहीं कि क्रान्तियाँ अवश्यम्भावी होती हैं, बल्कि उन्हें हमारे अद्वितीय वर्तमान में सम्पन्न करने के लिए।

– लुई अल्थूसर